बँगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—५०

बँगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

लेखक

डा० सत्येन्द्र,

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश

प्रकाशकीय

भारत की देशी भाषाओं में बँगला का स्थान काफी ऊँचा है। वाङ्मय के विविध अगों की दृष्टि से वह अन्य कतिपय भाषाओं से आगे बढ़ी हुई है। जिसे चण्डीदास, माइकेल मधुसूदन दत्त, हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय, नवीनचन्द्र सेन और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महान् कवियों ने, गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्र-लाल राय जैसे श्रेष्ठ नाटककारों ने और बंकिमचन्द्र, शरच्चन्द्र, राखालदास जैसे लोकप्रिय उपन्यासकारों ने समलंकृत किया हो, उस वंग भाषा के साहित्य की सामान्य जानकारी प्राप्त करना राष्ट्रभाषा हिन्दी के पाठकों के लिए आवश्यक ही नहीं, वरन् लाभप्रद भी है। इसी उद्देश्य से हिन्दी-समिति की प्रकाशन-योजना के अंतर्गत यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है।

इसके रचयिता डा० सत्येन्द्र पिछले ३०-३२ वर्षो से हिन्दी की सेवा करते रहे हैं। आप उच्च कोटि के आलोचक और लोकवार्ता साहित्य के वैज्ञानिक अध्येता के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके है। इन विषयों की एक दर्जन से अधिक पुस्तकें आपने लिखी हैं। आपके लिखे हुए दस नाटक तथा एक दो कहानी-संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। आप बँगला साहित्य के प्रेमी, प्रशंसक एवं अच्छे जानकार हैं। अतः हमें आशा है कि आपकी इस रचना का हिन्दी जगत में समुचित प्रसार और समादर होगा।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति
उत्तर प्रदेश शासन

विषयसूची

भूमिका

हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश सरकार के निर्देशानुसार यह 'बँगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' लिखा गया है। इतने कम पृष्ठों में किसी भी भाषा के साहित्य का इतिहास नही लिखा जा सकता, केवल उसके इतिहास की एक रूपरेखा ही खड़ी की जा सकती है। यही बात इस पुस्तक में भी है। बँगला-साहित्य के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा मात्र इसमें मिल सकेगी। फिर भी लेखक ने यह प्रयत्न किया है कि वह रूपरेखा ऐसी हो कि साहित्य का मूल मर्म तो झलक ही उठे। यह सच है कि उसकी एक झलक ही मिल सकती है। हाँ, इस परिचय से बँगला भाषा के साहित्य के पठन-पाठन के लिए मन ललच सकता है। यदि ऐसा हो सका तो इस पुस्तक को लिखने का श्रम सफल समझा जा सकता है।

बँगला भाषा का साहित्य भारतीय भाषाओं मे एक समृद्धतम साहित्य है। उसकी देन विश्व साहित्य में भी नगण्य नहीं। उस सबकी ऊँचाई और गहराई को समझने के लिए पाठकों को मूल रचनाएँ ही पढ़नी पड़ेंगी। इस पुस्तक में केवल भावों की ऊँचाई-गहराई की ओर संकेत मात्र किया जा सका है।

इस इतिहास-लेखन में युगों का आश्रय नहीं लिया गया; प्रवृत्तियों का लिया गया है। हाँ, काल-क्रम से जो प्रवृत्ति पहले प्रस्तुत हुई है उसे पहले दिया गया है, और उस प्रवृत्ति का समस्त युग-व्यापी रूप एक स्थान पर ही दे दिया गया है। उपसंहार में अत्यन्त संक्षेप में कुछ विद्वानों द्वारा किये गये युग-विभाजन के आधार पर भी यह इतिहास एक प्रकार से दुहरा दिया गया है, पर जहाँ तक संभव हुआ है उसे ऐसे रूप में लिखा गया है कि दुहरावट प्रतीत नही होगी। अंत में परिशिष्ट में मंगल काव्यों की कुछ कथाएँ कुछ विस्तार से दे दी गयी हैं, इससे उनके संबंध में की गयी चर्चा समझने में सुविधा होगी।

इस पुस्तक को लिखने में यह चेष्टा तो की गयी है कि मूल ग्रंथों का आश्रय लिया जाय, पर किसी भी विशाल साहित्य का संक्षिप्त इतिहास मूल ग्रंथों से ही खड़ा नहीं किया जा सकता, विशेषतः तब जब कि उसके अच्छे-अच्छे प्रामाणिक इतिहास पहले से प्रस्तुत हों। तब उन इतिहासों की शरण में ही जाना पड़ता है। इस ग्रंथ में डा० दीनेशचन्द्र सेन, डा० सुकुमार सेन तथा श्री जे० सी० घोष इत्यादि के ग्रंथों और इतिहासों का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है। लेखक इन सभी इतिहासकारों का ऋणी है और इनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। डा० सुकुमार सेन की तो लेखक पर निजी कृपा है। डा० शशिभूषणदास गुप्त, अध्यक्ष, आधुनिक भारतीय भाषा तथा बँगला विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, तो लेखक को अपने परिवार का समझते हैं। उन्होंने उचित परामर्श देकर इसके कितने ही दोषों का प्रक्षालन करने की कृपा की है। उन्हें तो धन्यवाद देते या उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते भी लेखक को बहुत संकोच होता है।

आशा है, यह छोटी पुस्तक हिन्दी जगत् को उपयोगी सिद्ध होगी।

—–लेखक

अध्याय १

बंगला भाषा

बंगाल देश तथा जन

बंगाली या बँगला बंगाल की भाषा है। बंगाल शब्द की व्युत्पत्ति पर कई मत हैं। एक मत के अनुसार यह 'वंग' से व्युत्पन्न है। 'वंग' के संबंध में हुए अनुसंधान से विदित होता है कि यह शब्द वेद-संहिताओं में नहीं मिलता। संभवतः ऐतरेय ब्राह्मण में मागधों के साथ वंग जाति का उल्लेख वैदिक साहित्य में पहला उल्लेख है। एक सिंहली प्रमाण से विदित होता है कि वंग का राजा विजयसिंह पूर्व-बुद्ध युग में सिंहल पर चढ़कर गया था और उसे अधीन किया था। आर्य-धर्मशास्त्रों में से छठी शताब्दी ईसवी-पूर्व लगभग के धर्मशास्त्र बौधायन ने भी वंग का उल्लेख किया है। उसे बहुत ही अपवित्र देश माना गया है। उधर चीनी प्रमाण से विदित होता है कि भारत के बौंगलौंग प्रदेश के नाग वंश के लुक-लोम ने अन्नाम में राज्य स्थापित किया था। यह "बौंगलौंग" ही तो 'बांगला' है, जिससे बंगाल व्युत्पन्न हुआ है। बौंग लौंग का अर्थ होता है 'बौंग' जाति का देश। बौंग या बंग जाति के वंशजों ने अन्नाम में ईसवी-पूर्व तीसरी शताब्दी तक राज्य किया था। फलतः यह स्पष्ट है कि 'बंग' ई० पू० १००० वर्ष के लगभग अपना अस्तित्व सिद्ध कर चुका है। बंग नामक प्रदेश था, और उसमें रहनेवाली बंग नाम की जाति थी।[1]

जनपदीय नृतत्त्व

इधर हुई खोजों से ज्ञात हुआ है कि बंगाली जन में चार जातियों के रक्त का मिश्रण है। नृतत्त्वविदों के अनुसार ये हैं—कोल, द्रविड़, मंगोल

1. The History of the Bengali Language—By Bijay Chandra Mazumdar, 1920 Edition.

तथा आर्य। इनमें भी द्रविड़ तत्व की सबसे अधिक प्रधानता है।[१] बंगाली भाषा में भी इन जातियों की भाषाओं के अवशेष या प्रभाव दिखाई पड़ जाते हैं। बंगाली में (Onomatopoetic) ध्वन्यनुकरणात्मक शब्दों का बाहुल्य कोल-द्रविड़ प्रभाव से आया है; बंगाली स्थानों के नामों तथा प्रत्ययों में द्रविड़ प्रभाव ही विशेष लक्षित होता है। पूर्वीय बंगालियों में मंगोली प्रवृत्ति के अवशेष हैं, पश्चिमी बंगालियों में द्रविड़ तत्त्व झलकते हैं। ये सभी तत्त्व बँगला की प्रमुख आर्य भाषा-प्रकृति में समाये हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बँगला भाषा प्रधानतः यूरोपीय शाखा की आर्य भाषा है।

1. Western, particularly South Western, Bengal seems always to have been predominantly Dravidian in population and to have had from ancient times an unbroken racial and linguistic affinity with Orissa, Andhra, and other Dravidian countries farther to the South—Bengali literature by J. C. Ghosh. 1948 Edition, Oxford Press.—P. I.

इस संबंध में श्री विजयचन्द्र मजूमदार ने कुछ रोचक तथ्य प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने बताया है कि जब हुएनत्सांग मुँगेर में था तो उसे बताया गया था कि राजा बलि के पुत्र थे अंग, बंग, पुंड्र, सुह्म तथा कलिंग। ये नाग-पूजक थे। इन्होंने ही प्राचीन तमिल ग्रंथों से इस प्रचलित परंपरा का उल्लेख किया है कि बंगाल से तथा अन्य उत्तरी भारत के प्रदेशों से नाग-पूजक जातियाँ दक्षिण को गयीं और तमिलकम देश में अपना आधिपत्य स्थापित किया। चेर लोग उत्तर-पश्चिमी बंगाल या बंगाल से गये और चेर राज्य स्थापित किया। मरन लोग भी उत्तरी भारत में चेर के पड़ोसी थे और वहाँ से ही दक्षिण में गये थे। पांड्य राजा मरन जाति के ही वंशज माने जाते हैं। पंगाल थिरइयार सबसे अन्तिम प्रवासी थे। ये बंगाल से नाव द्वारा दक्षिण को गये और इन्होंने कांची के चोल राज्य की स्थापना की। पंगाल स्पष्टतः बंगाल का ही रूपान्तर है। इस प्रकार से दक्षिण की प्रमुख द्रविड़ जातियों के मूल ही बंगाली-द्रविड़ प्रतीत होते हैं।

आज का बंगाल

आज का बंगाल वंग, पुंड्र, राढ और सुह्म से मिलकर बना है। वंग मूलतः आधुनिक ढाका और फरीदपुर का क्षेत्र कहलाता था। पुंड्र उत्तर मध्य भाग था, राढ पश्चिमी बंगाल का नाम था, सुह्म दक्षिण-पश्चिमी बंगाल था। पुंड्र और राढ से मिलकर आठवीं शताब्दी ईसवी का 'गौड़' देश बना था। गौड़ देश ने राजनीतिक महत्त्व प्राप्त कर लिया था, अतः बहुत समय तक बंगाल केवल गौड़ या 'गौड़-बंग' ही कहलाता रहा। यद्यपि 'बौंग-लौंग' के अन्नामी प्रमाण से और पंगाल के तमिली प्रमाण से 'बंगाला' शब्द ईसवी-पूर्व के युग में भी प्रचलित मिलता है, फिर भी बंगाला या बंगाल का आधुनिक नाम 'गौड़-वंग' के उपरान्त मुस्लिम शासन काल में प्रयोग में आया प्रतीत होता है। आधुनिक दृष्टि से बंगाल की राज-सत्ता का आरंभ ७वीं-८वीं शती से पाल वंश के राजाओं से माना जाता है।

बंगाली भाषा का आरंभ

बंगाली भाषा आर्य-परिवार की भाषा है। इसका जन्म मागधी अपभ्रंश से हुआ। अन्य आधुनिक देशी भाषाओं की भाँति बंगाली अपने रूप में १००० ई० के लगभग प्रतिष्ठित हुई होगी। 'बौद्ध गान ओ दोहा'[1] की भूमिका में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने सिद्धों की भाषा में बंगाली का अस्तित्व देखकर, उसे बँगला भाषा का ग्रंथ माना और बँगला के अस्तित्व को ८वीं शताब्दी में सिद्ध करने के लिए उसे प्रमाण माना। किन्तु इसी के संबंध में एक अन्य भाषा-वैज्ञानिक विजयचन्द्र मजूमदार का मत है कि —इस संग्रह की भाषा पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। एक तो यह पता नहीं कि ये तिब्बती भाषा में कब लिये गये, इनकी भाषा का रूप खिचड़ी है, आधुनिक बंगाली रूप तक इसमें मिल जाते हैं। उनकी दृष्टि में बंगाली भाषा की आठवीं शताब्दी की प्रामाणिकता नहीं मानी जा सकती।[2]

१. 'बौद्ध गान ओ दोहा' में चर्या पद हैं।

२. देखिए 'द हिस्ट्री ऑव द बेंगाली लेंग्वेज', लेखक विजयचंद्र मजूमदार, १९२० का प्रकाशन, १३वाँ व्याख्यान, पृ० २४१.

इसके उपरांत १६वीं शताब्दी से बंगला के ग्रंथ निरंतर मिलते चले आते हैं। १६वीं शताब्दी से पूर्व का केवल एक ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मिलता है--यह है 'श्रीकृष्ण-कीर्तन।'[1]

फिर भी सोलहवीं शती में बँगला भाषा का जो रूप मिलता है, वह कुछ शताब्दी पूर्व अवश्य ढला होगा ; अन्य देशी भाषाओं के साथ रखकर देखने से १०वीं शताब्दी में बँगला भाषा के प्रतिष्ठित होने की बात समीचीन प्रतीत होती है।[2]

"What Pandit Shastri says, commands my respectful attention, but I fear that it is difficult to support the claim of antiquity that has been preferred for the nieratic effusions in question."

१. श्री जे० सी० घोष ने 'बेंगाली लिटरेचर' में लिखा है कि "१६वीं शती से पूर्व के केवल दो बंगाली हस्तलेख ही उपलब्ध हैं--"चर्या तथा श्रीकृष्ण कीर्तन" शेष सोलहवीं शती के हैं, और सामान्यतः तो सत्रहवीं और अठारहवीं के ही। (पृष्ठ २)

२. डा० सुकुमार सेन ने विशद विवेचन के उपरांत बताया है कि--

"The emergence of these New Indo-Aryan speeches was not all synchronized. But some of them, including Bengali, certainly originated by the middle of the Tenth century at the latest."—History of Bengali Literature. Published in Jan. 1960, पृ० ४

अध्याय २

(क)

आरंभ काल; सिद्ध-साहित्य

बँगला साहित्य के आरंभ काल की दो रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें से एक बँगला के बौद्ध युग की कृति मानी जा सकती है। यह है 'चर्याचर्यविनिश्चय' अथवा 'बौद्ध गान ओ दोहा'। सन् १९०७ में पं० हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल में इसका पता चला। 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से उन्होंने इसका संपादन किया। उनके मतानुसार ये गान और पद ८वीं से १३वीं शती के बीच लिखे गये।[1] इन्हें वे बंगाली भाषा के गान और पद मानते हैं,[2] और इन दोहों के कर्ताओं में प्रथम गण्य हैं 'लुई'। 'चर्याचर्यविनिश्चय' के अनुसार 'लुई' सब से पहले सिद्धाचार्य हैं।[3] तेंजूर[4] का एक सूचीपत्र प्रकाशित हुआ है जिसमें लुई को

१. खीष्टीय ८,९,१०,११,१२ शते एइ सकल बइगुलि लेखा हइयाछिल बला जाय (बौ० दो० पृ० ६)।

२. (क) आमार विश्वास, जाँरा एइ भाषा लिखियाछेन, ताँरा बांगाला ओ तन्निकटवर्ती देशेर लोक अनेके जे बांगाली छिलेन, ताहार प्रमाण ओ पाओया गियाछे। जदिओ अनेकेर भाषाय एकटु एकटु व्याकरणेर प्रभेद आछे, तथापि समस्तइ बांगाला बलिया बोध हय (वही, पृ० ६)।

(ख) हमारा विश्वास है कि जिन्होंने यह भाषा लिखी है वे बंगाल और उसके पास के देशों के लोग थे। इन लोगों में अनेकों बंगाली थे, इस बात के प्रमाण मिले हैं। यद्यपि अनेकों की भाषा में कुछ व्याकरण संबंधी भिन्नता मिलती है, फिर भी सभी भाषा बंगाली कही जायँगी।

३. चर्याचर्यविनिश्चयेर मते लुइ सर्वप्रथम सिद्धाचार्य (वही, पृ०१५)।

४. तिब्बत देश के लोगों ने जब बौद्ध धर्म अपनाया तब भारत के अनेक बौद्ध

बंगाल देश का बताया है।[1] लुई रचित एक ग्रंथ 'अभिसमय विभंग' है। उसकी रचना में दीपंकर श्रीज्ञान ने सहायता की थी। दीपंकर श्रीज्ञान १०३८ में विक्रमशीला के विहार से ५८ वर्ष की अवस्था में तिब्बत यात्रा के लिए गये थे।[2] श्री हरप्रसाद शास्त्रीजी के मत से ये राढ देश के थे। लुई सहजिया नाम के एक नये संप्रदाय के प्रवर्तक भी माने जाते हैं। ये सभी सिद्ध कहलाते हैं।[3] ८४ सिद्धों में भी लुईपा हैं। इनका एक प्रसिद्ध पद यह है--

एवं हिन्दू ग्रंथों के अनुवाद कराये। ये दो भागों में हैं ; जिसमें बुद्ध के वचन हैं वह 'कंजूर' कहलाता है, और शेष 'तेंजूर' (वही, पृ० ६ पाद-टिप्पणी)।

१. तेंजूरेर यतटुकु क्याटलाग बाहिर हइयाछे, ताहाते लेखा आछे, लुइ बांगाला देशेर लोक---।

२. (क) लुईयेर समय ठीक करिते हइले एइ कथा बलिलेइ यथेष्ट जे, ताँहार एक खानि ग्रन्थे दीपंकर श्रीज्ञान साहाय्य करियाछेन। से ग्रंथ खानिर नाम अभिसमय विभंग। दीपंकर श्रीज्ञान १०३८ साले विक्रमशिला विहार हइते ५८ वत्सर वयसे तिब्बत यात्रा करियाछिलेन। (लुई का काल पं० रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् ८३० के आसपास बताया है (हिं० सा० इ० पृ० ९) यही काल श्रीराहुल सांकृत्यायन जी ने लिखा है ('हिन्दी काव्यधारा' पृ० १३६)

(ख) लुई का समय निश्चय करने में एक बात यह कहना ही यथेष्ट है कि उनके एक ग्रंथ में दीपंकर श्रीज्ञान ने सहायता की थी। उस ग्रंथ का नाम था 'अभिसमय विभंग'। दीपंकर श्रीज्ञान ५८ वर्ष की अवस्था में १०३८ साल में विक्रमशिलि विहार से तिब्बत गये थे।

३. (क) जे तेत्रिश जनपदकर्त्तार नाम करिब, ताँहादेर प्रथमेइ लुईपादेर नाम करित[1] हय; कारण, तेंजूरे बांगाली बलियाइ ताँहार उल्लेख आछे। आमि स्थिर करियाछि जे, तिनि राढ़देशेर लोक छिलेन। तिनि एक नूतन संप्रदाय चालाइया जान, ताँहाके आदि सिद्धाचार्य बले। ताँहार सम्प्रदायेर लोक सकलेइ सिद्ध बलिया विख्यात छिलेन। तिनि जे बांगाली, से विषये कोन सन्देह नाइ। (बौ० दो० पृ० २१)

काआ तरुवर पंच विडाल
चंचल चीअ पईठो काल,
दिढ करिअ महासुह परिमाण
लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण,
सअल समाहिअ काहि करिअइ
सुख दुखेतें निचित मरि आइ,
एड़ि एउ छान्दक बान्ध करणक पाटेर आस
शुनुपाख भिति लाहुरे पास,
भणइ लुइ आम्हे साणे दिठा
घमण चमण वेणि पण्डि बइठा।[1] (पत्रांक १)

किन्तु कालक्रम की दृष्टि से सरह, सरहपा, सरहपाद, सरोज वज्र या सरोरुह वज्र प्रथम सिद्ध हैं।[2] डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने इनका काल विक्रम संवत् ६९० निश्चित किया है।[3] किन्तु श्री राहुल सांकृत्यायन ने इनका समय ७६० ई० माना है।

(ख) जिन तेंतीस पदकर्ताओं का नाम है उनमें से सबसे पहले लुईपाद का नाम उल्लेख करना होगा, क्योंकि तेंजूर में बंगाली कहकर ही इनका उल्लेख हुआ है। मेरा विश्वास है कि ये राढ देश के मनुष्य थे। इन्होंने एक नवीन सम्प्रदाय चलाया, जिसके ये आदि सिद्धाचार्य कहे गये। इनके सम्प्रदाय के सब लोग 'सिद्ध' नाम से विख्यात थे। ये बंगाली थे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

**१. काया तरुवर की पाँच शाखाएँ,
चंचल चील्ह रूपी काल बैठा है,
महासुख का परिमाण दृढ़ करो,
लुई कहता है, इसके लिए, गुरु से ज्ञान पूछो।**

२. श्री हरप्रसाद शास्त्री ने पद्म, पद्म वज्र, राहुल भद्र नाम भी दिये हैं। (वही, पृ० २१)

३. यही काल पं० रामचन्द्र शुक्ल ने स्वीकार किया है। दे० 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० २०१४), पृ० ८।

शास्त्रीजी ने सरह का यह उदाहरण दिया है—

अपणे रचि रचि भव निर्वाणा
मिछें लोअ बँधाबंए आपना,
अन्ते न जाणहुँ अचिन्त जोइ
जाम मरण भव कइसण होइ,
जइसो जाम मरण वि तइसो
जीवन्ते मअलें नाहि विशेसो,
जा एखु जाम मरणे बि सन्धा
सो करउ रस रसानेरे कंखा
(बौद्धगान ओ दोहा, पद कर्त्तादिर परिचय, पृ० २७)
जो सचराचरे तिअस भमन्ति
ते अजरामर किमपि न होन्ति,
जामे काम कि कामे जाम
सरह भणई अचिन्त सो धाम।
...आदि, (हि० का० धा० पृ० १६)

इनकी ये कृतियाँ प्रसिद्ध हैं—काय-कोष-अमृत वज्र गीति, चित्त कोष-अज-वज्रगीति, डाकिनी-गुह्य वज्रगीति, दोहाकोष-उपदेश गीति, दोहाकोष, तत्त्वोपदेश-शिखर-दोहाकोष, भावना-फल-दृष्टिचर्या—दोहाकोष, वसन्ततिलक-दोहाकोष, चर्यागीति-दोहाकोष, महामुद्रोपदेश-दोहाकोष, सरह पाद गीतिका।[१] सिद्ध संप्रदाय के सभी सिद्धान्तों का उल्लेख इनकी रचनाओं में मिलता है। सहज संप्रदाय के अतिरिक्त अन्य समस्त संप्रदायों का खंडन[२], सहज की व्याख्या[३], गुरु का महत्त्व[४], महासुख का स्वरूप[५], रहस्यवाद[६], जाति-पाँतिखंडन,[७]

१. राहुल सांकृत्यायन-रचित 'हिन्दी काव्य-धारा' पृ० २-३।

२. बम्हणहि म जाणन्त हि भेउ। एंवइ पढ़िअउ ए चउबेउ।
एक दण्डि त्रिदण्डी भअवाँ वेसें। ...आदि (वही, पृ० ४)

३. जल्लइ मरइ उबज्जइ बज्झइ। तल्लइ परम महासुह सिज्झइ।

कमल-कुलिश[1] आदि विशिष्ट वाममार्गी पारिभाषिक तत्त्वों का वर्णन। ये सभी पूर्णरूप से व्याख्या सहित प्रस्तुत किये गये हैं।

इसी प्रकार इन सिद्धों में शान्तिदेव का व्यक्तित्व और कृतित्व भी विशेष आकर्षक है। ये भूसुक या भूसुक पाद भी कहे जाते हैं। इनके सिद्ध बनने की कहानी भी अत्यन्त रोचक है। ये युवराज थे। माँ की प्रेरणा से सिद्ध बने। अपने गुरु मंजुवज्र के आदेश से ये मगध के राजा के रावत या प्रधान सेनापति बन गये। इनके पास काठ की तलवार रहती थी, उसे ये किसी को दिखाते नहीं थे। कुछ विद्वेषियों के भड़काने से राजा ने उसे देखने का हठ किया। यद्यपि इन्होंने राजा की आँखें बँधवा दी थीं, फिर भी तलवार निकालने पर उसकी चमक से एक आँख चली गयी। इन्होंने उस तलवार को तोड़ डाला और राज्य छोड़कर नालन्दा जा पहुँचे। वहीं ये पूर्ण सिद्ध हुए और भूसुकपा भी कहलाये। पं० हरप्रसाद शास्त्रीजी ने 'मुखबंध' में यह उल्लेख करके भी आगे यह लिखा है कि हमारे भूसुक सिद्ध यही शान्तिदेव

सरहे गहण गुहिर मग कहिआ। पसू-लोअ निव्वहि जिम रहिआ।
आदि, (वही, पृ० ६)।

४. गुरु उबएसे अमिअ-रसु, धाव ण पीअउ जेहि।
बहु-सत्थत्थ-मरुत्थलहि, तिसिउ मरिअए तेहि। (वही, पृ० ८)

५. जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि बढ़!! चित्त बिसाम करु, सरहें कहिअ उएस।
आइ ण अन्त ण मज्झ णउ, णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण। (वही, पृ० ६)

६. सङ्कप्पास तोडहु गुरु-त अड़े। ण सुनइ सो णउ दीसइ णअणें।
पवण वहन्ते णउ सो हल्लइ। जलण जलन्ते णउ सो उज्झइ। (वही, पृ० २)

७. जब्बे मण अत्थमण जाइ, तणु तुट्टइ वंधण।
तब्बे समरस सहजे, बज्जइ सुद्द ण बम्हण। (वही, पृ० ८)

१. कमल-कुलिस वे बि मज्झ ठिउ, जो सो सुरअ-विलास।
को न रमइ णह तिहुअर्णाहि, कस्स ण पूरइ आस। (वही, पृ० १४)

थे या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इन्होंने लुई का समय ९५० से १०५० के बीच माना है। लुई को प्रथम सिद्धाचार्य मानकर ये भूसुक को उनके बाद का मानते हैं, पर शान्तिदेव 'भूसुक' इस काल से बहुत पूर्व हुए थे। जिन शान्तिदेव को बोधिचर्यावतार का कर्ता माना गया है, उनके चरितकार ने उन्हें राउतु ओ भूसुकु बताया है। इनका रचनाकाल ६४८ से ८१६ ई० के बीच है। यही मंजुवज्र के शिष्य थे और मगध तथा नालन्दा में भी रहे थे। शास्त्रीजी कहते हैं कि उनके भूसुक लुई के उपरान्त हुए। हो सकता है, शान्तिदेव कई हुए हों और वे लुई से पूर्व हुए हों। किन्तु शास्त्री जी के बाद के विद्वानों की परीक्षा से लुई प्रथम सिद्ध नहीं ठहरते, सरह प्रथम हैं और उनका काल, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, ७वीं शती है। उस क्रम से मंजुवज्र-शिष्य शान्तिदेव और ये भूसुक एक हो सकते हैं। तारानाथ ने इन्हें सौराष्ट्र का माना है। शास्त्रीजी ने भूसुक के ही एक पद के प्रसंग के आधार पर इन्हें बंगाली माना है, वह पद है--

राज नाव पाड़ी पंउआ खालें वाहिउ
अदअ बंगाले क्लेश लुड़िउ,
आजि भूशू बंगाली भइली
निअ घरिणी चंडाली लेली,
उहि जो पंच घाट....... ।

इसमें आये बंगाली शब्द के आधार पर इन्हें शास्त्री जी ने बंगाली माना है। स्वयं शास्त्रीजी ने बताया है कि 'सहज मत' के तीन पथ हैं--'अवधूती, चंडाली, डोम्बी वा बंगाली।' अवधूती द्वैत ज्ञान पर निर्भर है। चंडाली में द्वैत ज्ञान है या नहीं, ऐसा नहीं कहा गया। डोम्बी केवल अद्वैतवादी है। और स्वयं उन्होंने अर्थ में बताया है कि "ग्रंथकार इस स्थान पर कहता है-- रे भुषा, तुम्हारी निज गृहिणी जो अवधूती थी, उसे चंडाली कर लिया है। इस प्रकार तुम सचमुच बंगाली हो गये अर्थात् पूर्ण अद्वैत हो गये।" स्पष्ट है कि इस पद में आये बंगाली शब्द से ही ये बंगाली अर्थात् बंगाल प्रदेशी नहीं माने जा सकते। 'आजि' शब्द स्वयं यह संकेत करता है कि पहले ये कुछ और थे। अस्तु, ये भूसुक शान्तिदेव हो सकते हैं। भले ही ये किसी

अन्य प्रदेश के हों, पर मगध और नालंदा में रहे अतः अन्य सिद्धों की भाँति इन्हें भी बंगाली माना जा सकता है।

चौरासी सिद्धों का बहुत-सा साहित्य आज उपलब्ध है। इन सिद्धों में भारत के विभिन्न भागों के व्यक्ति थे। अतः इन गानों और दोहों में ८वीं से १३वीं शती के मध्य की विविध जनपदीय भाषाओं के रूप विद्यमान मिलते हैं। इस दृष्टि से भले ही इस संबंध में विवाद बना रहे कि कौन-सा सिद्ध किस भाषा का है, अथवा एक ही सिद्ध को भले ही विविध भाषाभाषी अपनी-अपनी ओर खींचते रहें, पर इसमें संदेह नहीं कि इन सभी में उन भाषाओं के कुछ-न-कुछ तत्त्व अवश्य विद्यमान हैं, जिन (भाषाओं) का उन्हें बताया जाता है। उदाहरणार्थ सरह के ये शब्द——

"जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि बढ़!! चित्त विसाम करु, सरह कहिअ उएस!"

इसे हिन्दीवाले स्पष्ट रूप से अपनी भाषा का पूर्व रूप बता सकते हैं, और इसमें किंचित् ही संशोधन से इसे सूर-तुलसी युग की हिन्दी में परिणत किया जा सकता है——

जहँ मन पवन न संचरै, रवि ससि नाहिं प्रवेश।
तहिं मूढ़! चित विस्राम करु, सरह कहै उपदेश।

'ण' का 'न', 'अइ' का 'ऐ' कर देने से ही यह रूप-सिद्ध हो गया है। समस्त शब्दावली हिन्दी की है, समस्त क्रियारूप हिन्दी के हैं। फिर भी यदि शास्त्री-जी यह कहें कि "सरह पादेर गीति बांगाला, दोहाओ बांगाला, गाथाओ जे बंगाला हइवे, से विषये सन्देह नाइ"[1], तो उन्हें उस युग में बंगाली भाषा का भी सिद्ध मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। भले ही विद्वानों को यह आपत्ति हो कि इनकी भाषा का आज जो रूप मिलता है वह प्रामाणिक नहीं, फिर भी इसी युग की अन्य कृतियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में विद्यमान ऐसी रचनाओं में विविध भाषाओं के आरंभिक रूप थे, अतः बंगाली भाषा के साहित्य के अन्तर्गत इनको स्थान देना असमीचीन नहीं।

१. बौद्ध दोहा० पृ० ५४

सहजिया संप्रदाय

इन सिद्धों ने जिस संप्रदाय का प्रवर्तन किया वह सहजिया संप्रदाय है। यह संप्रदाय बंगाल में इन सिद्धों के युग से आज तक किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहा है। इसने कितने ही रूपों में बंगाली साहित्य को प्रभावित किया है। यह कहा जाता है कि 'कह्णपा' सिद्ध ने सबसे पहले १०वीं शताब्दी के लगभग 'चर्यापद' में सहजिया गीत लिखे। चर्यापद सहजिया संप्रदाय का प्रधान ग्रंथ है। बोधि-चर्यावतार भी एक ऐसा ही ग्रंथ है। फलतः यह कहा जा सकता है कि ७वीं शती से १०वीं शती तक 'सहज' पर निर्भर सहजिया संप्रदाय इन बौद्ध सिद्धों में परिपुष्ट होता रहा। तंत्र के वामाचार से इसका घनिष्ठ संबंध हो गया, सहजिया संप्रदाय में वामाचार की प्रधानता के कारण इसमें परकीया-प्रेम और तांत्रिक विधि से स्त्री-पूजा को महत्त्व मिला। मूलतः जहाँ सहज मनोजगत् और आध्यात्मिक स्तर का तत्त्व था, तथा जहाँ प्रज्ञोपाय अथवा अद्वय साधना का संबंध भी योगाश्रित तंत्र से था, वहाँ सहजिया संप्रदाय में, जब 'सहज' एक संप्रदाय की वस्तु बन गया, साधना के अनुष्ठान का रूप स्थूल हो गया, तब इस सहज की साधना के लिए परकीया स्त्री की अपेक्षा होने लगी।

बौद्ध धर्म का लोप होने पर वैष्णव धर्म उभरा, और बौद्ध धर्म के अन्तिम ह्रास से उद्भूत यह सहजिया संप्रदाय, वैष्णव सहजिया संप्रदाय हो गया। इसका प्रथम प्रबल कवि चण्डीदास १४वीं शताब्दी में हुआ। चण्डीदास में हमें सहजिया संप्रदाय की प्रेम-साधना में कृष्ण-तत्त्व का आधार घुलता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है।

(ख)

नाथ, मनसा, चंडी तथा धर्म साहित्य की भूमिका

बँगला भाषा के बौद्ध प्रभाव से प्रभावित साहित्य की परंपरा का अवशेष नाथ, धर्म तथा अन्य लोक-संप्रदायों में भी मिलता है।

नाथ-संप्रदाय, मनसा-संप्रदाय, चंडी-संप्रदाय तथा धर्म-संप्रदाय लोक-संप्रदाय हैं। इन संप्रदायों के साहित्य के आरंभ में सृष्टि-रचना का उल्लेख

भी रहता है। यह उल्लेख मनसा, चंडी तथा धर्म विषयक मंगलों में तो प्रायः अनिवार्यतः पाया जाता है। नाथ-संप्रदाय में नाथों की उत्पत्ति के साथ सृष्टि-रचना का प्रसंग जुड़ा हुआ है। इन सभी संप्रदायों में सृष्टि रचना का विवरण आरंभिक रूप में एक-जैसा मिलता है। इन लोकधर्मी संप्रदायों ने जिस सृष्टि-रचना-क्रम को अपनाया है वह संस्कृत-परंपरा से भिन्न है। इनके साहित्य में यह सृष्टि-रचना का वर्णन आरंभिक भूमिका के रूप में माना जा सकता है। इस सृष्टि-क्रम को संक्षेप में यों दिया जा सकता है——

सबसे पहले घोर अंधकार से आवृत शून्य मात्र था। इस शून्य में ही एक बुदबुदा पैदा हुआ, यही एक अंड बन गया। इस अंड में से धर्म निकले। अंड के फूट जाने से विश्व में पानी ही पानी हो गया, उसी पर धर्म तैर रहे थे। धर्म ने एक गहरी साँस छोड़ी या जमुहाई ली। इसमें से उलूक का आविर्भाव हुआ। उलूक पर सवार होकर धर्म अनन्त में उड़ते फिरे, उड़ते फिरे। अन्ततः उन्होंने अपने शरीर पर जमी धूल थोड़ी-सी खुरची और पानी में डाल दी। यह धूल त्रिभुजी पृथ्वी बन गयी। धर्म निरंतर उड़ते रहने से थक गये थे, अब उन्होंने कुछ विश्राम किया। उनके पसीने की बूँद (या पसली की हड्डी) से आद्या शक्ति केतका का जन्म हुआ।

अब धर्म ने त्रिभुजी पृथ्वी के बीच में एक ओर बल्लुका नदी बनायी और उसके किनारे एक बरगद का पेड़ उगाया। धर्म केतका को छोड़कर तपस्या करने चले गये। उलूक उनके पीछे गया और नदी-किनारे के बरगद पर रहने लगा। इधर पति के वियोग से केतका पीड़ित हुई। पति-संसर्ग की प्रबल भावना से काम का जन्म हुआ। उसने काम को आदेश दिया कि वह जाकर बल्लुका के तट से उसके पति को लिवा लाये। काम धर्म के पास पहुँचा। इससे धर्म की तपस्या में विघ्न पड़ गया, काम की उत्तेजना से उनका वीर्य स्खलित हो गया। उलूक ने उसे एक मृत्-पात्र में इकट्ठा कर लिया। वह उसे लेकर केतका के पास पहुँचा और वह पात्र केतका को देकर कहा कि इसमें हलाहल भरा हुआ है, सावधानी से इसकी देखभाल करना। केतका को पति का वियोग अधिकाधिक असह्य हो उठा। आत्महत्या करके अपना अन्त कर डालने के लिए उसने उस पात्र में बताया हुआ हलाहल पी लिया।

उसे पी लेने से केतका गर्भवती हो गयी और उसके तीन पुत्रों का जन्म हुआ; उसके मुख से ब्रह्मा पैदा हुए, मस्तक से विष्णु ने जन्म लिया, शिव ही योनिज हुए। इन तीनों भाइयों ने माँ से पूछा कि माँ, पिताजी कहाँ हैं। माता के बताने पर तीनों भाई बल्लुका नदी की ओर चले। धर्म उन्हें आते देखकर लुप्त हो गये। पिता को वहाँ न पाकर तीनों भाई उनके लिए बल्लुका के तट पर तपस्या करने बैठ गये।

धर्म ने तीनों भाइयों की परीक्षा लेने का विचार किया। वे एक सड़ी-गली लाश के रूप में नदी में तैरते हुए ब्रह्मा के पास पहुँचे। ब्रह्मा दुर्गन्ध से घबड़ाये, उन्होंने उसे आगे धकेल दिया। विष्णु ने भी ऐसा ही किया। जब वह दुर्गन्धित शव शिव के पास पहुँचा तो उन्होंने जान लिया कि यह उनके पिता का ही शव है। उलूक ने शिव के मत की पुष्टि की। तीनों भाइयों ने शव-संस्कार करने का विचार किया, उलूक को भेजा गया कि वह चिता बनाने के लिए उपयुक्त स्थान देख आये। उलूक समस्त पृथ्वी का चक्कर लगाकर लौटा और बताया कि कहीं भी ऐसा स्थान शेष नहीं जिस पर पहले कुछ भी न जलाया गया हो। दक्षिणी समुद्रतट पर एक छोटा-सा भूमिखंड अवश्य ऐसा है, पर वह कलियुग में धर्म के अवतार के लिए सुरक्षित है। उलूक के परामर्श से धर्म का शिव की गोद में ही अग्निदाह किया गया। विष्णु ने चिता बनायी और ब्रह्मा ने अग्नि लगायी। इसके उपरांत तीनों देव सष्टि रचना में प्रवृत्त हुए।

सृष्टि-रचना की यह भूमिका नाथ, मनसा, चंडी तथा धर्मठाकुर साहित्य में प्रायः, सामान्यतः, समान रूप से मिलती है। इसके अनन्तर प्रत्येक मंगल काव्य या पांचाली ने इस सूत्र को अपने देवी-देवता से जोड़कर आगे अपने देवी-देवता के माहात्म्य का वर्णन किया है। धर्ममंगल के कवियों ने ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव तीनों की परीक्षा के उपरांत धर्म को प्रकट होता दिखाया है। धर्म-ठाकुर तीनों भाइयों को लेकर आद्या शक्ति के पास पहुँचा। आद्या शक्ति ने चंडी रूप में शिव से विवाह कर लिया।

मनसामंगल में आद्या शक्ति के चंडी रूप में शिव-पत्नी होने पर इसी चंडी से मनसा का झगड़ा हो पड़ा।

नाथ-सिद्ध

नाथ सिद्धों में सृष्टि-रचना की कथा उक्त वर्णन से आगे इस प्रकार बढ़ती है। धर्म[1] के शव की भस्म से पाँच आदि सिद्ध आविर्भूत हुए—

१. नाभि की भस्म से मीननाथ—मत्स्येन्द्रनाथ (हिन्दी के मच्छिन्दर), २. मस्तक से गोरक्षनाथ, ३. अस्थियों से हाड़ी पा—जालन्धरीनाथ, ४. कान की भस्म से कान्हा—कान-पा, ५. चरणों से चौरंगीनाथ।

मीननाथ

पाँचों नाथ शिव के अनुयायी थे। शिव के पास ही महाज्ञान था। शिव की पत्नी चंडी ने महाज्ञान को जानने के लिए हठ किया। महाज्ञान का ज्ञाता अमर हो जाता है। चंडी के हठ से विवश होकर शिव उन्हें महाज्ञान बताने को उद्यत हुए। उन्होंने एक अत्यन्त एकान्त स्थान चुना। मीननाथ उस स्थान पर पहले ही जा छिपे। शिव उस एकान्त में चंडी को महाज्ञान बताने लगे, पर धर्म के वाहन उलूक ने धर्मठाकुर को इस बात की सूचना दे दी कि चंडी ने जिद करके शिव को महाज्ञान बताने के लिए तैय्यार कर लिया है। धर्म ने उससे चंडी को वंचित रखने के लिए निद्राभिभूत कर दिया। शिव ने महाज्ञान बताना आरंभ किया तो चंडी हुंकारी भरती जाती थीं, पर बीच में ही वे सो गयीं; शिव को इस बात का पता नहीं चला। मीननाथ ने जान लिया और चंडी की भाँति स्वयं हुंकारी भरते रहे। इस प्रकार शिव पूरा महाज्ञान बता गये जिसे मीननाथ ने प्राप्त कर लिया। उधर शिव जब महाज्ञान बता चुके तो देवी की निद्रा टूटी और उन्होंने शिव से आगे बताने के लिए कहा। अब शिव ने जाना कि देवी तो सो गयी थीं और मीननाथ ने महाज्ञान सुन लिया है। इस पर शिव ने मीननाथ को शाप दिया कि वह घोर संकट के समय इस महाज्ञान को भूल जायगा।

चंडी ने पाँचों सिद्धों की परीक्षा ली। गोरख को छोड़, चारों सिद्ध काम के वशीभूत हो गये। इसी लिए मीननाथ को कामरूप के तिरियादेश में

१. नाथ सम्प्रदाय में धर्म के स्थान पर 'आदिनाथ' माने गये हैं।

स्त्रियों के चक्कर में फँसना पड़ा; जालंधरी नाथ को पाटिका की रानी मयनामती की घुड़साल में मेहतर का काम करना पड़ा। कान को डाहुका के पास जाना पड़ा। चौरंगी को अपनी सौतेली माँ के प्रेम में फँसना पड़ा।

चंडी ने गोरख की और परीक्षा लेने का निर्णय किया। इस बार भी चंडी को परास्त होना पड़ा। अब गोरखनाथ पृथ्वी-परिक्रमा को चल पड़े। एक दिन वे विजयनगर में वकुल वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे कि कान वहाँ आ पहुँचे। दोनों सिद्धों में झपट हो गयी। इस पर एक ने दूसरे को उसके गुरु की दुर्दशा की सूचना दी। गोरख ने कान को बताया कि तुम्हारे गुरु को मयनामती के पुत्र ने जिन्दा ही भूमि में गड़वा दिया है। कान ने गोरख को बताया कि तेरा गुरु मीननाथ स्त्रियों के विलास में पड़कर मृत्यु के मुख में जाने ही वाला है।

यह सुनते ही गोरखनाथ तिरियालोक को गये। तिरियालोक में कोई पुरुष या योगी नहीं जा सकता था। गोरखनाथ नर्तकी के रूप में नगर में गये। मीननाथ महाज्ञान भूल चुके थे, वे नर्तकी के वेष में गोरख को भी न पहचान सके। तब गोरख ने नृत्य के द्वारा ज्ञान का गीत गाकर मीननाथ को चेताया। मीननाथ को महाज्ञान पुनः लौट आया। वे स्त्रियों की माया से मुक्त हुए।

मयनामती

मयनामती पाटिका के राजा माणिकचन्द्र की रानी थी। वह जालंधरी-नाथ की शिष्या हो चुकी थी। वह अपने पति को भी जालंधरीनाथ का शिष्य बनाना चाहती थी, पर उसकी मृत्यु हो गयी। माँ ने अपने पुत्र गोविंदचन्द्र (गोपीचंद) से कहा कि यह जगत क्षणभंगुर है, तुम्हें तो राजपाट छोड़कर जालंधरीनाथ का शिष्य बनकर अमरता प्राप्त करनी चाहिए। जालंधरीनाथ के हाड़ी नाम से राजा गोपीचंद को चिढ़ लगी। राजा और मेहतर का शिष्य बने? माँ के बहुत कहने से आखिरकार गोपीचंद हाड़ीपा का शिष्य हो गया। उसे अद्भुत शक्तियाँ भी मिल गयीं। पर वह अपना विलासी जीवन नहीं छोड़ सका और अपनी शक्तियों से रानियों को तमाशे दिखाने लगा। जालंधरी-

नाथ ने उसकी शक्तियाँ हर लीं। इससे राजा रानियों के समक्ष हास्यास्पद बन गया। इस पर वह अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और उसने अपने गुरु को जिन्दा ही भूमि में गड़वा दिया।

तभी कान-पा को गोरख से गुरु की दशा का पता चला। वे बालयोगी बनकर गोपीचंद के सामने पहुँचे। अपने अद्भुत चमत्कारों से राजा को वशीभत करके कान ने भूमि-गर्भ में से जालंधरीनाथ को निकलवाया। जालंधरीनाथ ने राजा को देखना चाहा। कान-पा ने राजा की एक स्वर्ण-मूर्ति गुरु के समक्ष कर दी। जालंधरी नाथ की दृष्टि पड़ते ही वह मूर्ति भस्म हो गयी। ऐसा ही दो बार किया गया। आखिर नाथजी का क्रोध शान्त हो गया। राजा अब पूर्णतः उनकी शरण में आ गया। गुरु ने भी उसे पूर्ण दीक्षा दी और वह योगी बनकर और घर छोड़कर चल पड़ा। इसके उपरान्त इन्होंने कितने ही चमत्कारक कार्य किये।

यह स्पष्ट है कि नाथ-साहित्य में उक्त प्रकार की दो कथाएँ हैं। एक मीननाथ तथा गोरखनाथ-विषयक, दूसरी कथा है मयनामती और उसके पुत्र गोविंदचन्द्र की। पहली कथा पर कवीन्द्रनाथ दास की कृति 'मीनचेतन' और शेख फैजुल्ला की 'गोरख विजय' प्रसिद्ध हैं। मयनामती-गोविंदचन्द्र पर बँगला भाषा की सबसे पुरानी कृति, नेपाल में लिखा हुआ एक नाटक है। कवियों में दुर्लभ मल्लिक अठारहवीं शती के हैं और भवानीदास तथा शकूर महमद १९वीं के।

मनसा देवी; मनसा की उत्पत्ति

शिव के मन में कामोद्वेग हुआ, जिससे उनका वीर्य स्खलित होकर एक पद्म[1] या कमल में जा पड़ा। उसीसे पद्म में मनसा का जन्म हुआ। नागराज वासुकि की माँ ने उसका पालन-पोषण किया। बड़ी होने पर नागों ने उसे अपनी रानी मान लिया। एक दिन मनसा एक सरोवर में स्नान कर रही थी कि शिव की दृष्टि उस पर पड़ी। शिव उस पर मोहित हो गये।

१. मनसा का नाम 'पद्मा' भी है।

मनसा ने शिव को परिचय दिया कि वह तो उन्हीं की पुत्री है। तब उसने शिव के साथ घर चलने का हठ किया। शिव के साथ वह कैलास पर पहुँची। चंडी को उसका वहाँ रहना बुरा लगा। दोनों में झगड़ा हो गया। इस झगड़े में मनसा की एक आँख फूट गयी। शिव ने झगड़ा शान्त करने के लिए मनमा को घर से बहिष्कृत कर देने का निश्चय किया। वे उसे लेकर घर से निकल पड़े। एक घने जंगल में एक पहाड़ पर जाकर मनसा को नींद आ गयी। मनसा को वहीं सोती छोड़ शिवजी घर लौट आये। चलते समय अपनी पुत्री के लिए करुणा के भाव से एक अश्रु उनके नेत्रों से टपका। इससे 'नेता' नाम की स्त्री पैदा हो गयी। शिवजी ने उसे मनसा की सखी बनने को कहा। अपने पसीने से उन्होंने 'धामाई' को पैदा किया। इसे भी मनसा का रक्षक नियुक्त कर शिव लौट आये।

इधर सुर-लोक में बड़ा हा-हाकार मचा। कपिला गाय के एक बछड़ा पैदा हुआ। उसे पैदा होते ही भूख लगी। कपिला दूध दे नहीं सकी, तो बछड़े ने बल्लुका नदी का समस्त जल ही पी डाला। इसी नदी का जल देवताओं के काम में आता था। अब क्या हो? शिव के कहने से देवताओं ने कपिला गाय की अभ्यर्थना की। कपिला ने प्रसन्न होकर अपने दूध से बल्लुका नदी को परिपूर्ण कर दिया। तभी एक ऋषि के लिए इमली-फल लेकर एक तोता उस वल्लुका के ऊपर से होकर उड़ा। उसकी चोंच में से वह इमली गिर पड़ी। इमली इतनी खट्टी थी कि बल्लुका सागर का समस्त दूध जम गया। फिर संकट आ गया। निश्चय हुआ कि दही को मथा जाय तो वह पीने योग्य हो जायगा। समुद्र-मंथन हुआ, सुरासुर मथने लगे। रत्न निकलने लगे। अच्छे-अच्छे रत्न विष्णु तथा अन्य देवताओं ने ले लिये। शिव आये तब तक सब कुछ बट चुका था। शिव तथा असुरों के लिए समुद्र दुबारा मथा गया। इस बार हलाहल निकला। सबकी प्रार्थना पर शिव ने उसे पी लिया। वह शिव की सामर्थ्य से अधिक था। शिव बेहोश होकर गिर पड़े। तब मनसा को बुलाया गया। मनसा ने आकर अपने पिता को स्वस्थ कर दिया। देवता प्रसन्न हुए और मनसा को देवताओं में स्थान दिया गया। देवी को भी विवाह करना होता है। मनसा का विवाह जरत्कारु

ऋषि से कर दिया गया। उनसे मनसा के आस्तीक नाम का पुत्र हुआ। आस्तीक ने जनमेजय के नाग-यज्ञ को रुकवाकर नाग जाति की रक्षा की।

मनसा का मर्त्यलोक में पूजन

देवताओं की प्रतिष्ठा मर्त्यलोक में मनुष्यों द्वारा पूजे जाने पर ही निर्भर है। अतः मनसा ने भी पृथ्वी पर पूजा पाने का प्रयत्न किया। नेता के साथ मनसा पृथ्वी पर आयी, वह ग्वालों के पास ब्राह्मणी बनकर पहुँची। वे गायें चरा रहे थे। ग्वालों ने उसे डाइन समझकर पत्थर मारे। मनसा ने उनकी गायों को एक गहरे पानी-भरे खड्ड में गिरा दिया। ग्वालों ने अब मनसा को मनाया। मनसा ने कहा मुझे दूध पिलाओ। कोई बरतन तो था नहीं, मनसा के हाथ में बेंत की बनी टोकरी थी, वही दे दी। ग्वाले ने एक बाँझ गाय को दुहा, उसने दूध दिया और उस टोकरी में उसे दुह लिया। मनसा ने वह दूध पिया। ग्वालों को विश्वास हो गया कि यह देवी है, उन्होंने प्रति वर्ष ज्येष्ठ की शुक्ला दशमी को उसकी पूजा करने का वचन दिया कि एक जलपूर्ण घट पर सीज के पत्ते रखकर मनसा की पूजा की जायगी। इस पूजा के कारण इन ग्वालों की मुसलमान चरवाहों से लड़ाई हो गयी। मनसा ने ग्वालों का पक्ष लिया। ग्वाले विजयी हुए। मुसलमानों के नेता ने तब मनसा को प्रसन्न करने के लिए एक मंदिर देवी के लिए बनवा दिया।

ग्वालों के बाद मल्लाहों ने देवी की पूजा की। मल्लाहों के नेता जालू-मालू को नदी में एक स्वर्णघट मिल गया। यह मनसा का घट था। जालू-मालू ने उस घट से देवी की पूजा की। इससे वे बहुत समृद्ध हो गये।

धर्म-संप्रदाय के शून्य पुराण का विषय

इसमें तीन खंड हैं। प्रथम खंड 'शून्य शास्त्र' या 'शून्य पुराण' कहलाता है। इसी में सृष्टि-रचना का वर्णन रहता है। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

दूसरे खंड में मर्त्यलोक में धर्म-पूजा की प्रतिष्ठा का विषय है। धर्म का प्रथम पुजारी था सदा नाम का डोम। धर्म को भोजन कराने के लिए इस डोम को अपने पुत्र की बलि देनी पड़ी थी, वह पुत्र बाद में जीवित कर दिया

गया था। इसके बाद हरिश्चन्द्र ने धर्म की पूजा की थी। हरिश्चन्द्र का पुरोहित था रामाई पंडित।

तीसरे खंड में रामाई पंडित का ही वृत्त है। रामाई एक ब्राह्मण ऋषि का पुत्र था। पिता की मृत्यु के बाद रामाई को जातिवालों ने जाति-बहिष्कृत कर दिया, उसे जनेऊ भी धारण नहीं करने दिया गया। धर्म ने उसे ताँबे का ताबीज पहनाया। ब्राह्मणों ने तब भी रामाई को पंक्ति में स्वीकार नहीं किया। फलतः धर्म ने विरोधियों के नेता मार्कण्डेय को कोढ़ी कर दिया। हारकर मार्कण्डेय ने रामाई पंडित को धर्म का सबसे बड़ा पुजारी मान लिया।

इस ग्रन्थ के अन्तिम भाग में 'गाजन' के गीत भी दिये गये हैं। धर्म की पूजा के विशद अनुष्ठान में गाजन गीतों का बहुत महत्त्व है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विविध लोक-संप्रदायों ने सामान्य भूमि पर भी खड़े होने की चेष्टा की और आगे चलकर अपने वृत्तों तथा पद्धतियों का पृथक्-पृथक् विकास भी किया। अब प्रत्येक संप्रदाय के साहित्य पर कुछ विस्तृत प्रकाश डालना समुचित होगा।

(ग)

मंगल-साहित्य

धर्म-मंगल परंपरा

बौद्ध सिद्धों के 'सहज' के आधार पर जिस प्रकार दसवीं शती में सहजिया संप्रदाय परिपक्व हुआ, उसी प्रकार बौद्ध धर्म के लोक-बीजों से धर्ममंगल संप्रदाय की उद्भावना हुई। इसका पुराने से पुराना धर्मग्रंथ 'शून्य पुराण'[१] पं० हरप्रसाद शास्त्रीजी को सन् १९०७ में उनकी नेपाल यात्रा से पूर्व

१. (अ) देखिए—'बौद्ध गान ओ दोहा' की भूमिका।
(आ) कुछ विद्वानों का मत है कि इसका नाम मूलतः 'शून्य पुराण' नहीं था। यह नाम तो श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने इसे दिया है। ग्रंथ में स्वयं इसका

प्राप्त हुआ।[1] यह ग्रंथ भी १०वीं शताब्दी का लिखा हुआ है। इसके लेखक रामाई पंडित हैं। धर्म ठाकुर भगवान् बुद्ध के 'धर्म' का ही लोक द्वारा मानवीकृत रूप है।[2] धर्म, बुद्ध तथा संघ का धर्म और बुद्ध एक होकर धर्म ठाकुर हो गये, 'संघ' लोक-व्युत्पत्ति से 'शंख'[3] हो गया है। शून्य पुराण में बौद्ध स्रोत को बतानेवाली कई बातें हैं, जैसे--

यह नाम नहीं आता। "ग्रन्थेर मध्ये कोथाओ इहाके शून्य पुराण बलियाओ उल्लेख करा हय नाइ।" (पृ० ५४४, बांगला मंगल काव्येर इतिहास।) एक स्थान पर इसे 'आगमपुराण' अवश्य कहा गया है, यथा "रामाई पण्डित कह आगम पुराणे।" (वही, पृ० ५४४)

१. विद्वानों का, अनुसंधानोपरान्त, यह अभिमत है कि यह ग्रंथ न तो एक समय में लिखा गया है, न एक विद्वान् द्वारा लिखा गया है। दसवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के बीच विभिन्न धर्म-पुजारियों ने इसके विविध अंशों को स्वतन्त्र रूप से लिखा। "संभवतः ख्रीष्टीय षोडश शताब्दीर ओ परवर्ती काले इहा वर्तमान आकारे संकलित हइयाछिल।" (वही, पृ० ५४४)

इसके रचयिताओं में रमई पंडित को तो सभी मानते हैं। एक गोसाईं पंडित के नाम के धर्म पुजारी के लिखे अंश भी मिलते हैं। (वही, पृ० ५४४।)

२. शून्य पुराण पर बौद्ध धर्म का प्रभाव है, धर्म ठाकुर के इस संप्रदाय पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव है, यह तो स्पष्ट है। धर्म का अर्थ बुद्ध भी होता है। इस प्रकार धर्म और बुद्ध का समन्वय हो गया है।

३. शंख का अद्भुत वर्णन इसमें यों किया गया है--

'शंख उपजिल शंख शंखेर विचार,
कह कह पण्डित शंखेर सार।
कौन शंख जले स्थान करेन अनाद्द करतार।
आद्द शंख जलार जूति, हरि हरि शंख पाप मुकति।
कौन शंखे ना खोंए पानि, दखिन शंखे ना खोंए पानि।

१—शून्य पुराण में एक पंक्ति है कि धर्मराज यज्ञ की निन्दा करते हैं।[1]

२—धर्मराज को एक स्थान पर ललित अवतार कहा गया है[2]। ललित बुद्ध का नाम था।

३—शून्यवाद का प्रतिपादन है। महायान शाखा की भाँति सृष्टि रचना का वर्णन शून्य पुराण में यों मिलता है—

नहि रेक नहि रूप नहि छिल वन्न चिन,
रवि ससी नहि छिल नहिं छिल राति दिन,
नहि छिल जल थल नहि छिल आकास,
मेरु मन्दार ना छिल ना कैलास॥२॥
नहि छिष्टि छिल आर नहि सुरनर,
बम्भा बिष्टु न छिल न छिल आँवर॥७॥
सरग मरत नहि छिल सभि धुन्दकार,
दस दिक पाल नहि मेघ तारागण॥१०॥
आइ भित्तु ना छिल जमर ताड़न।
शुनु त भरमन परभूर शुन्ने करि भर॥१३॥[3]

दखिन शंखे आप प अमानि।
के सिरजिल गंगा के सिरजिल पंक,
ताहे उपजिल द्वादश अंगुल शंख।
हे जअ शंख हे विजअ शंख, तुमि शंख हइए चिराइ।
तुम्मार जले स्थान करेन श्री धर्म गोसांइ,

(शून्य पुराण, पृ० ८३-८४)

१. 'धर्मराज यज्ञ निन्दा करे।'

२. 'आगे ते छिलेन प्रभू ललित अवतार।'

३. (ख) नहीं रेख नहीं रूप, नहीं था वर्ण चिह्न,
रवि शशी नहीं थे, नहीं थे रात दिन,
नहीं थे जल-थल, नहीं था आकाश,
मेरु मंदर न थे, न था कैलास,

ऐसी कुछ बातों से शून्य पुराण पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। यह धर्म-ठाकुर संप्रदाय १०वीं से १६वीं शताब्दी के बीच पल्लवित हुआ और इसका आरंभिक मूल बौद्ध धर्म के ह्रास काल में अवगत होता है, इसे निर्विवाद माना जा सकता है। किन्तु धर्म ठाकुर को लेकर इधर विद्वानों में जो ऊहापोह हुआ है, उससे निष्कर्ष यह निकलता है, जैसा कि कुछ लोगों ने सिद्ध किया है कि धर्म ठाकुर का संबंध कूर्मपूजा से है, यह ठीक नहीं है।[1] धर्म-ठाकुर-पूजा के समस्त अनुष्ठान को विविध स्थानों पर अनुसंधान करके देखने से प्रतीत होता है कि धर्मशिला का रूप केवल कच्छप-जैसा नहीं। अलग-अलग स्थानों पर उसके अलग-अलग रूप हैं। शून्य पुराण में केवल एक बार कच्छप का उल्लेख आया है, उस पर निर्भर करके धर्म को कूर्म नहीं बताया

न सृष्टि थी, और न सुर नर थे,
ब्रह्मा विष्णु नहीं थे, न थे शंकर,
स्वर्ग मर्त्य नहीं थे, सर्वत्र धुन्ध था,
दशो दिक्पाल नहीं थे, न मेघ और तारागण थे,
न आयु थी, न मृत्यु थी, न यम की ताड़ना थी,
सब कुछ शून्य था।

१. (क) "एइ धर्म ठाकुरेर कौन मूर्ति नाइ। ताहार परिवर्ते एक खण्ड स्वाभाविक प्रस्तरइ एइ नामे पूजित हय। कालक्रमे कौन कौन अंचले एकटि रीति प्रवर्तित जे, धर्म ठाकुर कच्छपाकृति हइवे। बला बाहुल्य, हिन्दू धर्मेर प्रभावेर फले धर्म ठाकुर जे अंचले विष्णुरूपे पूजित हन, केवल मात्र सेखानेइ ताँहाके विष्णुर अन्यतम अवतार कूर्मरूपे कल्पना हइया थाके।" (पृ० ४७५, बां० मं० का० इतिहास।) फलतः कूर्म रूप का संबन्ध कूर्मावतार विष्णु से है, किसी आदिम कूर्मरूपी धर्म से नहीं यथा "पूर्वेइ बलियाछि, धर्म ठाकुरेर सुनिर्दिष्ट कौन रूप नाइ। अतएव कूर्म मूर्तिर संगे ताँहार ऐक्य निर्देश करिवार कौन संग कारण देखिते पाओया जाय ना। (वही, पृ० ४१५-१६)

(ख) 'इन धर्म ठाकुर की कोई मूर्ति नहीं है। उसके स्थान पर एक स्वाभा-

जा सकता।[१] धर्म का एक अर्थ सूर्य भी होता है। सूर्य और यम अथवा धर्मराज एक ही हैं। सूर्यपूजा से धर्मपूजा प्रचलित हुई और तब बौद्ध तथा वैष्णव प्रभाव से आधुनिक धर्म-ठाकुर की पूजा में परिणत हुई।[२]

विक प्रस्तरखंड की ही इस नाम से पूजा होती रही है। कालक्रम से किसी अंचल विशेष में यह भी प्रचलित हो उठा कि कदाचित् धर्म ठाकुर कूर्म की आकृति के होंगे। इतना कहना पर्याप्त होगा कि हिन्दू धर्म के प्रभावस्वरूप धर्म ठाकुर की पूजा विष्णुरूप में जिन-जिन अंचलों में हुई, केवल मात्र उन्हीं स्थानों पर उनकी विष्णु के अनन्य अवतार कूर्मरूप में कल्पना की गयी।' (पृ० ४७५, बां० मं० का० इतिहास)

१. शून्य पुराण में कूर्म का उल्लेख इस प्रकार है—(क) "धर्मेर वाहन उलूक (कूर्म नहीं) ताँहार भार सह्य करिते ना पारिया क्लान्त हइया पड़िले। तिनि प्रथम हंस के ताँहार भारवहन करिवार जन्य सृष्टि करिलेन। हंस अल्पकाल मध्ये धर्म ठाकुर के फेलिया पलाइया गेल। अवशेषे तिनि कूर्म के सृष्टि करिया तांहार पृष्ठे आसन करिलेन।" (ख) धर्म के वाहन उलूक [कूर्म नहीं] उनका भार सहन न कर सके और वह थक गये। उन्होंने ही सर्वप्रथम अपना भार वहन कराने के लिए हंस की सृष्टि की। हंस भी कुछ समय बाद धर्म ठाकुर को छोड़कर भाग गया। अन्त में उन्होंने कूर्म की सृष्टि की और उसकी पीठ पर आसन लगाकर बैठे। स्पष्ट है कि यहाँ धर्म को कूर्म नहीं बताया गया। हंस आदि की भाँति यह कूर्म भी अल्प काल में धर्म ठाकुर के भार से क्लान्त होकर पलायन कर गया। बस, कूर्म का यही एक उल्लेख समस्त शून्य पुराण में है।

२. डा० सेन ने बताया है कि वैदिक सूर्य भी कूर्म कहे गये हैं, "कूर्म धर्म ठाकुरेर प्रतीक, वैदिक सूर्य देवतार ओ। शतपथ-ब्राह्मणे आछे,—"स यत् कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजत्तदाकरोत् तद्यदकरोत् तस्मात् कूर्म्मः कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति। स यः स कूर्म्मःसोह स आदित्यो ह यो वै तदादित्यमपद-धाति॥" बांगला साहित्येर इतिहास—प्रथम खंड, पृ० ४९३।

क्या शून्य पुराण मंगल काव्य है ?--ऊपर बताया जा चुका है कि यह शून्य पुराण धर्म-ठाकुर के विभिन्न पुजारियों की समय-समयपर की गयी रचनाओं का संग्रह है। यह संग्रह भी वस्तुतः मंगल-काव्य के रूप का नहीं। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने इसके संबंध में यों लिखा है--"आर एक खानि पुथि पाइया छिलाम--शून्य पुराण, रामाई पण्डितेर लेखा। ताहाँते धर्म ठाकुरेर पूजा पद्धति अनेक आछे एवं ताहार शेषे 'निरंजनेर उष्मा' नामे रामाई पंडितेर एकटि लम्वा छड़ा आछे ।"[1] इससे स्पष्ट है कि इस में पूजा-पद्धति की प्रधानता है। शून्य पुराण[2] में ५६ अध्याय हैं । इनमें से ५ सृष्टि रचना विषयक हैं, शेष में धर्म की पूजा-पद्धति का वर्णन है, जिसमें स्थान-स्थान पर राजा हरिश्चन्द्र तथा अन्य धर्म के भक्तों की बलियों का उल्लेख हुआ है।[3] अंतिम अध्याय, जिसका नाम है 'निरंजनेर ऊष्मा', मुसलमानी आक्रमण के उपरांत लिखा गया है और अद्भुत है । क्योंकि इसमें निरंजन अथवा ठाकुर का मुसल-

१. बौद्ध गान ओ दोहा 'मुखबन्ध', पृ० २ ।

२. साहित्य परिषद् द्वारा प्रकाशित 'शून्य पुराण' ।

३. शून्य पुराण में राजा हरिश्चन्द्र की कथा का सार इस प्रकार है--

राजा हरिश्चन्द्र और उनकी रानी पुत्र-कामना से राज्य छोड़कर बल्लुका नदी के तट पर पहुँचे । वहाँ उन्हें छद्मवेष में धर्म ठाकुर मिले । उन्होंने राजा को वर दिया कि तुम्हारे पुत्र होगा, किन्तु तुम को उसकी धर्म ठाकुर के लिए बलि देनी पड़ेगी । यथासमय पुत्र हुआ, किन्तु राजा बलि देना भूल गया । तब धर्म ठाकुर ब्राह्मण के वेष में एक अतिथि के रूप में राजा के यहाँ पहुँचे । ब्राह्मण ने नर-मांस खाने के लिए माँगा, और इसके लिए राज पुत्र लुईचन्द्र की बलि देने को कहा । रानी ने लुई को मारकर मांस राँधा । ब्राह्मण ने तीन थाल परोसवाये और राजा-रानी को भी साथ खाने के लिए कहा । अतिथि-सत्कारार्थ राजा जब कौर उठाने लगा तो धर्म ठाकुर प्रकट हुए । दम्पति पर प्रसन्न हो वर माँगने को कहा । दोनों ने पुत्र का पुनरुज्जीवन चाहा । ब्राह्मण ने कहा वह तो जीवित है और धर्मनृत्य में नाचता रहा है ।

मान के रूप में अवतार लेने का वर्णन है। ब्राह्मणों नें सत-धर्मियों पर जो अत्याचार किये उनसे सत-धर्मियों की रक्षा करने के लिए धर्म ठाकुर ने मुसलमान का रूप धारण किया और ब्राह्मणों को दंडित किया।[१]

इस रूपरेखा से यह विदित होगा कि 'शून्य पुराण' स्वयं मंगल-काव्य नहीं। यह तो धर्म-पूजा की 'घर-भरा' पूजा[२] की पद्धति का निरूपण करता है।

धर्ममंगल काव्य

धर्ममंगल काव्य में तीन भाग होते हैं। प्रथम भाग को देवता-खण्ड कह सकते हैं, इसमें सृष्टितत्त्व का वर्णन रहता है। द्वितीय भाग में धर्म पूजा के प्रवर्तन का इतिहास रहता है। तीसरे भाग में चरित खंड होता है, जिसमें लाउसेन की कहानी रहती है। प्रथम धर्ममंगल काव्य का रचयिता मयूर भट्ट है। वस्तुतः मयूर भट्ट की रचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई, किन्तु जो धर्ममंगल काव्य उपलब्ध हुए हैं, उनमें से अधिकांश ने मयूर भट्ट को पूर्व कवि के रूप में स्मरण किया है। इन सभी धर्म मंगल काव्यों में चरित खण्ड की प्रधानता रहती है। इसमें लाउसेन की कथा कही जाती है। इस कथा के

१. स्पष्ट है कि यह अंतिम अध्याय मुसलमानों के आक्रमण के उपरांत जोड़ा गया है।

२. धर्म ठाकुर की पूजा सामान्यतः तीन प्रकार से होती है --

(१) नित्य पूजा--जैसे किसी अन्य गृह-देवता की पूजा होती है, उसी प्रकार यह पूजा होती है। (२) वार्षिक पूजा--यह ग्राम में धर्म ठाकुर के लिए निर्दिष्ट स्थान पर होती है। इसमें कितने ही प्रकार के अनुष्ठान होते हैं। (३) 'घर-भरा' वा 'गृह भरण'--इसमें गाँवों से बारह धर्म-शिलाएँ लाकर एकत्र की जाती हैं। अक्षय तृतीया या वैशाख शुक्ल तृतीया से पूर्णिमा तक बारह दिन यह उत्सव चलता है। पूजा का आरम्भ घटस्थापन से होता है। इसमें छाग (बकरी) की बलि विशेष प्रकार से दी जाती है। (दे० बा० मं० का इतिहास, पृ० ४८६)

सामान्यतः तीन खंड होते हैं। पहले में तो लाउसेन के जन्म की कहानी होती है। दूसरा खण्ड विक्रम-कथाओं की भाँति होता है। नायक घर से निकल पड़ता है और मार्ग में विविध जीवट के कार्य करता जाता है। पहले भाग का संबन्ध मैना नगर से है, दूसरे का मैना नगर से गौड़ेश्वर तक की यात्रा से। तीसरा खण्ड गौड़ेश्वर के मंत्री महामद पात्र के षडयंत्रों तथा लाउसेन के संघर्षों के संबन्ध में है। तीसरे भाग के पराक्रमों में सूर्य के अश्व का बछेड़ा सदा लाउसेन के साथ रहता है। लाउसेन अन्त में धर्म ठाकुर को प्रसन्न करने के लिए अपने शरीर के नौ खण्ड करके उन्हें धर्मठाकुर पर चढ़ाता है, और अन्त में सूर्य का उदय पश्चिम से कराने में सफल होता है। यह सर्वश्रेष्ठ साधना थी । इस प्रकार धर्मठाकुर की पूजा का प्रचार कर लाउसेन ने स्वर्गारोहण किया।

इस कहानी में कुछ बातें विशेष द्रष्टव्य हैं—जैसे लाउसेन के पिता-माता रामाई पंडित से परामर्श करके धर्मपूजा में प्रवृत्त होते हैं, उसमें माता प्राण त्याग करती है। धर्मठाकुर प्रसन्न हो उसे जीवित कर लाउसेन के जन्म लेने का वरदान देते हैं । लाउसेन के जन्म के समय ही सूर्य की घोड़ी के भी बछेड़ी हुई। गौड़ेश्वर के यहाँ से यही घोड़ी उसे मिली और शेप जीवन उसके साथ रही। एक स्थान पर लाउसेन का युद्ध पार्वती-भक्त से हुआ, उसमें एक ओर से पार्वती ने सहायता की, दूसरी ओर से धर्म ठाकुर ने। धर्म ठाकुर के दूत की भाँति हनुमान जी संकट के समय बार-बार आकर धर्म ठाकुर के भक्त के संकटों का निवारण करते रहे हैं।[1]

शून्य पुराण में लाउसेन कथा का उल्लेख तक नहीं ; उसमें हरिश्चन्द्र-कथा है। यह हरिश्चन्द्र-कथा धर्ममंगलों में साक्षी कथा के रूप में आती है। इससे यह प्रकट होता है कि धर्म पूजा में पहले हरिश्चन्द्र कथा ही कही जाती थी। बाद में लाउसेन की कथा प्रसिद्ध हुई।

१. एक विशेष बात यह भी मिलती है कि गौड़ेश्वर के पास से लौटते समय लाउसेन डोमों की विशाल सेना बनाकर मैना नगर ले गया था। यह डोमसेना महामद के आक्रमण के समय बहुत काम आयी।

मयूर भट्ट को धर्ममंगल का प्रथम कवि माना जाता है । बाद के अधिकांश मंगलकारों ने मयूर भट्ट की वंदना की है।[1] मयूर भट्ट के उपरात एक आदि रूपराम का भी उल्लेख है ।[2] इस आदि रूपराम की कृति भी अब नहीं मिलती। संभवतः नाम-साम्य से वह बाद के रूपराम की कृति मे मिल गयी है।[3]

इन दोनों के बाद प्राचीनतम कवि खेलाराम है। इसका रचनाकाल १५२७ ई० है। इसका धर्ममंगल भी आज उपलब्ध नहीं, किन्तु एक अनुसंधानकर्ता ने यह ग्रंथ देखा था और उसने उसी ग्रंथ से उसकी रचना-काल-विषयक पुष्पिका उद्धृत की है।

खेलाराम के उपरान्त निम्नलिखित धर्ममंगल रचयिता मिलते हैं —

माणिकराम गांगुली	..	(१५६७ ई०)[4]
रूपराम	..	(१५९० ई०)
श्याम पंडित	..	(१७०३ ई०से पूर्व)
सीताराम	..	(१६९८ ई०)
रामदास	..	(१७वीं शती के प्रथम भाग में)
प्रभुराम	..	(१६६६–१७१० के लगभग)

१. घमराम के उल्लेख से विदित होता है कि उसने मयूर भट्ट की कृति देखी थी, वह उस कृति का 'हाकंद पुराण' नाम देता है । यथा—
"हाकंद पुराणे लेखा, साक्षात् आमार देखा, कलि काले पश्चिम उदय ।"

२. यह उल्लेख माणिकराम गांगुली ने किया है—
"वन्दिया मयूर भट्ट आदि रूपराम। द्विज श्री माणिक भणे धर्म गुणगान ।"

३. बांगला मंगल काव्येर इतिहास—पृ० ५५४ ।

४. माणिकराम गांगुली के काल के संबंध में पर्याप्त मतभेद है । डा० दी० च० सेन के मत से १४६७ ई०, श्री योगेशचन्द्र राय के मत से १७८१ ई०, श्री वसंतकुमार के मत से १६९४ व १७४८-७८ ई० मध्य, डा० मुहम्मद शहीदुल्ला का मत है १५६९ ई० ।

घनराम	..	(१७११ ई० में प्रसिद्ध धर्ममंगल समाप्त)
रामचन्द्र	..	(१७३२ ई० रचना काल)
सहदेव	..	(१७३५ ई० धर्ममंगल आरंभ किया)
नरसिंह	..	(१७३७ ई० धर्म मंगल आरंभ किया)
हृदयराम	..	(१७४९ ई० धर्म मंगल समाप्त हुआ)
गोविन्दराम	..	(१५वीं शताब्दी)[1]
रामनारायण	..	(१८वीं शती के प्रथम चरण में होंगे)
रामकान्त	..	(१७५० ई० धर्ममंगल काव्य रचा)।

इनके अतिरिक्त कुछ और कवियों का भी नाम मिलता है, पर न तो उनकी कृति ही मिलती है, न उनका परिचय ही। अतः प्रधान कवि उन्हें ही मानना होगा जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

धर्ममंगल काव्य की यह धारा अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही। इन काव्यों की रचना राढ क्षेत्र में ही हुई। धर्म ठाकुर की पूजा तो और क्षेत्रों में कुछ-कुछ फैली, किन्तु धर्म ठाकुर के कवि राढ क्षेत्र के बाहर नहीं हुए।

ऊपर धर्ममंगल की जो परंपरा दी गयी है, वह लाउसेन कथा वाली है। इससे पूर्व धर्म-पूजा में हरिश्चन्द्र कथा का महत्त्व था, यह हमें शून्य पुराण से विदित होता है। शून्य पुराण में हरिश्चन्द्र का पूर्ण चरित्र या कथा नहीं, कुछ उल्लेखों से विदित होता है कि हरिश्चन्द्र कथा को पूर्णतः लिखनेवाला कोई कवि शून्य पुराण से भी पहले हुआ होगा। संभवतः यह पंडित गोसाँई[2] हो सकता है, जिसका उल्लेख घनराम चक्रवर्ती ने अपने

१. डा० दीनेशचन्द्र सेन इन्हें पन्द्रहवीं शती के मानते हैं, एवं श्री वसत कुमार चट्टोपाध्याय १८वीं शती के।

२. "तबे रँजावती बले करि निवेदन। पंडित गोसाँई ग्रंथे कहिल जेमन।" (वा० म० का०, पृ० ५४७)

धर्ममंगल में किया है। यदि यह अनुमान ठीक हो तो हरिश्चन्द्र कथा का पहला कवि पंडित गोसाँई होगा।

इन धर्ममंगलों में मानिक गांगुली की रचना पांडित्य तथा काव्य दोनों दृष्टियों से श्लाघ्य मानी जायगी। पांडित्य से रचना का काव्यत्व अथवा रसपरिपाक क्षुब्ध नहीं हो पाया। धर्ममंगल वीर रस की रचना है, अतः इस कवि की भाषा में रसपरिपाक के साथ तदनुकूल ओजपूर्ण भाषा भी मिलती है। इस कवि के पांडित्य का आभास इन पंक्तियों से मिलता है--

अवशेषे पड़िलेत साहित्य सकल,
मुरारि भारवि भट्ट नैषध पिंगल,
कालिदास कृत काव्य अन्य काव्य कत।
अलंकार ज्योतिष आगम तर्क शास्त्र,
छन्द शास्त्र पुराण पड़िल तार पर
उत्तम हइल विद्या नय दश वच्छर

गांगुली के उपरांत रूपराम हमारा ध्यान दो कारणों से आर्कषित करते हैं। उनके काव्य की प्रस्तावना स्वयं ही एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमें मंगल रचना करने के कारण पर प्रकाश डालने के लिए कवि को कुछ अपना आत्मवृत्त देना पड़ा है, जो रोचक भी है और उपयोगी सामग्री से युक्त भी। दूसरा आकर्षण यह है कि इसमें रचनाकाल विषयक पुष्पिका भी है।

इसमें कवि ने अपना जो वृत्त दिया है, उसे संक्षेप में यों प्रस्तुत किया जा सकता है--

श्रीराम चक्रवर्ती तथा दमयन्ती के तीन पुत्रों में मझले रूपराम थे। पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई से इनकी पटी नहीं। ये सिर्फ पट्टी-बस्ता लेकर घर से निकल पड़े। आडई गाँव में जब ये फटे-हाल पहुँचे तो वहाँ की शाला के पंडित रघुराम भट्टाचार्य ने दया करके इन्ह अपना शिष्य बना लिया। उनके पास इन्होंने कोश, व्याकरण, काव्य तथा छन्द का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। पर ये थे कुछ विकट जिज्ञासु-जैसे, बात-बात पर प्रश्न पर प्रश्न करते रहते थे। इससे एक दिन इनके धीर-गंभीर गुरुजी चिढ़

गये। उन्होंने इनकी बड़ी भर्त्सना की और कहा कि नवद्वीप जाओ चाहे शान्तिपुर, चाहे जौग्राम जाओ, पर अब यहाँ नहीं रह पाओगे। आखिर इन्होंने नवद्वीप जाने की तैयारी की। मार्ग में इन्हें माँ की याद आयी और ये घर की ओर चल पड़े, पर एक जंगल में मार्ग भूल गये और चक्कर काटने लगे। जब ये यों परेशान थे तभी इन्हें दो बाघ कुछ दूर से अपनी ओर ताकते हुए दिखाई पड़े। उनसे बचने के लिए ये भागे तो एक तालाब के किनारे रपट गये, इनकी पुस्तकें और लेखनी इधर-उधर जा पड़ीं। इसी समय रूप-राम ने देखा कि एक ब्राह्मण सामने खड़ा है, उसके गले में हार पड़ा हुआ था और चम्पक पुष्पों की माला भी थी, हाथ में एक लट्ठ था। यह ब्राह्मण वास्तव में स्वयं धर्म ठाकुर थे। उन्होंने रूपराम की गिरी हुई पुस्तकें-लेखनी उठाकर उन्हें दीं। आशीर्वाद के रूप में उन्होंने रूपराम को कुछ पुष्प दिये और एक 'हाडेर माला'[1] प्रदान की तथा इन्हें आदेश दिया कि अब पढ़ाई-लिखाई समाप्त करो और मेरे द्वादश-दिवसी (मंगल) गीत गाओ। इतना कहकर धर्म ठाकुर लुप्त हो गये और कवि ने अपने घर की राह पकड़ी; ये अपने गाँव में तीसरे पहर के लगभग पहुँचे। अपने बड़े भाई रत्नेश्वर का सामना ये नहीं करना चाहते थे, अँधेरा हो जाने पर सीधे माँ के पास जाने का इन्होंने निश्चय किया, अतः ताल के किनारे रुक गये। इनकी दोनों बहिनें सोना और हीरा उस समय घर के दरवाजे पर खड़ी हुई थीं, उन्होंने रूपराम को देख लिया और खुश होकर पुकारने लगीं। तभी बड़े भाई बाहर आ गये। उन्होंने इन्हें फिर फटकार सुनायी। ये उलटे पैरों बिना माँ से मिले ही घर से उत्तर की

१. हाडेर माला—हाड़ों की या अस्थियों की माला। 'हाड़' शब्द से इनके संबंध में प्रचलित किंवदंती की 'हाड़ी' का संकेत भी मिलता है। किंव-दन्ती है कि हाड़ी नाम की एक नीच जाति की लड़की से इनका प्रेम हो गया था। इससे ब्राह्मण घराने को कलंक लगता था। इनसे उस प्रेम को त्याग देने के लिए कहा गया, पर प्रेम का रंग इन पर बहुत गहरा चढ़ा हुआ था। अनुमान है कि इसी कारण बड़े भाई से इनका तनाव बढ़ गया था और इन्हें घर छोड़ने को विवश होना पड़ा था।

ओर चल पड़े। जब ये दामोदर पहुँचे तब दो दिन के भूखे थे। एक व्यक्ति ने दयापूर्वक इन्हें कुछ धान दिये, जिनसे इन्होंने भुना हुआ चिउड़ा खाने के लिए खरीद लिया। नदी में स्नान करके जब ये प्रार्थना कर रहे थे तभी आँधी का एक प्रबल झोंका आया और चिउड़े को उड़ा ले गया। इन्हें पानी से ही पेट भरना पड़ा। उस समय अपना बस्ता भी ये कठिनाई से लेकर चल सके। जैसे-तैसे दामोदर नदी पार करके भूखे पेट लड़खड़ाते एक गाँव में पहुँचे। वहाँ एक जुलाहे के घर ब्रह्मभोज था। उसमें जा पहुँचे। दही-चिउड़े की दावत इन्होंने छककर खायी और दक्षिणा में कुछ कौड़ियाँ भी प्राप्त कीं। वहाँ से चलकर ये इडाल गाँव पहुँचे। वहाँ के ब्राह्मण मुखिया गणेशराय ने इनका स्वागत किया। वहीं इन्होंने अपना धर्ममंगल पूरा किया।

इन्होंने जो पुष्पिका लिखी है उससे जान पड़ता है कि इस मंगल का रचना-काल १५७१ शक था।

इनका धर्ममंगल सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ। सबसे अधिक प्रतियाँ इन्हीं के मंगल की प्राप्त होती हैं।

धर्ममंगल काव्य को उच्च स्तर देनेवाला एक अन्य कवि है घनराम। ये भी पंडित और कवि दोनों थे। ये बचपन से ही काव्य-प्रतिभा से युक्त थे, पांडित्य पूर्ण होने से इनका यह बृहत् धर्म-मंगल भाषा के लालित्य और वर्णन की छटा से युक्त हो गया है। माणिकराम की भाँति इन्होंने भी बताया है--

वेदवाणी विज्ञ हेन पड़िया पाणिनि,
काव्य अलंकार कोष आगम निगम,
भक्तियोग सार जार घुचे मनो भ्रम।[1]

इनकी भाषा में अनुप्रासप्रियता स्पष्ट झलकती है। अलंकारों की छवि भी छायी हुई है। काव्य में चरित्रों का अच्छा विकास हुआ है।

१. यद्यपि कवि ने यह उल्लेख धर्ममंगल काव्य के नायक लाउसेन के विद्याभ्यास के संबंध में किया है, फिर भी इससे यह संकेत ग्रहण किया जा सकता है कि कवि स्वयं भी इस पांडित्य से युक्त था।

इन धर्ममंगल-लेखकों में सहदेव के संबन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि यह धर्ममंगल-लेखक नहीं माने जाने चाहिए। इनका ग्रंथ 'अनिल पुराण' कहा गया है। धर्ममंगल काव्य में लाउसेन-कथा ही प्रधान वस्तु है, पर सहदेव के इस ग्रंथ में लाउसेन का उल्लेख ही नही। लाउसेन से पूर्व जो कथा धर्म-कथा मानी जाती थी, वही हरिश्चन्द्र और उसके पुत्र लुईचन्द्र की कहानी के रूप में इसमें बहुत संक्षेप में है। लौकिक शिव-कथा का पुराना रूप, पौराणिक शैव कहानी, मीननाथ, गोरखनाथ प्रभृति सिद्धों की कहानी तथा अन्य पौराणिक देवी-देवताओं की कहानियाँ भी इसमें हैं। ये सब भी किसी व्यवस्था से नहीं हैं, किसी भी चरित्र के विकास की गुंजायश तक इन कहानियों में नहीं। हाँ, नाथ-संप्रदाय का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। लेखक ने स्वप्न में कालूराय धर्म ठाकुर को देखा था, उन्हीं के आदेश से उसने यह रचना प्रस्तुत की। धर्म ठाकुर से मिलनेवाली प्रेरणा के आधार पर इसे भले ही मंगल काव्य कहा जाय, अन्यथा धर्ममंगल काव्य का प्रधान विषय तो इसमें किंचित् भी नहीं है।

धर्ममंगल की यह परंपरा बंगाली साहित्य के आरंभिक बौद्ध वातावरण में प्रस्तुत किये गये साहित्य के आधार पर रचित गान और दोहों से जुड़कर बंगाली साहित्य के आदिकाल को सातवीं-आठवीं शताब्दी तक ले जाती है।

धर्म ठाकुर परंपरा 'शून्य पुराण' से आरंभ होने के कारण मंगल परंपराओं में सबसे पुरानी मानी जा सकती है। यों जैसा बताया जा चुका है, 'शून्य पुराण' स्वयं मंगल काव्य नहीं माना जा सकता। वस्तुतः इस परंपरा का भी यथार्थ आरंभ सोलहवीं शताब्दी से ही माना जाना चाहिए।

अन्य मंगल परंपराओं का आरंभ भी १६वीं शती से ही होता है। बंगला साहित्य में अन्य मंगल परंपराएँ मिलती हैं --

मंगल काव्य जिन देवी-देवताओं पर लिखे गये, वे ये हैं --

१. शिव मंगल काव्य
२. मनसा मंगल काव्य
३. चण्डी मंगल काव्य
४. कालिका मंगल काव्य

५. शीतला मंगल
६. षष्ठी मंगल
७. शारदा मंगल
८. राय मंगल
९. सूर्य मंगल

शिव-मंगल परंपरा

यदि कवि वृन्दावन दास के चैतन्य भागवत[१] में आये 'शिव के गायन' के प्रसंग पर ध्यान दें, तो मानना होगा कि शिव गीत[२] ईसवी सोलहवीं शती में प्रचलित थे। ये गीत अत्यन्त लोक-प्रिय थे, यह भी विदित होता है। 'शून्य पुराण' धर्ममंगल काव्य का एक प्रकार से आदि प्रवर्त्तक है। उसमें यों तो सृष्टि-तत्त्व वर्णन में भी शिव का महत्त्व[३] है, पर उसमें भी एक शिव गीत की

१. चैतन्य भागवत में कवि वृन्दावन दास ने लिखा है--

(क) एक दिन आसि एक शिवेर गायन,
डमरु बाजाय--गाय शिवेर कथन।
आइल करिते भिक्षा प्रभूर मन्दिरे,
गाइया शिवेर गीत बेडि नृत्य करे। आदि

(ख) गोसांईं जब दिगम्बर होकर आते हैं तो घर-घर भिक्षा माँगकर ईश्वर-ईश्वर पुकारते हैं।

२. चैतन्य भागवत का कवि सोलहवीं शताब्दी में हुआ था। अतः उसकी साक्षी से 'शिव गीत' का अस्तित्व सोलहवीं शताब्दी में सिद्ध होता है।

३. शून्य पुराण में उल्लेख है कि धर्मठाकुर के धर्म से आद्या शक्ति का जन्म हुआ। आद्या शक्ति तरुण हुई तो धर्म उसके लिए पुरुष ढूँढ़ने निकले, वे घर में एक पात्र में मधु और एक में विष रख गये। आद्या शक्ति को यौवन भार असह्य हुआ तो आत्महत्या करने के लिए उसने विष पी लिया। उससे वह गर्भवती हो गयी और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव उससे पैदा हुए। तीनों अंधे थे। धर्म ने तीनों की परीक्षा ली तो केवल शिव उत्तीर्ण हुए।

भाँति का गीत[1] है। विदित होता है, ये स्वतंत्र छड़ा या शिव गीत ही शिव-मंगल काव्य के पूर्वज हैं। इन लोकगीतों के साथ पुराण-कथा और लोक-कथा के मेल से शिवमंगल काव्य की कथा में दो सूत्र नितान्त पृथक् पृथक् होते हुए भी एक में जुड़े हुए हैं। एक सूत्र पुराणकथा से संबंधित है, दूसरा शुद्ध लोक-कथानक है।[2]

शिव से प्रसन्न हो धर्म ने उन्हें तीन नेत्र प्रदान किये। शिव के कहने पर ब्रह्मा-विष्णु को भी नेत्र दिये गये। तीनों घर पहुँचे तो आद्या शक्ति का पति भी शिव को बना दिया गया। इस प्रकार दोनों से सृष्टि चली।

१. शिव-गीत जैसा लगनेवाला शून्य पुराण का गीत कुछ इस प्रकार है :—

(क) 'जखन आछेन गोसांई हया दिगंबर,
घरे घरे भिखा मागिया बुलेन ईश्वर।

० ० ०

(ख) सुनार जे लांगल कैल रूपार जे फाल,
आगे पिछू लांगले त ए तिन गोजाल,
सोने का हल किया चाँदी का फार,
आगे पिछू लांगलेते ए तिन गौजाल।

२. पुराणकथा का संबंध सतीदाह और पार्वतीविवाह से है। एक बार देवसभा में दक्ष के आने पर सभी देवता उनके सम्मान में खड़े हुए, पर शिवजी ने सम्मान नहीं किया। इस अपमान को दक्ष ने गाँठ बाँध लिया और अपने दामाद से बदला लेने के लिए एक यज्ञ किया, जिसमें शिव को छोड़ सभी देवताओं को बुलाया। सती बिना बुलाये ही यज्ञ में गयीं। दक्ष ने शिव की निन्दा की तो वे यज्ञाग्नि में गिरकर भस्म हो गयीं। फिर वही सती हिमांचल के घर मेनका के गर्भ से गौरी के रूप में पैदा हुईं। शिव से उनका विवाह हुआ। अब लोककथा का आरम्भ होता है।

शिवजी के यहाँ कमाई तो कुछ थी नहीं, भोजन के लाले पड़े, तब पार्वतीजी ने शिव से खेती करने को कहा। जैसे-तैसे आलसी शिव तैयार हुए। अपने त्रिशूल से विश्वकर्मा से हल आदि तैयार कराये, कुबेर

भले ही शिवगीतों का आरंभ सोलहवीं शती ईसवी में और उससे पूर्व भी क्यों न हो गया हो, पर शिवमंगल काव्य का परिपक्व स्वरूप सत्रहवीं शताब्दी में मिलता है। शिवमंगल काव्य के प्रथम रचयिता रामकृष्ण राय माने जाते हैं। इन्होंने शिवमंगल काव्य के रूप में 'शिवायन' लिखा। रामकृष्ण राय सभी शास्त्रों के ज्ञाता थे। संस्कृत के पंडित थे। इनके काव्य में शिव की लोक-कथा का रूप महत्त्व नही पा सका। हाँ, अठारहवीं शताब्दी के कवि रामेश्वर चक्रवर्ती भट्टाचार्य द्वारा लिखित शिवायन या 'शिव संकीर्तन' में शिव की पुराण-कथा और लोक-कथा का अच्छा निर्वाह हुआ है। यही शिवमंगल काव्य सबसे अधिक लोकप्रिय भी हुआ है।

इनके उपरान्त द्विज कालिदास रचित 'कालिका-विलास' मिलता है। अठारहवीं शती की ही यह रचना प्रतीत होती है। 'कालिका' से भ्रम होता है, वस्तुतः है यह शिवमंगल काव्य ही। द्विज मणिराय का 'वैद्यनाथ मंगल' बहुत छोटी, अत्यन्त साधारण कृति है। १९वी शताब्दी में प्रकाशित दो

के यहाँ से बीज मँगाये। शिव ने खेती की, वह खूब फली-फूली। अब शिवजी वहीं रम गये, कैलास को लौटे ही नहीं। कुचनी संगिनियों में रहने लगे। तब पार्वतीजी वाग्दी स्त्री बनकर पहुँचीं, शिव उन पर मुग्ध हो गये। शिव ने उन्हें अँगूठी दी और आलिंगन की याचना की, तब इठलाती हुई वाग्दिनी रूपी पार्वती कैलास की ओर चलीं, शिवजी उनके पीछे-पीछे चले। कैलास पर पहुँचकर पार्वती पार्वती बन गयीं और कुटी का द्वार बंद कर लिया। अब शिव व्याकुल हुए। पार्वती ने कहा कि शांखा लाइए तो हम दोनों मिल सकते हैं। शिवजी शांखा कहाँ से लायें। पार्वती रूठकर पीहर चली गयीं। अन्ततः शिवजी शांखा लेकर गये और पार्वती को उसमें लिवा कर लाये। अब दोनों कैलास पर रहने लगे।

स्पष्ट है कि पुराण-कथा के शिव देवता हैं तो लोक-कथा के शिव सामान्य व्यक्ति, सामान्य ही क्या चरित्रहीन भी। लोकवार्ता ने दोनों को एक में जोड़ दिया है।

शिवकाव्य विशेष प्रसिद्ध हैं। एक है हरिचरण आचार्य का 'शिवायन' और दूसरा है द्विज रामचन्द्र का 'हर-पार्वती मंगल'।

शिव-काव्य की एक दूसरी धारा भी बंगाल के एक भाग[1] में पनपी। यह शिवचतुर्दशी के व्रत की पौराणिक कथा को लेकर चली। इसका संबंध उक्त शिवमंगल काव्यधारा से नहीं था। सबसे पहले किसने शिवचतुर्दशी वाली 'मृगलुब्ध'[2] की कथा लिखी, इसका तो पता नहीं चलता, पर इस परंपरा में रामराज[3] रचित 'मृगलुब्ध' कृति[4] का उल्लेख मिलता है। रामराज की इस कृति से भी अधिक लोकप्रिय रचना है कवि देव की कृति 'मृग-

१. चटगावँ के क्षेत्र में।
२. मृगलुब्ध की कथा शापग्रस्त व्याध की कथा है जो अजाने ही शिवचतुर्दशी को एक बेल के पेड़ पर भूखा रात्रिजागरण करता रहा और बेलपत्रों को तोड़-तोड़कर नीचे डालता रहा। नीचे शिवलिंग था। शिव ने उसकी यह पूजा स्वीकार कर वरदान दिया। शिकार में उसे दो अभिशप्त मृग मिले। मृग को बचाने के लिए मृगी व्याध के समक्ष अपना आत्मसमर्पण करने को प्रस्तुत हुई, मृगी ने इसी प्रसंग में कई दृष्टान्त दिये। इससे व्याध को बोध हुआ। चन्द्रभागा नदी में स्नान कर वहाँ शिव पूजा कर वह शाप से मुक्त हुआ। वस्तुतः यह व्रतकथा है। यही इस दूसरी धारा का मुख्य वर्ण्य है।
३. रामराज ने अपने सम्बन्ध में इस काव्य में कुछ भी नहीं लिखा। अतः उनके कुल, काल आदि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। नाम के पीछे 'राज' शब्द से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह 'मग' जाति के थे। मग लोग 'राज' शब्द का प्रयोग करते थे। मग बौद्ध होते हैं। पहले रामराज बौद्ध होंगे, बाद में शिवभक्त हुए होंगे, पर 'राज' पीछे लगा ही रहा। किंतु यह अनुमान ही तो है।
४. रामराज पंडित थे ऐसा विदित होता है, क्योंकि उनकी इस कृति में पांडित्य झलकता है। बंगाली भाषा में रूपान्तरित किये गये संस्कृत पुराणों के अंश इसमें स्थान-स्थान पर मिलते हैं।

लुब्ध'। यह १६७४ ईसवी में लिखी गयी थी। कवि देव में रामराज से कवित्व कुछ विशेष है। फिर भी संस्कृत के अनुकरण पर ही यह कृति प्रस्तुत की गयी है, इससे कवि देव की स्वतंत्र काव्य-प्रतिभा के विकास को कम अवसर मिल सका है।

पहले वर्ग के शिवमंगल काव्य में लौकिक कथानक के सम्मिलित हो जाने से उसके कवियों को बंगाली समाज के यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का अच्छा अवसर मिल जाता था। उसमें उन्हें अपनी काव्य-प्रतिभा को प्रकट करने के भी प्रचुर अवसर रहते थे। कृषि, कृषक, बागदी, श्रम, प्रेम, विवाह, दारिद्र्य, भिक्षा-वृत्ति, गृह-कलह, मान आदि सभी विषय तो थे, जिनके द्वारा कवि यथार्थ को भी प्रस्तुत कर सकता था और कल्पना का प्रयोग भी कर सकता था। रस-परिपाक के लिए भी पूरी गुंजाइश थी।

मनसामंगल काव्य परम्परा

मनसा देवी सर्पो की अधिष्ठात्री हैं। इन्हें शिवजी की मानस-पुत्री माना जाता है। ऐतिहासिक ऊहापोह से अनुमान होता है कि 'मनसा' और बौद्ध तंत्र की 'जांगुली तारा' में कोई अन्तर नहीं।[1] मनसा की इतनी मान्यता बंगाल में है, इसका भी कारण यह है कि बौद्ध धर्म का अन्तिम लोप बंगाल में पाल राजाओं के समय में सिमिटकर हुआ था। बौद्ध धर्म का महायानीय

१. बौद्धों की 'जांगुली तारा' देवी सर्पदेवी है। एक ध्यानमंत्र में मनसा विषहरी को जांगुली कहा गया है—

'वन्दे शकरपुत्रिकां विषहरीं पद्मोद्भवां जांगुलीम्।'

स्पष्टतः इसमें शंकर-पुत्रिका मनसा को जांगुली कहा गया है। रामाई पंडित के 'शून्य पुराण' में विषहरी स्तोत्र में भी विषहरी को 'जांगुलि' कहा गया है। विप्रदास नाम के कवि ने भी अपने मनसा-मंगल मे मनसा का एक नाम 'जांगुलि' दिया है। इस प्रकार बौद्धों की जांगुली तारा बौद्ध धर्म के लोप के साथ हिन्दू सर्पदेवी मनसा में परिणत हो गयी और केवल कहीं-कहीं ही उसके पूर्व नाम 'जांगुलि' का स्मरण रह गया।

तांत्रिक स्वरूप जिन देवी-देवताओं को पाल-युग में प्रधानता दिये हुए था उन्हीं में जांगुली तारा भी थी। बौद्ध धर्म के लोप के उपरान्त सेन राजाओं के राजत्व ग्रहण करने पर हिन्दू धर्म के पुनरभ्युदय ने बौद्ध धर्म के इन देवी-देवताओं को हिन्दू रूप प्रदान कर दिया। इसी युग में जांगुली तारा 'मनसा' बन गयीं। ऐसा ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में हुआ होगा[१]।

दो-एक शताब्दी उपरान्त मनसा देवी के माहात्म्यविषयक ग्रंथ रचे जाने लगे। मनसामंगल काव्य का प्रथम रचयिता अभी तक हरिदत्त माना जाता है। हरिदत्त के प्रथम कवि होने का पता पन्द्रहवीं शताब्दी के कवि विजय गुप्त के मंगलकाव्य से चला था[२]। कुछ समय पूर्व तक हरिदत्त की

१. पाल राजवंश की समाप्ति और सेन राजवश का आरम्भ ग्यारहवीं शती की घटना है।

२. विजयगुप्त ने हरिदत्त के संबंध में यह लिखा है—

(क) "प्रथमे रचित गीत काना हरिदत्त,
हरिदत्तेर जत गीत लुप्त हइल काले,
जोड़ा गांथा नाहि किछू भावे मोरे छले,
कथार संगति नाइ नाहिक सुस्वर,
एक गाइते आर गाय नाहि मित्राक्षर,
गीते मति ना देय केह मिछा लाफ फाल,
देखिया शुनिया मोर उपजे बे ताल।"

× × ×

'मूर्ख रचिल गीत ना जाने माहात्म्य।'

(ख) पहले काना हरिदत्त ने गीत की रचना की। कालान्तर में उनके सभी गीत लुप्त हो गये। परवर्ती कवियों में न तो तुकबन्दी ही रही और न भावों की गंभीरता ही। न तो इनकी भाषा में संगति है न इनकी वाणी में मधुरता। गाना चाहिए कुछ परन्तु यह गाते हैं कुछ। न इनको मित्राक्षर आदि का ही ज्ञान है। यह कविगण गीत मन से नहीं गाते। केवल व्यर्थ ही उछल-कूद करते हैं। यह सब देखकर मेरा मन खिन्न हो उठता है।

रचना का कोई पता नहीं चला था। इधर के नये अनुसंधानों से कुछ ऐसे पदादि मिले हैं जिन्हें हरिदत्तकृत माना जा सकता है।[१]

यद्यपि विजय गुप्त ने हरिदत्त की रचना के लुप्त हो जाने की बात लिखी है, फिर भी स्वयं विजय गुप्त ने हरिदत्त के गीत की जो आलोचना की है, उससे यह विदित होता है कि विजय गुप्त उस गीत से परिचित था। उधर पुरुषोत्तम नामक गायक ने लिखा कि वह हरिदत्त के गीत गाता है। अतः हरिदत्त-रचित गीत, विजय गुप्त के समय में ही नहीं, उसके बाद भी प्रचलित थे। विजय गुप्त के उल्लेख का यही अर्थ लगाया जा सकता है कि हरिदत्त का गीत पुस्तक रूप में लुप्त हो गया होगा, गायकों के कण्ठ पर बिराजता होगा।

आज तो उनके कितने ही पद मिलते हैं जिनसे विदित होता है कि हरिदत्त सुकवि थे। मनसामंगल के कवियों ने चाँद-बेहुला वृत्त को अपनाया है।

१. हरिदत्त की रचनाओं के संबंध में कहा जा सकता है कि विजय गुप्त के परवर्ती पुरुषोत्तम ने जो गीत गाया वह हरिदत्त का ही था, क्योंकि उसने स्वयं लिखा है—

(क) 'काना हरिदत्त हरिर किंकर
मनसा हउक सहाय,
तांर अनुबंध लाचारीर छंद
कवि पुरुषोत्तम गाय।

(ख) काना हरिदत्त हरि का दास है और मनसा देवी उनकी सहायक हैं। उनके विरचित अनुबंध और लाचारी के छन्द कवि पुरुषोत्तम गाते हैं।

दास हरिदत्त की छाप से 'कालिका पुराण' भी मिला है। अनुमान होता है कि यह भी इन्हीं हरिदत्त की कृति है। नारायणदेव के मनसामंगल में भी एक पद 'हरिदत्त' का है, इसमें भी हरिदत्त ने 'दास' लिखा है। मैमनसिंह क्षेत्र में हरिदत्त के काफी पद मिले हैं। ढाका विश्वविद्यालय के प्राचीन पोथीखाने में आठ 'मनसामंगल' सुरक्षित हैं। इनमें से छः में कुछ पद हरिदत्त के हैं, बाद की दो प्रतियों में इन्हें विजय गुप्त का बताया गया है। फलतः वे पद मूलतः हरिदत्त के हैं।

प्रथमतः तो यह मनसा-माहात्म्य से संबंधित है। मनसा की शक्तिमत्ता दिखायी गयी है। किन्तु इस समस्त माहात्म्यसूत्र का मूल है मनसा-पूजा तथा शिव-पूजा के अनुयायियों का संघर्ष। मनसा अपनी प्रतिष्ठा कराना चाहती है, वह प्रतिष्ठा उसे तभी मिल सकती है जब कि प्रमुख शैव चाँद सौदागर उसे पूजा देने लगे। चाँद से पूजा प्राप्त करने के लिए मनसा क्रूरता और करुणा के शाप और वर लिये बार-बार चाँद को विवश करना चाहती है। अन्त में सती बेहुला के द्वारा मनसा की अभिलाषा पूर्ण होती है। स्पष्ट है कि शिव-पूजा के स्थान पर मनसादेवी की पूजा की प्रतिष्ठा के संघर्ष का ही कोई इतिहास लोकवार्त्ता के माध्यम से प्रस्तुत हुआ है।

इसी वृत्त को लेकर हरिदत्त के उपरांत एक दीर्घ कविपरंपरा ने मनसा-मंगल की रचना की। हरिदत्त के उपरांत नारायण देव का नाम उल्लेखनीय है। यह कवि बंगाल और असम दोनों प्रदेशों में लोकप्रिय हुआ है। यह लोकप्रियता इतनी बढ़ी हुई है कि असम नारायण देव को असम का मानना है और बंगाल अपना। दोनों में इस संबंध में पर्याप्त विवाद रहा।[1] नारायण देव ने अपने मंगलकाव्य में अपनी रचना के लिए किसी आदर्श का उल्लेख नहीं किया। उनकी इस कृति में तीन खंड हैं। प्रथम खंड में कवि-परिचय, देवस्तवन आदि हैं। द्वितीय खण्ड में पौराणिक आख्यान है और तृतीय खण्ड में 'चाँद बेहुला' कथा है। द्वितीय खण्ड ही प्रधान है। इसी से नारायण देव का अपरिमित पुराण-ज्ञान विदित होता है। इसमें महाभारत के आस्तीक पर्व, शैव पुराण तथा कुमारसंभव से सामग्री ग्रहण की गयी है। चाँद-बेहुला

१. विजय गुप्त की तिथि-पुष्पिका का एक पाठ यह है--

ऋतु शून्य वेद शशी परिमित शक,
सुलतान हुसेन साहा नृपति तिलक।

इससे शक संवत् १ (शशी) ४ (वेद) ० (शून्य) ६ (ऋतु (१४०६) अर्थात् १४९४ ईसवी आता है। दूसरा पाठ माना छाया शून्यदेव शशि, अन्य है ऋतु शशि वेद शशि। पहले से १४०० शक या १४३८ ई०, दूसरे से १४१६ शक, १४९४ ई० बैठता है।

कथावाला खण्ड गौण है। इसमें करुण रस का परिपाक अच्छा हुआ है। कवि की दृष्टि मार्मिक स्थलों को चुनने में अच्छी है।

नारायण देव के उपरांत विजय गुप्त का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने हरिदत्त की रचना का अनुसरण किया है। इन्होंने अपनी कृति में जहाँ अपना परिचय दिया है, वहीं रचनातिथि भी दी है, किन्तु उस पुष्पिका की कई प्रतियों मे पाठान्तर मिलता है। ठीक पाठ एक भी प्रति में नहीं। परीक्षा से यदि ठीक पाठ निर्धारित किया जाय तो इस मगल का रचनाकाल १४९४ ई० निर्धारित होगा। विजय गुप्त को उच्च कोटि का कवि नही कहा जा सकता, फिर भी तत्कालीन बंगाली समाज के चित्र सुन्दर दिये हैं, साथ ही कही-कहीं करुण-रस के छींटे भी अच्छे मिलते है।

विजय गुप्त के इस मंगल का दो दृष्टियों से विशेष साहित्यिक महत्त्व है। अव तक बगाली काव्य में पयार तथा लाचारी छंद का ही उपयोग होता था, विजय गुप्त ने कई नये प्रयोग भी प्रस्तुत किये। दूसरे व्याजस्तुति अलंकार का सर्वप्रथम सुन्दर प्रयोग भी विजय गुप्त के मंगल में मिलता है।

विप्रदास

विप्रदास-लिखित मंगलकाव्य की दो प्रतियाँ ही प्राप्त हुई है। दोनों ही खंडित है। जो सबसे बड़ी प्रति है उसमें चाँद सौदागर के वाणिज्यार्थ प्रस्थान करने तक की कहानी है। मनसामंगल काव्य की मुख्य कथा है 'बेहुला-लक्ष्मीन्द्र' की। वह कथा इसमें नही मिलती। जो प्रतियाँ प्राप्त हैं उनसे इसकी भाषा भी बहुत आधुनिक प्रतीत होती है। इस मंगलकाव्य मे रचनाकाल भी दिया गया है—

सिन्धु (७) इन्दु (१) वेद (४) मही (१) शक परिमाण,
नृपति हुसेन शा गौड़ेर सुलतान।

अर्थात् १४१७ शकाब्द तथा १४९५ ई०।

समस्त कृतित्व पर दष्टिपात करने से यही विदित होता है कि यह रचना संदिग्ध है। १५वीं शताब्दी की यह हो ही नहीं सकती।[1] विदित यह होता

१. कालविषयक पुष्पिका के आरम्भ में यह भी दिया है—
शुक्ला दशमी तिथि वैशाख मासे,

है कि विप्रदास-रचित मूल काव्य लुप्त हो गया है, या उसकी भूमि पर उसके कुछ अंशों को लेकर किसी अन्य व्यक्ति ने आधुनिक काल में उसे प्रस्तुत किया है, पर वह उसे पूर्ण नहीं कर सका।

सन् १५५३ ई० में गंगादास सेन[1] का पता लगता है। इन्होंने भी एक मनसा-मंगल लिखा, वह अपूर्ण ही मिलता है।

द्विज वंशीदास 'मनसा मंगल' काव्य के कवियों में श्रेष्ठतम हैं। प्राप्त हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों में इनके मंगल या पद्मापुराण का रचनाकाल नहीं दिया हुआ है। कुछ मुद्रित प्रतियों में काल-सूचक पुष्पिका मिलती है, उसके अनुसार १५७५ ई० में इन्होंने 'पद्मापुराण' की रचना की, किन्तु इनकी इस कृति में कुछ उल्लेख ऐसे है जिनकी ऐतिहासिकता १५७५ ई० के लगभग

शिर रे वसिया पद्मा कैला उपदेशे।

विप्रदास-लिखित इस कृति पर कई संदेह हैं—१. कहानी में 'बेहुला लखीन्दर' कथा नहीं दी गयी। अतः यह अधूरी है। यही नव पालों में है, जब कि आरम्भ में संक्षेप देते हुए इसमें लिखा है—

संक्षेपे पद्मार व्रत कहिल मंगल गीत—
विस्तारे कहिब सप्त निशि।

अतः इस लेख से विदित होता है कि यह सात पालों में लिखी गयी। सामान्यतः मनसा-मंगल काव्य कम से कम आठ पालों में रहते हैं। फिर यहाँ संकल्प तो सात पालों का है और मिलते हैं नौ पाल। वैशाख शुक्ल दशमी को पद्मा का आदेश भी परम्परा से समीचीन नहीं, उस पर भी भाषा आधुनिक और कहानी अधूरी।

१. गंगादास सेन ने महाभारत के अश्वमेध पर्व का बंगाली अनुवाद किया था, उसी में उन्होंने उसका रचनाकाल दिया है। प्राप्त ग्रंथ में वह लिपिकार द्वारा भ्रष्ट लिखा गया है, उस पुष्पिका का रूप यह होता है—

'शर (५) मुनि (७) वेद (४) शनी (९) शक गणित'

शकाब्द ५७४१=१४७५।

इससे कुछ पूर्व या कुछ पश्चात् ही कभी 'मनसामंगल' लिखा गया होगा।

की नही सिद्ध होती।[1] अतः इन्हें १७वीं शताब्दी के मध्य का कवि माना जाता है।

द्विज वंशीदास अत्यन्त लोकप्रिय कवि रहे हैं। आज तक भी इनका घर-घर में आदर है। विविध संस्कारों के अवसरों पर आज भी इनके गीत गाये जाते हैं। इनके इस 'मंगलकाव्य' में एक विशेषता तो यह है कि मनसा-मंगल काव्य की परिपाटी के विरुद्ध इन्होने 'चाँद सौदागर' को शिव का भक्त नहीं बताया, चंडी का, अर्थात् शिव की पत्नी का, भक्त बताया है। चंडी के आदेश से ही चाँद सौदागर मनसा को मान्यता नहीं देता। इसी भूमि पर चाँद सौदागर के चरित्र में कठोरता के साथ एक अभूतपूर्व दृढ़ता की संयोजना द्विज वशी ने कर दी है। उधर बेहुलाविरह में करुण रस भी सशक्त है।[2]

सहज निराभरण भाषा में गंभीर भावानुभूति अभिव्यक्त करने में कवि अद्वितीय है, इसी से उसकी रचना हृदय को स्पर्श कर लेती है।

सत्रहवीं शताब्दी मे सन् १६९७ में कालिदास ने भी मनसामंगल काव्य लिखा। यह एक सामान्य रचना है।

१. जिन उल्लेखों के कारण इन्हें १५७५ के लगभग का नहीं माना जाता, उनमें से एक है—हाजरादि परगने का उल्लेख। हाजरादि परगने का नामकरण ईशाखां ने १५८६ और १५९५ के बीच किया था। अतः १५७५ में हाजरादि का उल्लेख नहीं हो सकता था। दूसरे फिरंगियों-मग-फिरंगियों का बन्दूक-पलीते के साथ उल्लेख मिलता है। १५७५ में बंगाल में फिरंगियों का उल्लेख भी इतिहास-विरुद्ध है।

२. द्विज वंशीदास के संबंध में कई चमत्कारिक अनुश्रुतियाँ हैं। एक से इनके काव्य की हृदयस्पर्शिता सिद्ध होती है। वंशीदास ने कीर्तनमंडली की तरह एक मंडली बनायी थी। वृद्धावस्था में यह मंडली एक बार कीर्तनार्थ कहीं जा रही थी, तभी वे नरहंता डाकुओं के हाथ में पड़ गये। मृत्यु सम्मुख देख वंशी ने अन्त में डाकुओं से गीत गा लेने की अनुमति माँगी। उसके बेहुला गान के करुण रस के प्रभाव से डाकुओं का हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने वंशी को तो छोड़ ही दिया, कहते हैं, दस्युवृत्ति भी छोड़ दी थी।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में मनसा-मंगल काव्य का एक और श्रेष्ठ कवि हुआ जिसका नाम है क्षेमानन्द। क्षेमानन्द ही केतकादास हैं। केतका का अर्थ क्षेमानंद की दृष्टि में मनसा है।[1] ये मनसा देवी के भक्त थे। इनकी इस रचना में उच्चकोटि का कवित्व मिलता है। इनका मंगल ही सर्वश्रेष्ठ है। भाषा परिमार्जित है। मनसा-मंगल की एक और छोटी कृति भी क्षेमानंद के नाम से मिलती है। किन्तु ये क्षेमानंद कोई और ही हैं। इन्हें लघु क्षेमानन्द कह सकते हैं। ये अठारहवीं शती से पूर्व के नहीं हो सकते।

जगज्जीवन घोषाल भी सत्रहवी शताब्दी के अन्तिम चरण में हुए। इनका मनसामंगल एक बड़ा ग्रंथ है, किन्तु साधारण कोटि का है। दो खण्डों में है, पहला देवखण्ड है, दूसरा चाँद-बेहुला विषयक है।

१. केतकादास अथवा क्षेमानंद ने मनसा-मंगल रचना का कारण बताते हुए कुछ आत्मवृत्त भी दिया है। केतकादास के पिता शंकर मंडल की अपने स्थानीय जमींदार से खटक गयी। वह अपना गाँव छोड़कर तीनों लड़कों और पत्नी को लेकर दूसरे जमींदार के यहाँ चले गये। वहाँ एक दिन माँ के कहने से केतकादास अपने छोटे भाई अभिराम के साथ तालाबसे चारा लेने गये। वहाँ कुछ लड़के मछलियाँ पकड़ रहे थे, उनसे झगड़ा हो गया। केतकादास ने उनकी मछलियाँ छीनकर अभिराम को दीं, और उसे घर भेज दिया। केतकादास आगे खेत में पहुँचे और चारा काटने लगे। तभी कुछ आँधी-सी आयी, धूल उठी और उन्होंने अपने सामने एक चमारिन को खड़े देखा। चमारिन ने उनसे कहा कि क्या यह सुन्दर वस्त्र खरीदोगे। केतकादास कुछ कह पायें इससे पहले ही उस स्त्री ने वह कपड़ा अपने कपड़ों में टाँक लिया। तभी केतकादास के पैर में चींटी के काटने का-सा दर्द हुआ। उन्होंने नीचे देखा और जब आँखें ऊपर उठायीं तो देखा कि चमारिन तो वहाँ थी नहीं, वहाँ साक्षात् मनसा खड़ी थीं, शतशः सर्पों से युक्त। मनसा ने केतकादास से कहा कि तुम 'मनसामंगल' की रचना करो और गाओ। मनसा की इस आज्ञा से ही केतकादास ने मनसा-मंगल की रचना की।

मनसामंगल काव्य के शेष लेखक ये हैं—

षष्ठीवरदत्त
रामजीवन
जीवन मैत्र
द्विज रसिक
विष्णुपाल
वाणेश्वर राय
जगमोहन मित्र (१८४४ ई०)
द्विज कालीप्रसन्न (१८६० ई०)
राधानाथ राय चौधरी (१९वीं शती अंतिम चरण)

षष्ठीवरदत्त सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के कवि प्रतीत होते हैं। इन्होंने अपनी कृति में अपना कोई परिचय नहीं दिया। हाँ, अपने एक ज्येष्ठ भ्राता का उल्लेख किया है। कुलपंजिका से इन बड़े भाई का नाम हृदयानंद निर्धारित किया गया है। ये हृदयानंद अच्छे गायक थे, संभवतः अपने छोटे भाई के काव्य को ही ये गाते थे, इसी कारण कहीं-कहीं इनकी 'भणिता' या छाप भी षष्ठीवरदत्त के काव्य में मिलती है। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने यह माना था कि षष्ठीवरदत्त और हृदयानन्द एक ही कवि है। किन्तु आधुनिक अनुसंधान से यह सिद्ध नहीं होता। हृदयानन्द इनके बड़े भाई थे। इनके वंशज आज भी विद्यमान हैं। षष्ठीवरदत्त के केवल एक कन्या थी। षष्ठीवरदत्त की उपाधि 'गुणराज खाँ' थी।[1] षष्ठीवरदत्त दत्तवंश के

१. 'गुणराज खाँ' उपाधिधारी कई कवि मिलते हैं। किन्तु प्रथम हैं मालाधर वसु। इन्हें गौड़ के सुलतान शमसुद्दीन यूसुफ ने यह गुणराज खाँ की उपाधि दी थी। यह पंद्रहवी शती की बात है। शिवानंद कर नाम के एक कवि की उपाधि भी 'गुणराज खाँ' मानी जाती है। हरिदास राय नाम के एक कवि के भजनों में भी 'गुणराज खाँ' उपाधि की छाप मिलती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि षष्ठीवरदत की भी यही उपाधि थी।

थे, इन्होंने केवल मनसा-मंगल लिखा। ये षष्ठीवर सेन से, जो गंगादास सेन के पिता थे और १५वीं शती में थे, भिन्न हैं।[1]

षष्ठीवरदत्त श्रीहट्ट क्षेत्र के अत्यन्त लोकप्रिय कवि हुए हैं, किन्तु इन पर उसी क्षेत्र के पूर्ववर्ती प्रसिद्ध कवि नारायण देव का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

१. यह भिन्नता तो षष्ठीवरदत विषयक बाह्य प्रमाणों से विदित हो ही जाती है——

षष्ठीवर सेन——सेन वंश के	षष्ठीवरदत्त— दत्तवंश के
,, ——विक्रमपुर दीनारदि गाँव के	,, श्रीहट्ट जिले के गजगड़ गाँव के
,, ——रामायण, महाभारत के अनुवादक	,, मनसामंगल के लेखक
,, निम्नलिखित भणिता मिलती है— पांचाली प्रबन्धे पोथा रचित संसारे। नारायण पर तले मने षष्ठी वरे।	,, इनकी भणिता का प्रायः सर्वत्र एक रूप है, जो यों है— कहे षष्ठीवर कवि—— कण्ठे भारती देवी सरस्वती (किंवा विषहरी) जारे दिला वर। या आपने शंकर दिला वर।
,, के पुत्र थे प्रसिद्ध कवि गंगादास सेन आदि।	,, के कोई पुत्र नहीं था। केवल कन्या थी

इनकी कृति सभी प्रभावों से मुक्त एक स्वतन्त्र रचना है। इनकी दी हुई कथा में कई बातें सबसे भिन्न मिलती हैं। यथा बेहुला की माता का नाम कमला, चाँद सौदागर की यात्रा का स्थान लंका, नदी का नाम गंडकी आदि किसी अन्य मनसा-मंगल में नहीं मिलते। इनका यह काव्य तीन खंडों में है —१. दैत्य खण्ड, २. वाणिज्य खण्ड, ३. स्वर्गारोहण खण्ड। स्वर्गारोहण खण्ड में कवि ने अपनी मौलिकता का अच्छा परिचय दिया है। यहाँ तक सत्रहवीं शताब्दी के मंगल काव्यों का उल्लेख हुआ। शेष वाणेश्वर राय तक १८वीं शती के कवि हैं।

रामजीवन ने १७०३ में मंगल काव्य की रचना की।

इसी अठारहवीं शताब्दी में १७४४ ई० में जीवन कृष्ण मैत्र या जीवन-मैत्र ने मनसा-मंगल की रचना की। इनका मनसा-मंगल पांडित्य से बोझिल है। भाषा भी सहज बोधगम्य केवल कहीं-कहीं ही है। अधिकांशतः अलंकार आदि के कारण काव्यानुभूति कुंठित हो गयी है। कहानी में भी कुछ वैचित्र्य है। एक वैचित्र्य तो नामों में ही है। इसमें बेहुला का नाम बेललि है, उसके पिता का नाम है वाहो सौदागर, माता का नाम मेनका। भ्राता हैं शंखधर। इस मंगल में दो खण्ड है—देवखण्ड और वणिकखण्ड। देवखण्ड संस्कृत पुराणों के अनुकरण पर नग्न शृंगार से युक्त है। लोककथा वाला वणिकखंड भी कुछ अद्‌भुत नयी कथाओं से युक्त है, जैसे एक कथा यों है—बेहुला पति के शव के साथ जा रही है। मार्ग में सौदागर भाई मिल गया। वह बहिन को पहचान नहीं सका और उसके सौन्दर्य को देख प्रेम-प्रस्ताव कर बैठा। तब बहिन ने अपना परिचय दिया, जिससे शंखधर अत्यन्त लज्जित हुआ, आदि।

इसी कवि की एक रचना 'उषाहरण' भी मिलती है। वस्तुतः यह पृथक् कृति नहीं, मनसामंगल का ही एक अंश है, जो पृथक् ग्रंथ रूप में बाद में प्रचलित हो गया।

द्विज रसिक को अठारहवीं शती के अन्त या उन्नीसवीं शती के आरंभ का कवि माना जा सकता है। इनके मनसामंगल पर रामायण तथा धर्ममंगल काव्य के प्रसंगों का प्रभाव है। कई प्रसंग इन दोनों से इस मंगल में सम्मिलित कर लिये गये हैं।

विष्णुपाल का मनसामंगल भाषा की दृष्टि से अधिक प्राचीन नहीं लगता। विष्णुपाल को १८वीं शताब्दीं के अन्त या १९वीं के आरम्भ में रखा जा सकता है। इनका मनसामंगल वीरभूम के क्षेत्र में बहुत प्रचलित है। यह मंगल चंडीमंगल की प्रणाली पर आठ पालों में विभक्त है और जैसे चंडी-मंगल इन आठ पालों के कारण 'अष्टमंगल' कहा जाता है, वैसे ही विष्णुपाल का यह मंगल भी 'अष्टमंगल' गाना कहलाता है। इस मंगल में छंद-प्रयोग में शैथिल्य मिलता है, तथा वैविध्य भी है। काव्य भी उच्च कोटि का नहीं।

वाणेश्वर राय का मनसामंगल इस कारण महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि इसमें बेहुला का चरित्र-चित्रण यथार्थ दृष्टिकोण से हुआ है। ऊपर जिन अन्य कवियों का उल्लेख किया गया है वे सभी उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग तक के हैं।

चंडी-मंगल

यदि ऐतिहासिक दृष्टि से विविध लोक-देवी-देवताओं के महत्त्व की बात देखें तो विदित होगा कि शिव अत्यन्त प्राचीन हैं। बौद्ध प्रधानता के कारण वे पीछे पड़ गये और बौद्ध धर्म के लोप होने पर वे कुछ-कुछ पुनः उभरे। किन्तु इसके साथ ही समाज के निचले स्तर के लोक-देवताओं ने भी ऊपर उठने का प्रयत्न किया। धर्मठाकुर मूलतः डोमों के देवता बने हुए थे और अब वे भी धीरे-धीरे ऊँचे स्तर पर पहुँचे। बौद्धों के ह्रास के उपरान्त इनका ही विशेष महत्त्व प्रतीत होता है। धीरे-धीरे 'मनसा' की मान्यता बढ़ने लगी। धर्म के बाद मनसा को ही अधिक आदर मिला। किन्तु चंडी के उत्कर्ष ने इन दोनों को भी दबा दिया। जिस प्रकार धर्मठाकुर और मनसा का मूल संबंध बौद्ध धर्म के ह्रासयुगीन देवी-देवताओं से बैठता है, उसी प्रकार 'चण्डी' का संबंध भी बैठता है।[1] ये सभी मंगल काव्य बौद्ध-ह्रास-युग के

१. चंडीमंगल के सृष्टिकाव्य से चंडी आद्या शक्ति है। यह वही आद्या है जो धर्ममंगल के सृष्टितत्त्व में भी आती है, और इसका संबंध बौद्ध आद्या से है। इस प्रकार यह मूलतः बौद्ध देवी है जो पौराणिक

देवी-देवताओं के हिन्दू रूपान्तरण के उपरान्त के माहात्म्य काव्य हैं, और सभी में मर्त्यलोक में देवताओं के द्वारा अपनी-अपनी प्रतिष्ठा पाने के उपायों की कहानी का उल्लेख है। प्राय: सभी का उद्भव दसवीं से बारहवीं शती के बीच में हुआ, और सोलहवीं से काव्य में उत्कर्ष प्राप्त कर सब अपनी-अपनी पुष्ट परंपरा बना आज तक किसी न किसी रूप में ये अपना अस्तित्व बोध कराते रहे हैं और उनके कवि बँगला साहित्य को समृद्ध करते रहे हैं।

चंडीमंगल के प्रथम कवि को भी तेरहवीं शती का माना जाता है। चंडी-मंगल काव्य के प्रवर्त्तन का श्रेय माणिकदत्त नाम के कवि को दिया जाता है। माणिकदत्त-रचित एक हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त हुआ है। किन्तु वह सोलहवीं शताब्दी से पूर्व की कृति नहीं मानी जा सकती। इसमें पर्याप्त प्रक्षिप्त अंश मिलते हैं। प्रतीत यह होता है कि चंडीमंगल के आदि कवि माणिकदत्त की रचना में परवर्ती काल में प्रक्षिप्तांश मिला दिये गये।

माणिकदत्त के आत्म-परिचय से विदित होता है कि ये पहले काने और खोंड़े थे। स्वप्न में देवी ने इन्हें अष्ट-मंगल लिखने का आदेश दिया। देवी की कृपा से इन्हें काव्य-शक्ति मिली तथा इनके शरीर-दोष भी दूर हो गये। इन्होंने एक मगल-गानमंडली स्थापित की और स्थान-स्थान पर चंडीमंगल गाने लगे।

इनके मंगल में सृष्टितत्त्व का वर्णन धर्ममंगलों के अनुरूप बौद्ध-नाथ संप्रदायानुसार है और यह तत्त्व आद्या शक्ति चंडी के जन्म की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। इनका मंगल काव्य गेय था,बाद में भी गाया जाता रहा, किन्तु

चंडी हो गयी है। किन्तु चंडीमंगल में दो स्वतंत्र कहानियाँ आती हैं। एक है 'कालकेतु' की। यह कालकेतु वाली कहानी की चंडी भी व्याधों की स्वतंत्र देवी प्रतीत होती है। यह 'धनपति' आख्यान की देवी से भिन्न है। अत: आदिम निवासियों के एक वर्ग की देवी बौद्ध आद्या से मिलकर पौराणिक चंडी के साथ आधुनिक चंडी बनी है। यह मेल बारहवीं और तेरहवीं शती में संपन्न हुआ होगा।

अन्य गायकों ने इसमें इनके बाद के एक प्रसिद्ध कवि मुकुन्दराम के पद भी मिला दिये।

इस मंगल काव्य में कालकेतु और धनपति दोनों की कथा विद्यमान है। इस कवि का प्रधान लक्ष्य कथा कहना ही है। यह चरित्र-विकास पर कोई ध्यान नहीं दे सका। छंद आदि भी शिथिल ही हैं।

माणिकदत्त के उपरांत द्विज माधव का नाम आता है। इनका यह मंगल काव्य १५७९ ई० में रचा गया।[१] ये द्विज माधव श्रीकृष्ण-मंगल काव्य के रचयिता से भिन्न हैं।[२] द्विज माधव ने अपने इस चंडीमंगल को कई स्थान पर शारदामंगल भी कहा है।[३] द्विज माधव अपने युग के प्रथम श्रेणी के कवि हैं। सहज और निरलंकार भाषा में भाव जगमगाते दीखते हैं, बंगाली जीवन के घरेलू चित्र यथार्थता लिये हुए हैं। चरित्र-परिचय मार्मिक है। निर्विकार भाव से काव्य-वस्तु का प्रतिपादन इस कवि ने किया है, फिर भी सहज सहानुभूति सर्वत्र व्याप्त है।

मुकुंदराम चंडीमंगल परम्परा के अपने युग के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनका रचनाकाल १५९४ या १५९५ के लगभग प्रतीत होता है।[४]

१. द्विज माधव ने अपने मंगल काव्य में तिथि का उल्लेख किया है। जिन दो पदों में तिथि का उल्लेख है, वे पद सभी प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में हैं, अतः प्रामाणिक माने जा सकते हैं——वे हैं——

इन्दु (१) विन्दु (०) वाण (५) धाता (१) शक नियोजित,
द्विज माधव गाय शारदा चरित।

इससे १५०१ शक संवत् आता है जो १५७९ ई० सन् होता है।

२. द्विज माधव जो श्रीकृष्णमंगल के लेखक हैं।

३. यथा——'द्विज माधव गाय शारदा-मंगल।'

४. यों तो इनके कुछ ग्रंथों में रचनाकाल-विषयक पुष्पिकाएँ भी मिलती हैं, पर वे सभी अप्रामाणिक हैं। एक पुष्पिका है——

"शाके रस रस वेद शशांक गणिता, कत दिने दिला गीत हरेर बनिता।"

इससे १४९९ शकाब्द या १५७७ ई० काल आता है। यह पुष्पिका मुद्रित प्रतियों में है। दूसरी पुष्पिका यों है——

इस कवि की उपाधि थी 'कविकंकण'। मुकुंदराम का चंडीमंगल जहाँ-तहाँ कवि की अपनी निजी जीवन-कथा के उल्लेखों से भी युक्त है। यह एक अभिनव तत्त्व इस कवि ने काव्य में गूँथा है। इससे मंगल काव्य के चरित्रों में सच्ची जीवन-अनुभूति अभिव्यक्त हुई है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से कालकेतु का व्यवहारी वनिया मुरारी शील तो मुकुंदराम की अनोखी सृष्टि है। इसी प्रकार ईर्ष्यालु मांडूदत्त का चरित्र-चित्रण भी अद्भुत है। मुकुंदराम 'कवि-कंकण' के सम्बन्ध में डा० श्रीकुमार बनर्जी का मत उद्धृत करना समीचीन प्रतीत होता है।

"मुकुन्दरामेर कवि कंकण-चण्डी ते, स्फुटोज्ज्वल, वास्तव चित्रे, दक्ष चरित्रांकने, कुशल घटनासन्निवेशे ओ सर्वोपरि, आख्यायिका ओ चरित्रेर मध्ये एकटि सूक्ष्म ओ जीवन्त सम्बन्ध स्थापने, आमरा भविष्यत कालेर उपन्यासेर वेश सुस्पष्ट पूर्वाभास पाइया थाक। मुकुन्दराम केवल समयेर प्रभाव अनिक्रम करिते अतीत प्रथार सहित आपनाके संपूर्ण विच्छिन्न करिते, अलौकिक-तार हात हइते सम्पूर्ण मुक्ति लाभ करिते पावेन नाइ बलियाइ एक जन खाँटि औपन्यासिक हइते पाबेन नाइ। दक्ष औपन्यासिकेर अधिकांश गुणइ ताँहार मध्य वर्त्तमान छिल। एइ जुगे जन्म ग्रहण करिले तिनि जे कवि ना हइया एक जन औपन्यासिक हइतेन, ताहाते संशयमात्र नाइ।"[1]

अष्ट मंगला साय श्री कविकंकण गाय,
अमर सागर मुनि वरे।

इससे १४७७ शक आता है, अर्थात् १५५५ ई० (अमर=१४, सागर तथा मुनि=७७)। ये दोनों तिथियाँ इसलिए अप्रामाणिक हैं कि ग्रंथ में वर्णित राजा मानसिंह के शासनकाल में नहीं पड़तीं।

१. मुकुन्दराम के 'कविकंकण-चण्डी' में यथार्थवादी वास्तविक चित्र, कुशल चरित्रांकन तथा घटनाओं के समावेश में और सर्वोपरि आख्यायिका एवं चरित्र के मध्य एक सूक्ष्म और जीवित सम्बन्ध की स्थापना में हमें भविष्य कालीन उपन्यास की रूपरेखा का पूर्वाभास प्राप्त होता है। मुकुन्दराम चूँकि अतीत से अपना सम्पूर्ण सम्बन्ध विच्छिन्न न कर सके, अलौकिकता के चंगुल से अपने

इससे मुकुन्दराम का साहित्यिक गौरव सिद्ध होता है। इन्होंने भाषा का भी प्रांजल रूप प्रस्तुत किया है।

मुक्ताराम सेन का ग्रंथ-रचनाकाल १६६९ शकाब्द या १७७४ ई० है।[1] इनका ग्रंथ दो भागों में विभक्त है। एक में है कालकेतु की कहानी, दूसरे में है धनपति सौदागर की कथा। दोनों ही प्रायः संक्षेप में दी गयी हैं।

सत्रहवीं शती के अन्तिम चरण में द्विज हरिराम ने भी चंडीमंगल लिखा। ये मुकुन्दराम चक्रवर्ती से प्रभावित थे। इनके काव्य में कथा-वर्णन की ही प्रधानता है।

भारतचन्द्र इस परम्परा के दूसरे श्रेष्ठतम कवि हैं। इन्होंने बंगाली काव्य में प्राण फूँक दिये। भारतचन्द्र का जन्म १७१२ ई० मे हुआ होगा।

को बचा न सके, इस कारण ही वह शुद्ध उपन्यासकार न कहला सके। वैसे एक सफल उपन्यासकार के अधिकांश गुण उनके साहित्य में वर्तमान हैं। यदि वह इस युग में पैदा होते तो अवश्य ही कवि न होकर एक सफल उपन्यासकार होते, इसमें सन्देह की कोई बात नहीं है।

श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय, "वंग साहित्ये उपन्यासेर धारा", कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३९।

१. इनके एक ग्रंथ में तिथि-पुष्पिका इस प्रकार मिलती है—

ग्रह ऋतु काल शशि शक शुभ जानि,
मुक्ताराम सेन भणे भाविया भवानी।

इससे ग्रह=९, ऋतु=६, काल=३ तथा शशि=१, अर्थात् १३६९ शक या १४४७ ई० आता है। यह अन्य प्रमाणों से गलत है। काल के स्थान पर 'काय' होगा, काय=६, इससे १६६९ = १७७४ ई० होता है। यह समीचीन प्रतीत होता है।

चंडीमंगल में दिये गये आत्म-वृत्त से विदित होता है कि—

मुकुन्दराम दामुन्या, पश्चिमी बंगाल के ब्राह्मण परिवार के रत्न थें। पठानों से राज्य छिन जाने पर मुकुन्दराम के संकट के दिन आ गये। इनकी पैतृक भूमि नये शासकों ने दबा ली। इसी भूमि से इनका जीवन-निर्वाह होता

भारतचन्द्र[1] भी राजकुल में उत्पन्न हुए थे। यह भूरसुट या भूरिश्रेष्ठ परगने के एक ब्राह्मण राजवंश की पेंडा ग्रामवाली दूसरी शाखा में पैदा हुए थे। ये छुटपन में मामा के यहाँ गये। वहाँ ताजपुर गाँव की संस्कृत पाठशाला में

था। मुकुन्दराम को विवश होकर अपने पुरखों का गाँव छोड़ना पड़ा। अपने कुटुम्ब के साथ ये अभी कुछ ही दूर गये होंगे कि एक ठग इनका रहा-सहा माल-मत्ता भी ठग ले गया। वहाँ के एक दानी पुरुष ने इनकी सहायता की। तीन दिन वहाँ रुककर ये आगे बढ़े। बहुत लम्बी यात्रा के बाद चार-पाँच नदियों को पारकर ये एक गाँव के पास पहुंचे और बाहर एक ताल के किनारे ठहर गये। कवि ने वहाँ स्नान किया और अपने कुलदेवता गोपाल की पूजा की, कुछ कमलपुष्पों और कमलनाल से। गोद का बच्चा भूखा होने से चावल माँग रहा था, पर इनके पास वहाँ तालाब के पानी के अलावा और क्या था। दुखीमन मुकुन्दराम एक कोने में सिमिटकर बैठे हुए थे कि उन्हें एक झपकी लगी और स्वप्न देखा कि चंडी प्रकट हुई है और आशीर्वाद देकर उन्हें आदेश दे रही है कि 'मेरे विषय में काव्य-रचना करो, तुम्हारा कल्याण होगा।' यह सन् १५४४ की बात है। यहाँ से चलकर ये आड्डा गाँव पहुंचे और वहाँ के बाँकुड़ाराय नामक ब्राह्मण मुखिया के यहाँ उसके छोटे लड़के रघुनाथ के अध्यापक बना दिये गये। यहाँ इन्हें सब प्रकार का सुख था। इस सुख के प्रमाद में ये देवी का आदेश भूल गये। जब इनके घर में एक दुर्घटना घटित हुई तो इन्हें देवी का आदेश याद आया। अब ये काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए और १५८९ के लगभग उसे समाप्त कर दिया। इस समय इनका शिष्य रघुनाथ स्वयं वहाँ का शासक हो गया था। उसके द्वारा उस काव्य के वाचन का प्रबंध हुआ। रघुनाथ को काव्य बहुत पसंद आया। उसने कवि को उपहार-रूप में कंकणों की जोड़ी दी। इसी से ये 'कविकंकण' कहे गये। इसके अतिरिक्त अन्य कई आभूषण तथा सिरोपा और अश्व इन्हें प्रदान किये गये।

१. कवि ईश्वरचन्द्र गुप्त ने १७१२ ई० में इनका जन्म होना लिखा है। उनका आधार है सत्यपीर का रचनाकाल। किन्तु सत्यपीर के रचना-काल के निर्णय में ही भूल हो गयी है। डा० सुकुमार सेन ने भी लिखा है कि ये

संस्कृत शिक्षा प्राप्त की तथा चौदह वर्ष की अवस्था में वहीं शारदा गाँव के घराने की एक बालिका से विवाह भी कर लिया। घर लौटने पर दो कारणों से घर के लोग बहुत असन्तुष्ट हुए। एक तो इसलिए कि ये संस्कृत सीखकर ही आये। बिना फारसी के उस समय कोई आदर नहीं था। दूसरे विवाह कर लाये। घर से परेशान हो भारतचन्द्र ने घर छोड़ देवानन्दपुर के मुंशी रामचन्द्र के यहाँ फारसी सीखने के लिए आश्रय ग्रहण किया। यहीं मुंशीजी के यहाँ भारतचन्द्र ने अपनी प्रथम रचना प्रस्तुत की। मुंशीजी के घर सत्यनारायण की पूजा हुई, उसमें कथा पढ़ने का काम भारतचन्द्र को सौंपा गया। भारतचन्द्र ने स्वरचित पाँचाली या कथा पढ़ सुनायी। यह सत्यपीर की कथा ही उनकी प्रथम कृति है।[१] इन्होंने अन्नदामंगल की रचना सन् १७५२ ई०[२] में नवद्वीपाधिपति कृष्णचन्द्र के सभाकवि बनकर की[३]।

१७१२ के लगभग पैदा हुए, (History of Bengali Literature), पृ० १६४)। डा० दीनेशचन्द्रजी ने १७२२ में माना है। १७१२ के लगभग ही इनका जन्म मानना समीचीन प्रतीत होता है।

१. कुछ का अनुमान है कि भारतचन्द्र घर से भागकर अपने ही एक वंशज हीराराम राय के यहाँ ठहरे थे। वहीं इन्होंने पहले-पहल सत्यपीर की कथा लिखी थी। उनकी मृत्यु के उपरांत ये मुंशी रामचन्द्र के यहाँ फारसी पढ़ने लगे। वहाँ इन्होंने पुनः सत्यपीर की कथा लिखी।

२. अन्नदामंगल की तिथिपुष्पिका यों है--

वेदलये ऋषि रसे ब्रह्म निरूमिला।

सेइ शक एइ गीत भारत रचिला। (४७६१=१६७४ शक)

३. सत्यपीर कथा-रचना और अन्नदामंगल के बीच भारतचन्द्र को कितनी ही घटनाओं से होकर गुजरना पड़ा था। फारसी सीखकर जब ये घर पहुँचे तो इन्हें किसी व्यापार के लिए वर्दवान भेजा गया। वहाँ किसी गोलमाल में इन्हें वर्दवान के राजा ने बंदी बना लिया। कारागार से ये भाग निकले और उड़ीसा पहुँचे। वहाँ से श्रीक्षेत्र में जाकर ये संन्यासी हो गये। संन्यासियों का दल कृष्ण नगर पहुँचा। यहाँ इनके साढ़ू थे।

भारतचन्द्र का अन्नदामंगल या चण्डीमंगल तीन खंडों में रचा गया है। इसके प्रथम खण्ड का ही वास्तविक नाम अन्नदामंगल है। इसे इन्होंने मुकुन्द-राम की कृति के अनुसार रचा। दूसरा खण्ड कालिका मंगल है, जिसमें विद्यासुन्दर की कथा समावेशित है। तीसरा खण्ड मानसिंह के आक्रमण की कहानी है, जिसमें प्रतापादित्य के साथ हुए युद्ध का भी वर्णन है।

भारतचन्द्र के अन्नदामंगल पर कई प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। सबसे बढ़कर पहला प्रभाव तो मुकुन्दराम का है। भारतचन्द्र के अन्नदामंगल की कथावस्तु मुकुन्दराम का अनुकरण करती है। इसी कारण इसमें पौराणिक वस्तु का ही प्राधान्य है, लौकिक का नहीं। इसी को दृष्टि में रखकर स्वर्गीय रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा था कि "गुणाकर पत्रे-पत्रे कविकंकणेर निकट ऋणी। कविकंकणेर कवित्व पत्रे-पत्रे नकल करियाछेन, कविकंकणेर स्वाभाविक सुन्दर वर्णनागुलि अलंकार दिया किंचित् अस्वाभाविक करिया तुलियाछेन। कविकंकणेर काव्य सरल, स्वाभाविक ओ सुपाठ्य, गुणाकरेर काव्य अधिकतर सुललित, किन्तु अस्वाभाविक एवं स्थाने-स्थाने अपाठ्य।"[1] (साहित्य परिषद

उन्होंने पहचान लिया और इनका संन्यास छुड़वा दिया। जब ये काम की खोज में फरास-डाँगा पहुँचे तो वहाँ के एक अधिकारी ने इन्हें कवि और विद्वान् जानकर नवद्वीपाधिपति के यहाँ भेज दिया। नवद्वीपाधिपति ने इनको प्रतिभाशाली समझकर इन्हें सभाकवि बनाया तथा काफी संपत्ति और भूमि भी दी। ४० वर्ष की अवस्था में इन्होने श्लेष-आधारित द्व्यर्थक काव्य नागाष्टक रचा। इसमें रामचन्द्र नाग नाम के एक कारकुन के अत्याचारों का उल्लेख था। इनकी मृत्यु १७६० ई० में हुई।

१. कवि गुणाकर प्रत्येक पद में कविकंकण के ऋणी हैं। उन्होंने कवि-कंकण की पत्र-प्रतिपत्र नकल की है। कविकंकण के स्वाभाविक और सुंदर वर्णनों को अलंकारों का जामा पहनाकर उनकी स्वाभाविकता को नष्ट कर दिया है। कविकंकण का काव्य सरल, स्वाभाविक और सुपाठ्य है। गुणा-कर का अधिकतर सुललित, किन्तु अस्वाभाविक एवं स्थान-स्थान पर अपाठ्य भी है।

.पत्रिका १.१५५)। स्पष्ट है कि मुकुन्दराम के प्रभाव को इसमें कुछ बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया है। कथावस्तु के साथ कहीं-कहीं वाक्य भी मुकुन्दराम से टक्कर लेते हैं, पर उसमें भारतचन्द्र ने अपना शब्द-शिल्प दिखाकर उसे मौलिकता से प्राणान्वित कर दिया है। उदाहरणार्थ मुकुन्दराम के ये चरण—

अनुमति देह हर, जाइब वापेर घर,
यज्ञ महोत्सव देखिवारे।........[1]

भारतचन्द्र ने यों दिये है—

निवेदन शुनह ठाकुर पंचानन,
यज्ञ देखिवारे जाव पितार भवन।[2]

एक ही वर्णन को, एक से कथन को भारतचन्द्र ने भाषा-संस्कार और छंद-सौष्ठव से युक्त कर दिया है। इन वाक्यों के बोलनेवाले व्यक्तियों का चरित्र भी झलक उठता है। मुकुन्दराम के वक्ता में कुछ ग्राम्यत्व स्पष्ट है, भारतचन्द्र का वक्ता शीलयुक्त है। प्रथम की निष्प्राण भाषा, दूसरे की सप्राण, सशील।

अतः भारतचन्द्र को कथावस्तु तथा चरित्रकथन आदि में किसी मौलिकता का श्रेय नहीं दिया जा सकता, किन्तु शब्द-शिल्प में उनकी समानता करनेवाला दूसरा नहीं दिखाई पड़ता। कभी-कभी विद्वानों में यह विवाद होता रहा है कि मुकुन्दराम तथा भारतचन्द्र में कौन बड़ा कवि है? इस सम्बन्ध में कभी एक मत नहीं हो सका, न हो सकता है। दोनों ही बड़े हैं, मुकुन्दराम अनुभूति की अभिव्यक्ति में और भारतचन्द्र शब्द-शिल्प में।

मुकुन्दराम के अतिरिक्त भारतचन्द्र में कहीं-कहीं धर्ममंगल के प्रसिद्ध कवि घनराम का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार भारतचन्द्र के अन्नदामंगल के एक पात्र 'ईश्वरी पाटन' का चित्र मनसामंगल के कवियों से प्रभावित है। ईश्वरी पाटन की मूल प्रेरणा भले ही मनसामंगल काव्य से

१. हे शिवजी! मुझे अनुमति प्रदान कीजिए, मैं पिता के घर यज्ञ महोत्सव देखने जाऊँगी।
२. हे पंचानन! मेरा निवेदन सुनो, मैं पिता के घर यज्ञ देखने जाऊँगी।

इन्हें मिली हो, पर जैसा इस व्यक्ति का चरित्रांकन इस कवि ने किया है, वही केवल चरित्र-चित्रण कला की दृष्टि से भारतचन्द्र की प्रतिभा को प्रशंसनीय ठहराने के लिए पर्याप्त है।

किन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस कवि का महत्त्व शब्द-शिल्प के कारण सर्वोपरि है। भारतचन्द्र ने बँगला भाषा को ग्राम्यता के लांछन से मुक्त करके उच्च क्लासिकल स्तर पर पहुँचा दिया है। यह ठीक ही कहा गया है कि "भारतचन्द्र ताँहार काव्येर विषयवस्तुर जन्य समग्र भावेइ ताँहार पूर्ववर्तीदिगेर पथानुसरण करियाछेन--एकमात्र इहार बहिरंगगत परिचयेर मध्येइ ताँहार निजत्व प्रतिभा मुद्रित करिया दिवार अवकाश पाइयाछेन। ताँहार शब्दशिल्प-कौशल ताँहार काव्येर एइ वहिरंगेरइ अमूल्य अलंकार हइया रहियाछे, एइ विषये केहइ ताँहार निकटवर्ती हइते पारेन नाइ।"[१]

भाषा के साथ ही छंद के विषय में भी भारतचन्द्र की देन अपूर्व है। इन्हीं के हाथों पयार छंद को वह क्षमता और समर्थता मिली जिससे यह बंगाली का अद्वितीय शक्तिशाली छंद बन सका। इन दोनों तथ्यों के संबंध में मोहित-लाल मजुमदार का यह अभिमत समीचीन है कि पयार छंद में "इनि जे मिताक्षर-गाढ़ता वा वाक्संयमेर वाक्पटुता देखाइयाछेन, ताहाते अति सरल सहज भाषाय एकटि उत्कृष्ट क्लासिक्याल स्टाइलेर प्रतिष्ठा हइयाछे।"[२]

जो भी हो, परम्परा ने भारतचन्द्र को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। इनके अन्नदामंगल का विद्यासुन्दर विषयक अंश तो बहुत ही लोकप्रिय हुआ और

१. भारतचन्द्र ने अपने काव्य की विषय-वस्तु के लिए समग्र रूप से अपने पूर्ववर्त्तियों का अनुसरण किया है। अपने काव्य के कलापक्ष के मध्य ही उनको अपनी मौलिकता का परिचय देने का अवसर मिला है। उनका शब्द-शिल्प-कौशल उनकी काव्य-कलापक्ष की अमूल्य देन है। इस क्षेत्र में कोई भी उनके निकट तक नहीं पहुँच सका। बाँगला मंगल काव्येर इतिहास--लेखक डा० आशुतोष भट्टाचार्य, पृष्ठ ४३१।

२. बाँगला कवितार छन्द (१३५४)--लेखक, मोहितलाल मजुमदार, पृष्ठ ९४।

उसके कितने ही अनुकरण हुए। गिनती के कुछ अमर कवियों में भारतचन्द्र भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है।

भारतचन्द्र के उपरान्त चंडीमंगल काव्य की परम्परा के उल्लेखनीय कवि निम्नलिखित हैं—

१. लाला जयनारायण सेन—वैद्य वंश के रत्न-समान इनका कुटुम्ब ही साहित्यिक रुचिवाला था।[१] इन्होंने चण्डीमंगल १७७२ ई० से कुछ पहले ही लिखा होगा।[२] इनके मंगल में भी कवित्व इतना नही जितना पांडित्य है। भाषा भारतचन्द्र से प्रभावित है। इनके मंगल काव्य की कहानी प्राचीन परिपाटी की कालकेतु तथा धनपति विषयक है। भारतचन्द्र का अनुकरण इस कहानी में नहीं। कुमारसंभव का अनुकरण अच्छा है।

२. भवानीशंकर—इन्होंने १७७९ ई० में मंगल लिखा। इसे जागरण पोथी भी कहा जाता है और 'चण्डीमंगल गीत' भी। इनके मंगल पर न तो भारतचन्द्र का प्रभाव दिखाई पड़ता है, न मुकुन्दराम का, द्विज माधव का हो सकता है। यों ये भी संस्कृत के पंडित थे और अनेकों पौराणिक कहानियाँ जहाँ-तहाँ इन्होंने इस मंगल में जोड़ी हैं। भाषा संस्कृत-तत्समता से तथा काव्य अलंकार-प्रियता से भाराक्रान्त प्रतीत होता है। इनकी रचना बृहदाकार है।

१. इनके बड़े भाई रामगति ने बँगला भाषा में "मायातिमिर-चन्द्रिका" और संस्कृत में "योगकल्पलतिका" नामक ग्रंथ लिखे। एक तीसरी कृति इनकी "भवकलह-भंजिका" भी मानी जाती है। इनके छोटे भाई राज-नारायण ने "पार्वती-परिणय" नामक संस्कृत काव्य लिखा। इसे हमारे इस कवि ने "दिव्य सुकाव्य" कहा है। इस कवि की भतीजी, बड़े भाई रामगति की कन्या आनन्दमयी भी कवयित्री थी। इसने इस कवि के "हरिलीला" नामक ग्रंथ की रचना में सहायता भी की थी। आनन्दमयी के कुछ स्वरचित पद भी इस हरिलीला में समाविष्ट है।

२. इस कवि ने चण्डीमंगल में तो अपना कोई परिचय दिया नहीं, पर हरिलीला में रचना काल दिया है जो १७७२ ई० है। अतः अनुमान है कि इससे कुछ पहले ही चंडीमंगल लिखा गया होगा।

३. जनार्दन—जनार्दन राय का मंगल बहुत छोटी रचना है। व्रतकथा की भाँति चंडीमंगल की दोनों कथाएँ अत्यन्त संक्षेप से इसमें दी गयी हैं। इसकी संक्षिप्तता के आधार पर कुछ लोगों ने तो यहाँ तक अनुमान किया है कि इसी रचना के आधार पर द्विजमाधव तथा मुकुन्दराम आदि ने अपने बृहत् काव्य लिखे। पर जनार्दन का यह मंगल इतना प्राचीन तो नही हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि यह बहु प्रचलित रहा है। इस ग्रंथ की अनेक प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं।

चण्डीमंगल परम्परा के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस परम्परा में पहले तो लोक-कहानियों का महत्त्व रहा। धीरे-धीरे पौराणिक प्रभाव बँगला क्षेत्र पर बढ़ता गया, इससे चंडीमंगल काव्य में भी लोक-कहानियों का महत्त्व कम होता गया, पौराणिक आख्यानों का महत्त्व बढ़ता गया। फलतः सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत चण्डी-कथा के कितने ही अनुवाद विविध नामों से हुए और इनका सीधा प्रभाव मंगल काव्य-रचयिताओं पर भी पड़ा। इसी क्रम से ये मंगल काव्य बंगाली लोक-जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति से भी दूर होते गये।

धर्मठाकुर की पूजा का संबंध मूलतः डोमों से था। इनमें धर्मठाकुर के पुजारी ऊँचे उठने के भाव से डोम-पंडित या डोम ब्राह्मण बनने लगे। फिर भी इनके धर्मठाकुर और इनका मंगल काव्य न तो उच्च वर्ग में विशेष उल्लेखनीय स्थान पा सके, न आदर ही। उच्च समाज में धर्मठाकुर से कुछ अधिक मनसा ने स्थान पाया, उसके मंगल काव्य भी ऊँचे उठे। वस्तुतः इन दोनों में से पुराणों का जिससे अधिक संबंध हुआ उसी को उच्चता मिली। नाग-पूजा के माध्यम से मनसा-कथा का सम्बन्ध भी पुराणकथा से हुआ। अतः यह भी उच्च समाज में कुछ अधिक स्थान पा सकी, पर यह बात द्रष्टव्य है कि मनसा की लौकिक कहानी पुराण-कहानी से विलग नहीं हो पायी। चंडीमंगल की दोनों लोक-कहानियाँ एक प्रकार से सर्वतंत्र-स्वतन्त्र कहानियाँ रही, और इनके साथ प्रस्तुत की गयीं पौराणिक कहानियाँ भी इनके साथ स्वतन्त्र रूप में ही जुड़ती रहीं, अतः आगे लोक-कहानी के छूट जाने पर भी पुराण-कहानी बनी रही। इसी लिए चंडीमंगल प्रायः समस्त वर्गों में स्थान पा सका, लोक कहानीवाले वर्ग

में भी और पुराण कहानीवाले अंग में भी। इसी परम्परा में बंगाल के दो प्राचीन उच्चकोटि के कवियों का उद्भव हुआ, मुकुन्दराम का और भारतचन्द्र का। यह इस परम्परा के लिए एक और सौभाग्य की बात हुई। दोनों बंगाली भाषा के गौरव हैं।

अन्य मंगल काव्य

ऊपर जिन मंगल-धाराओं का उल्लेख हुआ है, वे तो प्रधान धाराएँ हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य देवी-देवताओं के भी मंगलकाव्य मिलते हैं। उन्हीं का संक्षेप में यहाँ उल्लेख किया जाता है।

कालिकामंगल––कालिकामंगल काव्य उपर्युक्त मंगल काव्यों से मूल प्रवृत्ति में भिन्न है। उपर्युक्त धर्मठाकुर, मनसा और चण्डी मंगलों के इतिवृत्तों का सम्बन्ध था इन देवताओं के उन प्रयत्नों से, जिनसे इन्होंने अपनी पूजा-प्रतिष्ठा स्थापित करायी। किन्तु कालिकामंगल की कथा केवल कालिका देवी की सहायता का उल्लेख कर उसके प्रति आर्त जन की श्रद्धा जगाती है।

इस कालिकामंगल की कथा कोई पौराणिक कथा नहीं, शुद्ध लौकिक प्रेमकथा है, जो बंगाल में सोलहवीं शती से प्रमुख हो उठी थी। यह कथा है 'विद्या-सुन्दर' की। 'सुन्दर' कालिका देवी की कृपा से एकान्त में विद्या से मिलता है, प्राणदण्ड से बच जाता है और विद्या को प्राप्त कर लेता है। देवी की कृपा के ऐसे विविध रूप दिखाकर कालिका में श्रद्धा पैदा करायी गयी है।

कालिकामंगल के सबसे प्रथम लेखक 'कंक'[१] मानने जा सकते हैं। इनके कालिकामंगल की एक-दो प्रतियों का ही पता चला है। कालिकामंगल के

१. कंक के सम्बन्ध में कुछ अद्भुत कथाएँ मिलती हैं। एक कहानी में उल्लेख है कि कंक के जन्म लेने पर वह मातृ-पितृहीन हो गये, और कोई कुटुम्बी नहीं था। अतः एक चांडाल-चांडाली ने इनको पाला-पोसा। इन्हें बाल्यकाल में गर्ग नाम के ब्राह्मण के यहाँ रखवाली पर नियुक्त कर दिया गया। गर्ग-दम्पति ने बहुत चाहा कि प्रायश्चित्त कराकर कंक को पुनः ब्राह्मणसमाज में सम्मिलित कर लिया जाय, पर समाज ने इसे नहीं माना। कहा जाता है कि गर्ग की पुत्री लीला और कंक में प्रेम हो गया था।

एक उल्लेख से यह विदित होता है कि ये चैतन्य महाप्रभु के समसामयिक थे। इनका काव्य सरल और मधुर है। इनमें भक्तिरस है, शृंगार रस नहीं।

कालिकामंगल के दूसरे कवि श्रीधर हैं। इन्होंने कालिकामंगल १५३२ ई० से पूर्व ही लिखा होगा। ये संस्कृत के पंडित थे। इस मंगल काव्य में बंगला भाषा के साथ कहीं-कहीं संस्कृत श्लोक भी इन्होंने लिखे हैं। इनकी इस रचना में कुछ नामों में भेद भी मिलता है। जैसे सुन्दर के राज्य का नाम है विजयनगरी रत्नावती। विद्या के पिता का नाम वीरसिह, माता का शीला-देवी, राजधानी कांची।

साविरिद खाँ मुसलमान ने भी कालिकामंगल लिखा। इन्होंने अपना और परिचय तो दिया, पर रचना-काल नहीं दिया। विद्वानों ने भाषा-परीक्षा द्वारा यह मत निर्धारित किया है कि ये सोलहवीं शती के बाद के नहीं हो सकते। साविरिद खाँ भी संस्कृतज्ञ थे। इन्होंने यों तो श्रीधर के मंगल का अनुकरण किया है, या किसी ऐसे स्रोत का, जिसका अनुकरण श्रीधर ने भी किया। इन्होंने भी स्थान-स्थान पर स्वरचित संस्कृत श्लोक दिये हैं। इनकी रचना पांडित्य-पूर्ण और अलंकारों से युक्त है।

गोविन्ददास ने १५९५ ई० में कालिकामंगल लिखा। कुछ नामों में इन्होंने भी हेर-फेर किया है। विद्या के पिता को रत्नपुर का राजा बताया है, सुन्दर को कांचन नगर का। मालिन मौसी का नाम रत्ना है, हीरा नहीं।

यह वह कवि है जिसने विद्या-सुन्दर की कहानी को तो गौण महत्त्व दिया है, पर कालिकादेवी के माहात्म्य को प्रमुखता दी है। अतः इसमें भक्ति रस का परिपाक है, शृंगार का नहीं। ये भी पंडित थे, अतः काव्य में पांडित्य की छाप है।

सन् १६६४ ई०[१] में कृष्णरामदास ने कालिकामंगल लिखा। इनकी भाषा यों तो सरल है, फिर भी पांडित्यरहित नही। ग्राम्यता इनकी भाषा में नही है।

१. इनके मंगलरचना-काल की पुष्पिका यों है—

सारसा सानेर नेत्र,
भीमाक्षी वर्जित मित्र,

प्राणराम चक्रवर्ती ने १६६६ ई० में कालिकामंगल लिखा।[1] इनके पिता का नाम मुकुन्दराम था, किन्तु ये कविकंकण मुकुन्दराम के पुत्र नहीं थे।

प्राणराम के उपरान्त बलराम[2] आते हैं। इनकी उपाधि भी कविशेखर है। इन्होंने भी कहानी की अपेक्षा देवी के माहात्म्य को ही प्रधानता दी है। गुप्त प्रणय के वर्णन में इन्होंने भी संयम से ही काम लिया है। यों तो बलराम भी पंडित ही हैं, किन्तु अन्य पंडित-कवियों की भाँति इनकी रचना पांडित्य से दबी हुई नहीं है।

इन्हीं के उपरान्त अठारहवीं शती के प्रथम चरण में साधक कवि रामप्रसाद आते हैं। ये कौल तंत्राभ्यासी थे, वैसे बाह्यतः वेदान्ती थे। इन्होंने काली को ही विश्वप्रकृति के वैषम्य में भी ब्रह्ममयी अधिष्ठात्री देवी के रूप में देखा। समस्त विश्व-प्रपंच इसी अदृश्य शक्ति की लीला है, तांत्रिक साधना और वेदान्त दर्शन से इनके काव्य में भी आध्यात्मिक भाव प्रतिष्ठित हुआ है।

इन्होंने कालिकामंगल या 'विद्यासुन्दरेर काहिनी' नवद्वीपाधिपति कृष्णचन्द्र के लिए लिखी थी। इनकी इस कृति को इन्हीं के मुख से सुनकर प्रसन्न हो उदारमना महाराज ने इन्हें 'कविरंजन' की उपाधि प्रदान की।[3]

तेजिया ऋषिर पक्ष तवे।
विधुर मधुर नाम,
रचनाते कहिलाम,
बुझ सकल विचारिया समे।

१. रचनाकाल विषयक पुष्पिका यों है—
'वसुद्वय वाण चन्द्र शक निरुपम'
८८ ५ १ = १५८८ शकाब्द।

२. बलराम ने भणिता में कहीं बलराम, कहीं चक्रवर्ती बलराम, कहीं द्विज बलराम नाम दिया है। कहीं-कहीं "कविशेखर" उपाधि का भी प्रयोग है।

३. अपने पिता की मृत्यु के बाद ये नौकरी की खोज में निकले। एक जमींदार के यहाँ मुहर्रिर नियुक्त हुए। यहीं इनमें भावोन्माद जागृत हुआ। ये

इनकी यह 'विद्यासुन्दरेर काहिनी' कालिकामाहात्म्य के लिए नहीं लिखी गयी। इसमें शृंगार रस का उद्दाम और पटु वर्णन है। अत: कहानी की प्रधानता मानी जायगी।

इनकी कृति 'विद्यामुन्दरेर काहिनी' और भारतचन्द्र के विद्यासुन्दर में केवल एक या दो साल का पर-पूर्वी अन्तर प्रतीत होता है। कहते हैं कि इनका विद्यामुन्दर एक-दो वर्ष पूर्व लिखा गया। कोई कहते हैं कि भारतचन्द्र का पहले लिखा गया। दोनों की कृतियों में कुछ साम्य भी प्रतीत होता है। दोनों में ही पूर्ण शृंगार का परिपाक है। कविरंजन संस्कृत के भी पंडित थे। इनके काव्य में उस पांडित्य की छटा जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ती है। भारतचन्द्र राय गुणाकर भी रामप्रसाद के समसामयिक ही थे। भारतचन्द्र राय का उल्लेख चंडी-मंगलकारों में हो चुका है। किन्तु भारतचन्द्र का यथार्थ यश इस विद्यासुन्दर काव्य पर निर्भर करता है। यह विद्यासुन्दर काव्य इनके अन्नदामंगल का ही दूसरा खण्ड है। विद्यासुन्दर की कहानी बंगाल में अत्यन्त लोकप्रिय हुई। भारतचन्द्र ने भी इसमें देवीमाहात्म्य पर ध्यान नहीं दिया, उन्होंने तो अठारहवीं शती के युग-प्रधान कवि की भाँति विद्यासुन्दर कहानी के प्रकृत विषय शृंगार को ही प्रधानता दी है।

इस शृंगार-वर्णन के कारण आधुनिक आलोचकों ने भारतचन्द्र की बहुत भर्त्सना की है। उन्हें नैतिकताविरोधी कहा गया है। किन्तु अठारहवीं शताब्दी

हिसाब-किताब की वही में काली के कीर्त्तन के पद लिखने लगे। जब जमींदार को दिखाया गया तो इन्होंने काली के कीर्त्तन-पद बड़ी तन्मयता से गाये। जमींदार ने इन्हें ३० रुपया मासिक वृत्ति बाँधकर घर लौटा दिया। तभी नवद्वीपाधिपति कृष्णचन्द्र से इनकी भेंट हुई। महाराज इनके काव्य-पाठ से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने इन्हें अपने साथ नवद्वीप ले जाना चाहा। पर विरक्त साधक ने जाना स्वीकार नहीं किया। तब महाराज के लिए इन्होंने "विद्यासुंदर" कहानी रची और सुनायी। इस पर महाराज ने इन्हें 'कविरंजन' की उपाधि प्रदान की और १०० बीघा जमीन इन्हें दे दी।

में काव्य-रुचि का जो स्वरूप था, नाथ-सम्प्रदाय, धर्म ठाकुरमंगल, गीत-गोविन्द तथा तत्कालीन पुराणों ने जिसके परिपाक में योग दिया था, उसी श्रृंगार-रस को अपनी प्रतिभा से भारतचन्द्र ने भी सींचा। विद्यासुन्दर की मालिन 'गोरक्ष मीनचेतन' की योगिनी है जो धर्म ठाकुरमंगल की नयन ही तो है। विद्या-सुन्दर का गुप्त प्रणय वर्णन गीत-गोविन्द, पुराण और कुमार-सभत्र की परम्परा में है। इस परम्परा को ही पुष्ट किया है भारतचन्द्र ने। अतएव अश्लीलत्व का आरोप ऐसे कवियों पर नहीं किया जा सकता। भारतचन्द्र का विद्यासुन्दर सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ।

सन् १७५६ ई० में निधिराम का लिखा हुआ एक मंगल भी मिलता है। ये भी पंडित थे।

इन कवियों के अतिरिक्त कवीन्द्र मधुसूदन, क्षेमानंद, विश्वेश्वर दास, कविचन्द्र आदि के नाम भी मंगल-लेखकों में लिये जाते हैं।

शीतला-मंगल—शीतलामंगल में शीतला देवी के पूजा-प्रतिष्ठा-विषयक संघर्ष का वर्णन है। वैष्णवों और शैवों से शीतला का संघर्ष दिखाने के लिए कई कहानियाँ एक शीतलामंगल में एकत्र कर दी गयी हैं। वैसे सभी एक-दूसरे से अलग हैं। शीतलामंगल में इस प्रकार चार स्वतन्त्र कहानियों के चार 'पाला' या अध्याय हैं। एक 'गोकुल पाला' है। इसमें वर्णित है कि कृष्ण-बलराम को शीतला निकलीं, उन्होंने शीतला देवी की पूजा करके आरोग्य लाभ किया। एक दूसरा पाला है 'विराट पाला'। इसमें विराट राज्य में शीतला का प्रकोप किस प्रकार शीतलापूजा द्वारा दूर किया गया, यह बताया गया है। तीसरा पाला 'चन्द्रकेतुर पाला' है। वस्तुतः देखा जाय तो मंगल-परिपाटी के स्वभाव की कहानी यही चन्द्रकेतु वाली शीतलामंगल की कहानी है।[1] चौथा पाला है 'रघुनाथ दत्तेर पाला।'

१. इन देवी-देवताओं के माननेवालों में कई मुसलमान भी हुए हैं। शीतलादेवी के भक्त एक गरीब हुसैन चौधरी भी थे। ये ढाका के थे। यह बताया जाता है कि जब ये २४ वर्ष के थे, शिकार के लिए बूढ़ी गंगा के किनारे पहुँचे। वहाँ इन्हें शीतला देवी की एक मिट्टी की बनी मूर्ति दिखाई दी।

अन्य मंगलों की भाँति सामान्य सुख-समृद्धि के लिए शीतला-पूजा और शीतलामंगल नहीं होता है। यह तो 'शीतला' रोग के निवारण के लिए है, अतः यह लोकोपचार का अग है।

शीतलामंगल के कवियों में नित्यानंद चक्रवर्ती का नाम ही पहले आता है। हो सकता है यही इसके आदि कवि हों। ये सत्रहवीं शती से पूर्व के नहीं हो सकते। इन्होंने गोकुल पाला लिखा।

वल्लभ कवि अठारहवीं शती के प्रथम चरण में हुए प्रतीत होते हैं। जान पड़ता है, ये कवि ही नहीं चिकित्सक भी थे। इन्होंने इस मंगल काव्य में चौसठ प्रकार के शीतला रोगों का उल्लेख किया है।

कालिकामंगल के कवि कृष्णराम ने भी एक शीतला मंगल लिखा था। एक शीतलामंगल काव्य धर्ममंगल के प्रसिद्ध कवि माणिकराम का भी लिखा बताया जाता है। इनके अतिरिक्त कृष्णनाथ, रामप्रसाद, स्कन्नराचार्य, रघुनाथ दत्त, दयाल, अकिंचन, चक्रवर्ती, द्विज गोपाल और शंकर का नाम भी शीतलामंगल के कवियों में लिया जाता है।

शीतलामंगल के अतिरिक्त षष्ठीमंगल, शारदामंगल, रायमंगल, सूर्य-मंगल आदि भी लिखे गये।

कालिकामंगल के लेखक कृष्णराम ने १६७९ ई० में '**षष्ठीमंगल**' लिखा।

रुद्रराम ने षष्ठीमंगल अठारहवीं शती में लिखा होगा। इनकी कन्या जब भयानक रोग से पीड़ित थी, तब 'षष्ठी देवी' के स्वप्नादेश से इन्होंने यह काव्य रचा था। कन्या भी स्वस्थ हो गयी। इनका षष्ठीमंगल तेरह पालों में

मूर्ति को अपमानित करने के भाव से इन्होंने एक गोली मारी। वह देवी की एक आँख पर लगी और उधर के मुख का हिस्सा विकृत हो गया। ये लौटकर घर पहुँचे तो इन्हें बुखार आ गया और माता या चेचक (Small pox) निकल आयी। शीतला माता ने इन्हें स्वप्न में कहा कि मैं तुम्हारे प्राण तो नहीं लूँगी, पर एक आँख ले लूँगी, क्योंकि तुमने मेरी आँख को चोट पहुँचायी। चौधरी साहब अंधे हो गये। माता ढर गयी, पर एक आँख जाती रही। इसके बाद ये शीतला देवी के परम भक्त हो गये।

है। इनमें तीन कहानिया हैं। एक पौराणिक कहानी स्वामी कार्तिकेय को लेकर है। दूसरी कहानी राजा क्षेत्र मिश्र की है। तीसरी कहानी कलावती के उपाख्यान से संबंधित है। इन कहानियों से स्पष्ट है कि रुद्रराम बँगला भाषा के लोक-कहानी की मंगलधारा के कवि नहीं। कविचन्द्र तथा गुणराज नाम के दो कवियों का नाम षष्ठीमगल-लेखकों में और लिया जाता है।

शारदामंगल के लेखक दयाराम हैं। ये अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुए होंगे। दूसरे कवि वीरेश्वर ने सरस्वतीमंगल काव्य दयाराम से भिन्न सामग्री पर लिखा। इनका काव्य कालिदास, वररुचि-विषयक संस्कृत के सरस्वती के कृपा-पात्रों की कहानियों पर आधारित है। राजा राजसिंह ने अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में शारदामंगल लिखा। इसमें कालिदास के सम्बन्ध की एक लोककहानी दी गयी है, जिसमें वर्णन है कि कालिदास ने किस प्रकार एक सरस्वतीकुण्ड में स्नान कर सरस्वती की कृपा प्राप्त की। यह भी बँगला भाषा की प्रकृत धारा के विरुद्ध है।

रायमंगल व्याघ्र देवता दक्षिणराय की पूजा और प्रचार से संबंधित है। इसके लेखकों में माधव आचार्य तथा कृष्णराम के नाम आते हैं। माधव आचार्य का उल्लेख कृष्णराम ने ही किया है।[1]

माघमंडल व्रत-विषयक सूर्योपासना के स्रोत से **सूर्यमंगल** काव्य का उदय हुआ है। पहले सूर्य ठाकुर को लेकर लोक में उसके शैशव, यौवन, विवाह, पुत्र-लाभ विषयक छड़ा या स्फुट गीत मिलते थे। इनके आधार पर एक बृहत् सूर्य-कथा खड़ी हुई। इस पर १७०९ ई० मे रामजीवन नामक कवि ने सूर्यमंगल लिखा। कालिदास नाम के एक कवि ने भी सूर्यमंगल[2] लिखा। ये अनुमानतः १८वीं शती में हुए थे। किन्तु इनका उक्त ग्रंथ देखने को नहीं मिलता।

१. कृष्णराम ने लिखा है—'पूर्वेते करिल गीत माधव आचार्य,
ना लागे आमार मते तीहै नाहि कार्य।'

२. **सूर्यमंगल या सूर्यपाँचाली।**

इनके अतिरिक्त शिवानन्द कर तथा कृष्णराम दास ने भी **लक्ष्मी-मंगल** लिखा। यह लक्ष्मीमंगल देवीभागवत के एक अध्याय का[1] बँगला में अनुवाद मात्र है। इसी प्रकार एक '**गंगामंगल**' है। इसमें गंगावतरण तथा सगरपुत्रों के उद्धार की पौराणिक कहानी है। एक '**कपिला-मंगल**' है जिसमें ब्रह्मा-निर्मित कपिला गाय के अपहरण की, भागवत से ली गयी, कहानी है। एक अत्यन्त लौकिक तथा स्थानीय मंगल काव्य है '**गौसानी मंगल**'। इसके रचयिता हैं राधाकृष्ण दास। इसमें उत्तर वंग के राजा शक्तीश्वर के पुत्र कान्तेश्वर द्वारा गौसानी देवी की स्थापना का वर्णन है। यह गौसानी देवी बाद में चण्डी में परिणत हो गयी है।

इस प्रकार मंगल-काव्य की परम्परा प्राचीन काल से लेकर २०वीं शती तक चली आयी है। निश्चय ही इस मंगल काव्यधारा ने लोक-साहित्य और उसकी वार्ता को साहित्यिक स्तर पर पहुँचाने का शुभ प्रयत्न किया है। ब्राह्मण-संस्कृति और लोक-संस्कृति के दो स्तरों का स्वरूप इन मंगलों से स्पष्ट हो जाता है। इन दोनों में भेद और भिन्नता तो विदित होती ही है, साथ ही यह भी पता चलता है कि कवियों ने दोनों को साथ-साथ ले चलने का प्रयत्न किया है। इन मंगल काव्यों में पौराणिक कहानियाँ बहुधा लोक-कहानियों से असंलग्न रूप में ही साथ-साथ प्रस्तुत कर दी गयी हैं। अतः दोनों का समवायीकरण तो हुआ है, समन्वय भले ही न हुआ हो। यों 'शिव-मंगल' में दोनों को समन्वित करने का प्रयत्न किया गया प्रतीत होता है। कुछ मंगल तो हिन्दू-मुस्लिम समन्वय को उपस्थित करने की चेष्टा भी करते मिलते हैं, जैसे 'राय मंगल'। इस समस्त मंगल-काव्य को देखकर कहा जा सकता है कि लोक-साहित्य की वस्तु ने अपना आसन नहीं छोड़ा।

इन मंगल-लेखकों में कृष्णरामदास विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इन्होंने जैसे लघु देवी-देवताओं पर काव्य-रचना करने का बीड़ा ही उठा लिया था। इन्होंने पाँच मंगल-काव्य लिखे। पहला कालिका-मंगल था, यह सन् १६०६ ई० में लिखा गया। इस समय कवि २० वर्ष के थे। षष्ठी-

१. देवीभागवत के नवम स्कन्ध के ४१ वें अध्याय का अनुवाद।

मंगल १६७९ में रचा गया। तीसरा था 'राय मंगल'। यह १७८६ में लिखा गया था। इस मंगल में इन्होंने छोटा-सा आत्मवृत्त देकर मंगल लिखने की प्रेरणा का कारण भी बताया है। एक बार ये अपने स्थान से कुछ मील दूर एक गाँव में एक ग्वाले के यहाँ ठहरे। भादों महीने का सोमवार था। इन्हें नाज के कोठार के एक कोने में सोने का स्थान मिला। उस रात स्वप्न में इन्होंने देखा कि एक व्यक्ति व्याघ्र पर सवार होकर हाथ में धनुष-वाण साधे इनके पास आया। उसने कृष्णराम से कहा कि मेरे माहात्म्य को दिखाने के लिए एक काव्य-रचना करो। साथ ही उसने यह भी बताया कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे काव्य की प्रशंसा नहीं करेगा तो उसके कुटुम्ब भर को मेरे बाघ जाकर खा डालेंगे।

रायमंगल के बाद इन्होंने शीतलामंगल लिखा। इनकी पाँचवीं और अन्तिम कृति थी लक्ष्मीमंगल। (देखिए परिशिष्ट में विविध मंगलों की कथावस्तुएँ।)

(घ)

सहजिया संप्रदाय

बौद्धधर्म के ह्रास पर उसी के अवशेषों में से जिन प्रवृत्तियों ने नया रूप धारण किया और बंगाल तथा बँगला भाषा में नवीन महत्त्व प्राप्त किया, उनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसी बौद्ध धर्म के अवशेष में से बंगाल में सहजिया संप्रदाय खड़ा हुआ। बौद्ध सिद्धों और नाथों के दार्शनिक 'सहज' को तंत्र के द्वारा उपलब्ध करने के लिए पंच मकारों की नयी व्याख्या और तत्संबंधी अनुष्ठानों के साथ 'सहज' के योग ने ही इसे 'सहजिया' नाम दिया। तांत्रिक वामाचार में उक्त सिद्धि के लिए अनुष्ठानों में सुंदरी युवतियों के परकीया प्रेम की प्रधानता थी। जैसा विद्वानों का विचार है, बंगला में इस सहज धर्म का प्रथम प्रेम-योग प्रस्तुत करनेवाले कण्हपा सिद्ध हैं।[1] कण्हपा के ये पद शृंगार के उत्तान भाव से युक्त हैं। इनकी अध्यातम

१. कण्हपा को दसवीं शताब्दी के अंतिम चरण का माना गया है।
हिस्ट्री आफ बंगाली लैंग्वेज एंड लिटरेचर—ले० प्रो० दीनेशचन्द्र सेन, संस्करण १९५४, पृष्ठ ४३।

और रहस्य परक व्याख्या भी संभव है। इसी दसवीं शताब्दी के मूल को लेकर बौद्ध धर्म के लोप के उपरान्त, नवीन वैष्णव जागरण काल में चौदहवीं शताब्दी में, बड़ चण्डीदास ने 'राधा-कृष्ण' के परकीया प्रेम के आधार पर सहजिया प्रेम और शृंगार का परिपोषण किया। चंडी दास ने अपने युग में सहजिया की पुनः एक परिभाषा दी। विदित होता है कि उनके समय तक 'सहजिया' पद्धति विकृत हो चुकी थी, तभी चंडीदास को कहना पड़ा था—

सहज सहज, सवाइ कहय
सहज जानिबे के,
तिमिर अन्धकार जे हैयाछे पार
सहज जेनेछे से।[1]

घोर अंधकार से पार होनेवाले को ही 'सहज' का ज्ञान होता है। इसके लिए परकीया प्रेम की साधना आवश्यक है, इसके लिए नायिका की आवश्यकता है। चण्डीदास की नायिका रामी धोबिन थी। इनके काव्य में रामी के लिए जो धारणा मिलती है, उसमें अलौकिक प्रेम की झलक है।

"ए रजकिनी रामि, सुनो, तुम्हारे दो चरण शीतल हैं; वहीं मैं शरण चाहता हूँ। रजकिनी का रूप किशोरी का रूप है, उसमें काम की गन्ध तक नहीं। उसे न देखूँ तो मन में उच्चाटन होता है, देखने पर प्राण शीतल होते ह।"

प्रेम की उत्कटता तो इसमें विद्यमान है, पर किशोरी रामी में काम-गंध है ही नहीं। फलतः यह प्रेम काम के क्षेत्र से ऊपर उठ गया है।

कवि अपनी उस नायिका रामी[2] की प्रशंसा जिन शब्दों में करता है, उनसे 'नायिका' के प्रति उसके भावों की दिव्यता का ही पता चलता है—

१ सहज-सहज तो सब कहते हैं, पर सहज को जाना किसने है? सहज को तो उसी ने जाना है जो रात्रि रूपी अन्धकार को पार कर चुका है।

२. रामी धोबिन से चण्डीदास का प्रेम था। वह प्रेम इसी सहज साधना का माध्यम था। चंडीदास की प्रेम-कहानी स्वयं अत्यंत रोचक है। एक दिन चंडीदास मछली खरीदने गये। मछली बेचनेवाली ने चंडीदास

"रजकिनी, तुम मेरी रमणी हो, तुम माता-पिता हो। मै त्रिकाल संध्या से तुम्हारा ही यजन करता हूँ। तुम वेदमाता गायत्री हो। तुम्हीं वाग्वादिनी सरस्वती हो, तुम्हीं शिव की रमणी, तुम्हीं गले का हार हो। स्वर्ग, मर्त्य पाताल, पर्वत भी तुम्हीं हो, तुम्हीं नेत्रों की तारा हो, तुम्हारे बिना मेरा समस्त जगत अंधकारमय है, तुम्हें देखकर नेत्र हृष्ट होते हैं। जिस दिन तुम्हें देख नहीं पाता, ऐ चन्द्रवदनी, मेरा हृदय मृत हो जाता है। तुम्हीं मंत्र हो, तुम्ही तंत्र हो, तुम्ही उपासना-रस हो। रजकिनी का रूप किशोरी स्वरूप तो है, पर उसमें काम गंध नहीं। रजकिनी का प्रेम, कसौटी पर खरा स्वर्ण है, यही बड़ चण्डीदास गाता है।"

यह भाव भी काम-गंध रहित हैं। चंडीदास इस सहज-साधना के लिए प्रेम के ऐसे ही रूप को मान्यता देता है। उन्होंने बताया है--

"नायिका-साधन के लक्षणों को सुनो। इस साधना को इस प्रकार किया जाता है। अपने शरीर को सूखे काठ की भाँति कर लो। अर्थात् रस अथवा जलांश से पूर्णतः विरहित। वह जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, जिसे कोई देख

को जितनी मछली दी, उतने ही पैसों में एक दूसरे आदमी को उससे कहीं अधिक दी। चंडीदास ने इस व्यवहार का कारण पूछा तो मछियारी ने कहा--उसकी और बात है, उससे तो मैं प्रेम करती हूँ। प्रेम के इस व्यापार ने चंडीदास के अन्तर को झनझना दिया, तभी उन्हें रामी धोबिन दिखाई पड़ी और वे उससे पूरी तरह प्रेम करने लगे। वे उसके गीत गाने लगें। ब्राह्मण समाज को ब्राह्मण चंडीदास का यह पतन असह्य लगा और उसने चंडीदास को वासुली देवी के पुजारी पद से हटाकर जातिच्युत कर दिया। चंडीदास के बड़े भाई ने बड़े प्रयत्न से और अपने प्रभाव से बिरादरी को प्रसन्न किया। उन्होंने शर्त करायी कि चंडी से प्रायश्चित्त में ब्रह्मभोज कराया जायगा। ब्राह्मण पंक्ति में आ बैठे, तभी रोती हुई रामी भी वहाँ आ पहुँची। उसे देखते ही चंडी सब शर्तें भूल गये और रामी को मनाने लगे।

नहीं पाता, उसे वही आदमी पा सकता है जो प्रेम के गूढ़ तत्त्व (आरति) को जानता है।'

चंडीदास से आरंभ होकर सहजिया संप्रदाय की एक धारा चली, जिसने पर्याप्त साहित्य बँगला भाषा को प्रदान किया। ये सभी वैष्णव सहजिया थे और राधा-कृष्ण के परकीया प्रेम का माध्यम इन्होंने ग्रहण किया था। १३–१४ ऐसे वैष्णवों का जिन्होंने लगभग ३८ रचनाएं इस संप्रदाय की परंपरा में रचीं,उल्लेख डा० दीनेशचन्द्र जी ने किया है।

(ङ)

पीर-साहित्य

सत्यपीर के संबंध में ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। 'सत्यपीर' नाम स्पष्टतः सिद्ध करता है कि इस देवता के नाम पर मुसलमानी प्रभाव है। पीर शब्द मुसलमानी प्रभाव का द्योतक है। यों जिस परंपरा में 'पीर' शब्द का ऐसा प्रयोग होता है वह परंपरा 'वीर' परंपरा है और 'वीर' का 'पीर' हो जाना असंभव नहीं। भारतीय यक्ष-संप्रदाय में 'पंचवीर' रहते रहे हैं, यह संभवतः पहले 'पंचायतन' कहलाते थे। पंचायतन और पंचवीर में वैसे एक मौलिक अन्तर मिलता है। पंचायतन में अधिकांश व्यक्ति एक ही परिवार के होते हैं। जैसे 'राम पंचायतन' में चारों भाई और सीता मिलकर राम पंचायतन बनाते हैं। किन्तु पचवीरों या पंचपीरों में सभी ऐसे वीर होते हैं जो धर्मतः एक आयतन बनाते हैं। परस्पर एक दूसरे का नाता पारिवारिक नही होता। प्रायः इसमें एक तो पशु भी (बहुधा घोड़ा) होता है। मुख्य पीर का एक भानजा भी प्रायः होता है। जाहर पीर का परिकर भी ऐसा ही था। उसी रूप में हम सत्यवीर को सत्यपीर कह सकते हैं। पर सत्यपीर को हम पाँच परिकर वाली परंपरा से भिन्न पाते हैं। सत्यपीर भी अपनी पूजा की प्रतिष्ठा कराने के लिए उत्सुक है। वह अपने प्रियनायक को उसके अपने परिवार के लोगों के ही घातक अत्याचारों से बचाता है, और इस प्रकार उसके द्वारा भक्ति प्राप्त करता है।

सत्यपीर पर भी अन्य लोक-धर्मों की भाँति बँगला में कई काव्य रचे गये। इनमें से १६३६ ई० का लिखा सत्यपीर (मंगल) सबसे प्रथम और

सबसे प्रमुख माना जा सकता है। इसके लेखक कवि हैं शंकराचार्य। इसके तथा नायेक मयजगाज़ी के सत्यपीर मंगल के पारायण से इस बात का पता चलता है कि 'सत्यपीर' संप्रदाय का आरंभ गौड़ेश्वर हुसेन शाह ने किया था। उसका उद्देश्य एक ऐसे देवता की प्रतिष्ठा करना था जो हिन्दू-मुसलमान दोनों का देवता हो सके।

सत्यपीर की पाँचाली १७३४ ई० में 'फकीरचंद' नाम के कवि ने लिखी। इसके अतिरिक्त रामानंद ने भी 'सत्यपीर' लिखा। सत्यपीर की पाँचाली की कथा भी एक अत्यन्त प्रचलित लोक-कथा है।[१]

'सत्य' का मूल संबंध भी भगवान् बुद्ध से प्रतीत होता है[२]। धर्मठाकुर की भाँति ही सत्य ठाकुर लोक-पूजा की उसी परंपरा में आयेंगे, जिसमें बौद्ध धर्म के ह्रास के तत्वों पर उठने वाले अन्य देवी-देवताओं के सप्रदाय। पीर परंपरा में मानिक पीर का नाम उल्लेखनीय है।

(च)

डाक और खना

अब उन लोकोक्तियों और सूत्रोक्तियों के साहित्य पर दृष्टि जाती है, जिसे लोक-परंपरा में डाक तथा खना रचित बताया जाता है और जिसे कुछ विद्वान् मुसलमानी शासन से पूर्व युग की बौद्ध प्रभाव से युक्त प्राचीन रचना मानते है।

डाक-तंत्र नाम से जो ग्रंथ प्राप्त हुआ है, वह भाषा की दृष्टि से भी १०वीं शती का विदित होता है, और कृति में बौद्ध प्रभाव भी विद्वान मानते हैं। इस डाक-तंत्र में कृषि, ज्योतिष, शुभाशुभ, औषधि तथा नीति-विषयक सूत्रोक्तियाँ हैं। ये उक्तियाँ बंगाल में अत्यन्त लोकप्रिय हैं। वस्तुतः डाक और

१. सत्यपीर की कथा परिशिष्ट में दी गयी है ।

२. भगवान् बुद्ध का ह्रास कालीन धर्म 'सत्-धर्म' भी कहा जाता था । बौद्ध कहलाते थे सतधर्मी। स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध से 'सत' धर्म का संबंध यों जुड़ता है ।

खना की रचना मानी जाने वाली ये लोकोक्तियाँ, उसी प्रकार से बंगाली लोक को प्रिय है, जिस प्रकार हिन्दी क्षेत्र मे घाघ और भड्डरी की है।

डाक की ये सूत्रोक्तियाँ बंगाल में 'डाकेर वचन' नाम से अभिहित हैं। डाक नाम स्वयं कुछ अद्‌भुत नाम है, और इसकी व्युत्पति पर तथा डाक के परिचय आदि पर इधर पर्याप्त विवाद रहा है।[1] हिन्दी का 'घाघ' भी बंगाली 'डाक' का ही रूपान्तर प्रतीत होता है। बँगला के डाकेर वचनों में कहीं-कहीं डाक के स्थान पर 'रावण' की भणिता भी मिलती है।[2]

१. कुछ लोग अभीतक 'डाक' को एक व्यक्ति विशेष मानते रहे हैं। इन वचनों में कहीं-कहीं 'डाक ग्वाला' नाम की भणिता मिलती है, उसीके आधार पर इसे व्यक्ति माना गया । इनके अनुसार डाक ग्वाला जाति के थे । डा० आशुतोष भट्टाचार्य ने माना था कि डाक नाम का बौद्ध तांत्रिक साधकों का एक वर्ग था। डा० भट्टाचार्यजी ने लिखा है—"अब हमें डाक शब्द की व्युत्पत्ति का पता लगाना चाहिए । यह शब्द वैदिक भाषा में नहीं आता, और न कहीं प्राचीन संस्कृत काव्यों की भाषा में ही उपलब्ध होता है। इसी कारण इस शब्द के संबंध में संदेह उत्पन्न होता है कि असली संस्कृत में इस शब्द का मूल अनुपलब्ध है। तिब्बती 'ग्डाग' (Gdag) शब्द है जिसका अर्थ प्रज्ञा अथवा ज्ञान है, अतः यह डाक शब्द तिब्बती स्रोत से आया है।"

२. "डाकेर वचन" में कहीं-कहीं रावण की भणिता देखकर यह अनुमान किया गया है कि ये सूत्र मूलतः रावण के थे, और बाद में इन पर 'डाक' छाप लगायी गयी । रावण की छाप तो औषध और ज्योतिष के आदि पंडित के नाते उस परंपरा के मूल को व्यक्त करने के लिए लगायी गयी प्रतीत होती है। यह कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता कि रावण के प्रति बौद्धों में आदर का भाव था। अतः बौद्ध क्षेत्र से प्राप्त इन वचनों में रावण का नाम होना आश्चर्य की बात नहीं, और इनके बौद्ध होने का एक और प्रमाण रावण के नाम में मिलता है। रावण को हिन्दू परंपरा में भी महान् पंडित बताया गया है। कई शास्त्रों का प्रारम्भकर्त्ता रावण ही

डाक-तंत्र की पुस्तक में प्राचीन भाषा का रूप विशेष सुरक्षित है। उसीके आधार पर उसे १०वीं शती का माना जाता है। यों 'डाकेर वचनों' में जिन भावों को बौद्ध मानकर इनके वचनों को बौद्ध युग में उद्भूत माना गया है, वे इतने विशिष्ट बौद्ध नहीं कि उनके कवि को बौद्ध प्रभाव से प्रभावित १०वीं शताब्दी का ही माना जा सके।

जैसे—

भाल द्रव्य जखन पाव
कालि कारे तूलिया ना थोब
दधि दुग्ध करिया भोग।
ओषध दिया खण्डाब रोग।
बले डाक एई संसार।
आपने मइले किसेर आर।

अथवा—

धर्म करिते जबे जानि
पाखरि दिया राखिब पानि
गाछ रुइले बड़ धर्म।
— —
जे देइ भातशाला पानिशाला
से ना जाय जमेर पुरी॥[1]

माना जाता है। इस सबसे ही इन वचनों को बौद्धक्षेत्रों से संबंधित नहीं माना जा सकता।

१ हे काली! यदि कुछ सुस्वादु भोज्य पदार्थ पाऊँ तो क्यों न उसे संजोकर रखूँ? दही और दूध का भोजन करूँगा और ओषधि से अपने रोग दूर करूँगा। डाक कहते हैं कि यह संसार तो उसी समय तक है जब तक वह हैं। उनकी मृत्यु के पश्चात् कौन किसको पूछता है।

अथवा—जब मैं धर्म का पालन करना जानता हूँ तब पत्ते के ठोंगे में भी पानी पी सकता हूँ।

ऐसी उक्तियों में ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया है जिसे केवल बौद्ध माना जा सके। 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ' अथवा वृक्ष लगाना, सदावर्त खोलना आदि भाव हिन्दूधर्म में नितान्त बहिष्कृत नहीं। जो भी हो 'डाक' और 'खना' के वचन लोक-प्रिय साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। वे आज भी लोगों की जिह्वा पर जीवित है।

डाक ने लोक-ज्ञान की परंपरा में जो योगदान दिया है वह अत्यन्त मूल्यवान है। उसकी सभी सूत्रोक्तियाँ अनपढ़ों और अज्ञानियों के ही काम की नहीं, उनकी जिह्वा पर प्रतिष्ठित रहकर वे अवश्य उनका पद-पद पर दिशादर्शन करती हैं। पर वे उतनी ही पढ़े-लिखों के भी काम की हैं। इन सबमें डाक की 'बारामासी' सबका ध्यान आकर्षित करती है। उसकी यह बारहमासी वस्तुतः भोजन अथवा पथ्य-अपथ्य के संबंध में है। यह कार्तिक से आरंभ होती है और आश्विन पर समाप्त होती है। हिन्दी, बंगाली, गुजराती आदि सभी भाषाओं में 'बारहमासे' प्रचलित है, पर उन सबमें साहित्यिक अभिप्राय की दृष्टि से संयोग-वियोग का वर्णन रहता है। इस दृष्टि से डाक की यह 'बारामासी' महत्त्वपूर्ण है। हो सकता है कि 'बारहमासा' का मूल आरंभ ऐसे पथ्य-विधान से हुआ हो।[1] खना[2] की लोकोक्तियाँ डाक से भी

वृक्ष रोपण महत् धर्म है।
जो लोग भोजन शाला तथा जल शाला बनवाकर
दान करते हैं वे यम पुरी नहीं जाते।

१. डाक की "बारहमासी" :—

"कार्तिके ओल, मार्गे बेल
पौषे काँजि, माघे तेल
फाल्गुने आदा, चैत्रे तीता
वैशाखेते निम नालिता
ज्येष्ठे घोल, आषाढ़े दहि
श्रावणे रवे, भाद्रे ताल
आश्विन शशा

अधिक लोक-प्रिय हैं। विषय प्रायः दोनों के एक ही हैं। खना की लोकोक्तियों का कृषि से विशेष संबंध है।

इस समस्त विवेचना के उपरांत डाक और खना के संबंध में यही कहना उचित प्रतीत होता है कि इनके वचनों में युग-युग संचित लोक-ज्ञान ही अभिव्यक्त हुआ है। इनकी रचना किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा की गयी, यह आज निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। 'डाक' और 'खना' ये केवल आरोपित नाम भी हो सकते हैं। यदि कभी इस नाम के व्यक्ति हुए भी तो आज मिलनेवाले इनके छड़ों में इन्हीं का कृतित्व नहीं माना जा सकता। न इनमें किसी काल विशेष की भाषा या कृति मानी जा सकती है, अतः बौद्ध-प्रभाव ही इनमें मानना भूल होगी। आज तो ये छड़े लोकोद्-भावित और लोक-संपत्ति ही माने जाने चाहिए।

यहाँ बंगाली साहित्य की उन धाराओं से हमारा साथ छूटता है जो विशेषतः लोक-क्षेत्र के लोक-मानस से संबंधित रही हैं, और जिनमें अपने अपने युग का बंगाली समाज यथार्थ रूप में अंकित है। इन धाराओं का मूल निस्संदेह सुदूर अतीत के उस युग का है जिसमें बौद्ध-धर्म के खँडहरों पर नवीन हिन्दू धर्म के कंगूरे खड़े हो रहे थे। अन्तिम युग या ९–१०–११ वीं शताब्दी

डाक भने एइ बारामासा।"

हिन्दी लोकोक्तियों में भी कुछ ऐसा वर्णन है : यहाँ वर्जन का बारहमासा है— क्वार करेला कातिक दही···आदि।

२. खना के संबंध में कितनी ही किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। इनमें खना को विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक वाराहमिहिर की पत्नी बताया गया है। वाराह पिता का नाम बताया जाता है। मिहिर वाराह का पुत्र और खना का पति था। यह कहा जाता है कि खना के ज्योतिष ज्ञान के कारण वाराह के सम्मान में कमी होने लगी थी। अतः वाराह ने अपने पुत्र मिहिर को प्रेरित किया कि वह खना को मार डाले। मिहिर ने खना को मारकर उसका सिर अपने कक्ष में रख छोड़ा। इसे एक छिपकली चट कर गयी, अतः छिपकली अब शगुन बताने लगी है।

में, बौद्ध धर्म समस्त भारत वर्ष से सिमिटकर बंगाल में ही जम गया था। उस ह्रास-युग में अनेक देवी-देवताओं की मान्यता बौद्ध धर्म में हो उठी थी। उनका संबंध तंत्रों से हो गया था। परिणामतः वामाचार के प्रभाव से देवियों की शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ गयी, जिससे बंगाल में शाक्त मत प्रबल हो उठा। यही कारण है कि भारत के अन्य सभी क्षेत्रों की अपेक्षा बंगाल में शक्ति-सम्प्रदाय प्रवल लोक-धर्म के रूप में अपना आधिपत्य जमा बैठा। पुरुष-देवता की अपेक्षा स्त्री-देवी-शक्ति को समाज के प्रतिष्ठित वर्ग ने कठिनाई से स्वीकार किया। देवी-शक्ति के पूजकों और पुरुष देवता के पूजकों में एक संघर्ष चला, जिसमें शक्ति विजयिनी हुई। मंगल काव्यों ने इस संघर्ष का इतिहास और परिणाम अपने विशिष्ट प्रकार के माध्यम से प्रकट किया है। ये धाराएँ सुदूर अतीत से चलते-चलते आधुनिक युग तक पहुँची हैं। लोक-जीवन में इनकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि इनके सामने अन्य आध्यात्मिक संप्रदाय हारे हुए से लगते हैं। सोलहवीं शती से बैष्णवों के पुनरुत्थान की जो प्रबल आँधी चली, उसमें भी यह लोक-धर्म-वशवर्तिनी धारा सूखी नहीं। एक सामाजिक सामंजस्य के साथ यह चलती रही। किन्तु कुछ काल के लिए अवश्य वैष्णव पुनर्जागिरण ने अपना अद्भुत चमत्कार दिखाया। अब हमें इसी वैष्णव पुनर्जागरण का इतिहास देखना है।

ऐतिहासिक दृष्टि से सोलहवीं शती से पूर्व का लौकिक काव्यों के मूल का यह युग दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला आदियुग जिसमें बौद्ध वातावरण के ह्रास काल की सिद्धयुगीन वे रचनाएँ मिलती हैं, जिनका संबंध सिद्धों और नाथों से है। दूसरा युग ११वीं से १५वीं शती का 'गौड़ युग' कहा जा सकता है। यह गौड़ युग भाषा और साहित्य के स्वरूप की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला ११वीं से १३वीं शती तक का युग जिसमें भाषा अपनी माता अपभ्रंश के क्रोड़ से उतरती हुई दिखायी पड़ती है, और साहित्य में लोक-मानस व्याप्त लोक-देवी देवताओं के माहात्म्यों की अभिव्यक्ति विशेष मिलती है। दूसरा भाग १४वीं–१५वीं शती का माना जा सकता है। इसमें भाषा संस्कृत तत्समों के योग से एक सशक्त रूप ग्रहण करने लगी है, जिसे साधु भाषा कह सकते हैं, और साहित्य

में हिन्दुत्व के 'पुनराहरण' के प्राण, पुराण-महाकाव्यों की आत्मा प्रकाशित होती दिखाई पड़ती है। मंगल काव्यों में पौराणिक और लौकिक आख्यानों का साथ-साथ समावेश, तथा कभी-कभी लौकिक का त्याग और केवल पौराणिक की ही प्रतिष्ठा आदि बातें इस युग की संधि-अवस्था की द्योतक हैं।

अध्याय ३

वैष्णव पुनराहरण

श्रीकृष्ण कीर्तन

बंगाल के इतिहास के आधुनिक विद्वान् बँगला भाषा के प्राचीनतम साहित्य में केवल दो कृतियों को ही मानते हैं। एक है 'चर्या' जिसका उल्लेख आरंभ में किया जा चुका है। दूसरी कृति है श्रीकृष्ण कीर्तन।

श्रीकृष्ण कीर्तन को सोलहवीं शती से पूर्व की कृति माना जाता है। इस श्रीकृष्ण कीर्तन में कितने ही पद चर्या के पदों की छाया पर मिलते हैं। इससे श्रीकृष्ण कीर्तन पर बौद्ध-चर्या का प्रभाव माना जा सकता है या, यह कि दोनों ने सामान्य लोक-क्षेत्र से समान रूप से उन्हें ग्रहण किया।

जो कुछ भी हो, श्रीकृष्ण कीर्त्तन संबंधी काव्य से बंगाल में उस धारा का आरंभ हुआ, जिसे आगे चैतन्य महाप्रभु ने अत्यन्त प्रबल और प्रमुख बना दिया। यह धारा गौड़ कालीन काव्य की भाँति केवल निम्न लोकधरातल पर ही नहीं प्रवाहित हुई। आरंभ से ही इसने सोलहवीं शती की परिपक्व भाषा का पल्ला पकड़ा और उच्च अनुभूति-मंडित भावों से अपने साहित्य को उच्च से उच्च मेधावी वर्ग के लिए स्पृहणीय बना दिया। विविध मंगल काव्यों को निम्न वर्गों और विशिष्ट जनपदों की सीमा से ऊपर उठने के प्रयत्न करने पड़े, पर वे उस सीमा तक ऊपर उठ नहीं सके। इस कृष्ण-धारा ने ऊपर से नीचे तक के समस्त समाज को अभिभूत कर लिया। इस धारा से समस्त बंगाल एक नवोन्मेष और नव-जीवन संचार से आप्लावित हो उठा।

श्रीकृष्ण कीर्तन बड़ु चंडीदास की कृति है। चंडीदास चैतन्य महाप्रभु से पहले हुए माने जाते हैं।[१] इसीलिए इन्हें बंगला के आदिकालीन कवियों

१. चैतन्य महाप्रभु के एक प्रामाणिक जीवनी लेखक ने बताया है कि जयदेव, चंडीदास तथा विद्यापति के गीत महाप्रभु को बहुत आनन्द देते थे ।

में स्थान दिया जाता है। चंडीदास में हमें स्पष्टतः दो परंपराएँ मिलती दिखाई पड़ती हैं। एक है १२वीं शती के प्रसिद्ध संस्कृत-कवि जयदेव के गीत-गोविन्द की राधा-कृष्ण प्रेम की धारा। कुछ विद्वानों का विचार है कि बँगला साहित्य का आरंभ जयदेव से[१] माना जाना चाहिए, क्योंकि भले ही जयदेव का गीत-गोविंद संस्कृत में हो, वह बंगाल का अत्यन्त लोकप्रिय कवि था और उसकी परंपरा से चंडीदास को काव्य की अनुभूति मिली तो आश्चर्य की बात नहीं। इस धारा में हमें भागवत के श्रीकृष्ण आख्यान से कुछ विशेपता विदित होती है। वह विशेषता यह है कि भागवत में राधा का नाम इतनी प्रमुखता से नहीं है। चंडीदास को राधा-कृष्ण प्रेम की परंपरा प्राप्त हुई, और वह परंपरा उनके समय में अत्यन्त लोकप्रिय भी थी। दूसरी जिस परंपरा का लाभ चंडीदास को मिला वह थी सहजिया धर्म की। सहजिया धर्म की साधना में परकीया प्रेम को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। उस प्रेम की साधना के लिए प्रकृत पक्ष में एक स्त्री का नायिका या प्रमिका या मंजरी के रूप में होना अत्यन्त आवश्यक है। ऊपर बताया जा चुका है इस साधना पथ की दृष्टि से चंडीदास का प्रेम रामी नामक धोबिन से था।[२]

१. An account of Bengali Literature should properly begin with the Gita Govind of Jaya Deva because, although in Sanskrit, it has enjoyed great popularity and influence in Bengal. [Bengali Literature by Ghosh pp.28]

२. गुप्त साधन-तंत्र में एक श्लोक में उन स्त्रियों का उल्लेख किया गया है जो नायिका हो सकती है—

"नटी कपालिका वेश्या रजकी नापितांगना।
ब्राह्मणी शूद्रकन्या च तथा गोपाल कन्यका।
मालाकरस्य कन्या च नव कन्याः प्रकीर्तिताः
विशेष वैदग्ध्य युताः सर्व्वा एव कुलांगनाः
रूप यौवन सम्पन्नाः शील सौभाग्य शालिन्यः
पूजनीयाः प्रयत्नेन ततः सिद्धो भवेन्नरः।

अतः प्रेमिका धोबिन अथवा रजकी तंत्र-शास्त्र के अनुकूल थी।

फलतः सहजिया दर्शन का मर्म भी उन्हें ज्ञात था।[१] राधा-कृष्ण प्रेम में इन्होंने इस सहजिया परकीया प्रेम[२] को मिलाकर राधा-कृष्ण से संलग्न भावधारा को एक नवीन रूप प्रदान कर दिया। इस ताने-बाने से बुना हुआ कृष्ण-कथानक वैष्णव भूमि पर उच्च दिव्य प्रेम की भूमि तक पहुँच गया, जहाँ प्रेम ही साधना का मूलाधार हो गया। राधा-कृष्ण के कथानक के साथ एक और प्रमुख धारा संलग्न दिखाई पड़ती है, पर वह अत्यन्त गूढ़ और अप्रत्यक्ष कही जायगी। वह है लोक क्षत्र के लौकिक आख्यान की। स्पष्ट है कि कृष्ण कथा का भी एक अंश उतना ही लौकिक प्रतीत होता है जितना कि शिवाख्यान का वह अंश जिसमें भिक्षुक शिव को विवश होकर हल चलाना पड़ता है, इस प्रकार

१. **डा० दीनेशचन्द्र सेन का अभिमत है कि**—'Parakiya Rasa, which is sometime identified with Madhura Rasa, forms the essence of the Vaishnava theology. It is akin to the Sahajia Cult, which, as explained in a previous Chapter means the romantic worship of a woman other than one's own wife.'

H.BLL (1954) पृ० 119.

पृ० ११९।

२. **बंगाली राधाकृष्ण कथा में राधा के जन्म की जो कथा मिलती है उससे विदित होता है कि राधा के जन्म का मूल स्वकीयत्व लिये हुए है। राधा जन्म की कथा यह है—राधा वृषभानु की पुत्री है। जब राधा पैदा हुई तो उसने अपनी आँखें नहीं खोलीं। यह देखकर लोग अनुमान करने लगे कि यह अंधी है। शिशु राधा को देखने और लोगों के साथ कृष्ण भी गये। जब कृष्ण उसके निकट जाकर खड़े हुए तो उसने आँखें खोलकर पहले कृष्ण को ही देखा। पहले उसने आँखें इसीलिए नहीं खोली थीं कि वह जन्म धारण करते ही पहले-पहल कृष्ण के ही दर्शन करना चाहती थी। जन्म से ही कृष्ण के प्रति राधा का यह प्रेम स्वकीयत्व सूचक है। सहजिया प्रभाव ने उसे परकीया कर दिया है।**

शिव को प्रथम कृषि-संस्कृति का प्रवर्त्तक वीर (Culture Hero) मान सकते हैं। शिव के लौकिक कथानक में वागदी स्त्री को लेकर रसिकता तथा लम्पटता की झलक मिलती है। अन्य मंगल या पांचाली काव्यों में लौकिक और पौराणिक वृत्त का साथ-साथ समावेश मिलता है। उसी प्रकार कृष्ण कथानक या कृष्णाख्यान में हमें लोक-क्षेत्र से लिया हुआ गोकुल का वृत्त मिलता है। शिव कृषि वीर हैं, कृष्ण गोचारक वीर (Cattle Culture Hero) हैं। वह गायें चराता है। ग्वाल बालों के साथ खेलता है, गोपियों के साथ उसकी लम्पटता में कोई कमी नहीं दिखाई पड़ती। मथुरा और द्वारिका के पौराणिक कृष्ण के आख्यान में यह गोकुल कथानक स्पष्ट जोड़ा हुआ मिलता है। किन्तु अन्य लोक-मंगलों और कृष्ण-कथा में एक अत्यन्त ही बड़ा अन्तर यह मिलता है कि कृष्णाख्यान बहुत प्राचीन आख्यान है और इसके लौकिक तथा पौराणिक दोनों आख्यान शताब्दियों पूर्व घुल-मिल चुके थे। उन्हें बहुत पूर्व ही ऐसे कुशल मेधावी कवि मिल चुके थे, जिन्होंने गोकुल कथानक को धर्म और अध्यात्म की भूमि पर पहुँचा दिया था। उसी स्रोत से कृष्ण कथानक को पाकर बंगाली कवियों ने अपनी स्वतंत्र कल्पना से और भी चमत्कारिक बना दिया। किन्तु चंडीदास ने इस गोपालक कृष्ण को नहीं अपनाया। उनका मुख्य विषय परकीया-रस है। यह रस 'मधुररस' भी कहा गया है। इसके लिए कृष्ण-राधा का प्रेम ही आधार है—इस प्रेम का, वैष्णव मधुररस के पोषण के लिए, जिन-जिन अवस्थाओं में से होकर वर्णन किया गया है वे हैं—पूर्वराग, दौत्य, अभिसार, सम्भोग-मिलन, माथुर[1] अथवा वियोग तथा भव-सम्मेलन।[2] इन अवस्थाओं में भव-सम्मेलन तो सीधा आध्यात्मिक पक्ष से संबंधित है, शेष सभी काम-शास्त्रानुगत स्थितियाँ ही हैं, जिन्हें चंडीदास ने अपनी प्रतिभा से प्राणवान् बना दिया है, और नये अध्यात्म से परिप्लावित कर दिया है। राधा-कृष्ण के प्रेम में भले ही प्रणाली

१. माथुर क्योंकि कृष्ण गोकुल छोड़कर मथुरा चले गये, जिससे वियोग आरंभ हुआ।

२. भव-सम्मेलन का अर्थ है आत्मा का मिलन।

कामशास्त्र की हो, पर उसमें काम-गंध नहीं।[1] यह बात चंडीदास ने रामी के प्रेम के संबंध में भी कही थी। तब राधा-कृष्ण के प्रेम में काम-गंध को कहाँ स्थान हो सकता है? फिर राधा-कृष्ण कोई सामान्य नायिका और नायक नहीं, वे तो ब्रह्म तथा आत्मा-स्थानीय हैं। इसीलिए राधा के मन में कृष्ण का दिव्य आविर्भाव हुआ और वह अपनी सुधबुध बिसरा बैठी।

राधा को क्या अन्तर्व्यथा हो गयी
एकान्त रहने लगी है, दूर दूर रहने लगी है
किसी की कोई बात ही नहीं सुनती।
सदा ही ध्यान मग्न रहती है। मेघों को एकटक देखती है।
नेत्रों का तारा तक स्थिर है।
आहार से विरत है, रँगे वस्त्र पहनती है।
जैसे कि योगिनी पहनती हैं।
बिखरी हुई वेणी, उसमें गुँथे हुए फूल भी बिखरे-बिखरे
बिथुरी लटें; देख रही हैं
विकल नेत्रों से। मेघों को टकटकी लगाकर ताकती है।

१. चंडीदास ने लिखा है —

सुन रजकिनी रामि,
ओ दुटि चरण, शीतल बलिया,
शरण लेइलाम आमि।
रजकिनी रूप, किशोरी स्वरूप,
कामगंध नाहि ताय
ना देखिले मन, करे उचाटन,
देखिले पराण जुडाय।

(हे रामी धोबिन, सुनो। तुम्हारे चरण युगल शीतल जानकर मैंने यहाँ शरण ली है। रूप तुम्हारा धोबिन का है, स्वरूप से तुम किशोरी हो, जिसमें कामोत्तेजन नहीं है। तुमको न देखकर मन अकुलाने लगता है और देखने से मन प्रफुल्लित हो उठता है।)

दोनों हाथों को फैलाकर क्या कहती है?
एक दृष्टि डालकर मयूर-मयूरी के
कण्ठ को एकटक निहारती है।
चण्डीदास कहते हैं यह नवीन परिचय
उसे कृष्ण के प्रेम का मिला है।

कृष्ण के प्रेम की प्रथम अनुभूति ने राधा को जगत से विरक्त और मेघ, केश तथा मयूरकंठ मे कृष्ण-वर्ण के प्रति आसक्त कर दिया। राधा में प्रेम के इस उदय का स्रोत और रूप जितना अलौकिक है कवि चण्डीदास ने उतनी ही अलौकिक अनुभूति से उसे व्यक्त भी किया है। श्याम वर्ण में श्याम का प्रतिबिम्ब और उसमें राधा के अन्तर का ध्यानस्थ हो जाना! निश्चय ही यह विधि स्थूल प्रेम की नहीं; स्थूल उपादानों और प्रतीकों से अस्थूल अशरीरी अलौकिकत्व का आत्मगत साक्षात्कार ही ऐसी अवस्था प्रकट कर सकता है। अध्यात्म के ऐसे ही मर्मस्पर्शी दिव्य भावों को इंगित करने वाले सरल सहज प्रतीकों से इनके पद तरंगित हो रहे हैं, जिनसे पाठक तरंगित हो उठता है। इस पद को लीजिए—"मेघ की घटाएँ घिर रही है, प्रियतम भला ऐसे में मेरे पास कैसे आ सकते हैं? मैं भी गुरुजनों से घिरी हुई हूँ, मै भी उससे मिलने कैसे जा सकती हूँ! आह! मैने यह क्या किया, ऐसे मे आने का आवाहन देकर उसे मैंने कितना विकल और दुखी नही कर दिया! वह मुझे कितना प्रेम करता है, वह मेरे लिए क्या नहीं कर सकता, मुझे वह दुखी और उदास तो कभी देख ही नहीं सकता। हमारे प्रेम की इस कथा से समस्त ससार आनंद-विभोर हो उठेगा"—

ए घोर रजनी मेघेंर घटा
केमने आइले बाटे
आँगिनार माझे बंधुया भिजिछे
देखिया पराण फारे
सइ कि आर बलिव तोरे
बहु पुण्यफले से हेन बंधुया
आसिया मिलल मोरे

घरे गुरुजन ननदी दारुण
विलम्बे बाहिर हैनु
आहा मरि मरि संकेत करिया
कतना यातना दिनु
बंधूर पीरिति आरति देखिया
मोर मने हेन करे
कलंकेर डालि माथाय करिया
आनल भेजाइ घरे
आपनार दुख सुख करिभाने
आमार दुखेर दुखी
चण्डीदास कहे बंधूर पीरित
शुनिया जगत सुखी।[१]

चंडीदास के पदों मे मानव-जीवन में प्राप्त यावत् जो अनुभूतियाँ तथा कौशल हैं, सभी को स्थान मिला है। यह प्रेम जितना प्रगाढ़ है उतना ही अनोखा है। कवि कह उठा है—

एमन पीरिति कभू नाहि देखि शुनि।
पराणे पराण बाँधा आपनि आपनि।[२]

कवि की दिव्य अनुभूति ने काम-विषयक स्थूल उपादानों और व्यापारों को नये अलौकिकत्व से भर दिया है, और उनमें कवि की आत्मा की ब्रह्म-विषयक तड़प स्पन्दित हो उठी है। श्रीकृष्ण-कीर्त्तन के कृष्ण विष्णु है, वे

१. इस भयंकर डरावनी रात्रि में जब काली-काली घटाएँ छा रही हैं, तुम पगडंडी पर कैसे आ गये ? आँगन के बीच खड़े होकर मेरे प्रिय भीग रहे हैं यह देखकर मेरा हृदय फटा जा रहा है। हे सखि, मैं तुझसे कैसे कहूँ कि कितने पुण्य करने के पश्चात् मेरे प्रिय मुझसे आकर मिले है। घर में गुरुजन, सास, ननद आदि होने से बड़ी कठिनाई और विलम्ब से अपने प्रिय से भेंट होती है। आह भर-भरकर दूर से संकेतादि देकर न जाने उनके मन को मैंने कितना कष्ट दिया है। अपने प्रिय का प्रेम

इसीलिए विष्णु नहीं कि कवि स्थान-स्थान पर यही राग अलापता मिलता है, वरन् वे इसलिए विष्णु ही नही ब्रह्म है कि उनके स्थूल काम-व्यापारों और काम-प्रतीकों के स्थूल अर्थो के संयोजन मे प्रेम की जो मर्म-स्पर्शिता है, वह ब्रह्म और अध्यात्म से स्फुरित प्रतीत होती है, उससे राधा का कृष्ण एक दिव्य भाव का आलंबन बन जाता है।

श्रीकृष्ण कीर्तन की एक ही हस्तलिखित जीर्ण पुस्तक मिली है, उसी के आधार पर बंगीय साहित्य परिषद द्वारा प्रकाशित श्रीकृष्ण कीर्त्तन का पाठ दिया गया है। यह प्रति सोलहवीं शती की लिखी विदित होती है। लिखी गयी होगी पहले ही, अतः बड़ु चंडीदास को कम से कम पंद्रहवीं शती का तो माना ही जा सकता है।

चंडीदासजी के प्रेमतत्त्व की महनीयता का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, यह भी बताया जा चुका है कि ये कृष्ण को विष्णु का अवतार मानते थे, और प्रेम का जो उच्चस्तर राधा के द्वारा प्रकट किया गया है, इससे कृष्ण में ब्रह्मत्व भी झलकता मिल सकता है, पर बड़ु चंडीदास के चित्रण में राधा और कृष्ण मानव जगत के ही स्त्री और पुरुष हैं। उनकी लीलाएँ सभी मानव तरुण-तरुणियों के अनुरूप हैं। उनका यह श्रीकृष्ण कीर्तन कई लीला खंडों मे विभक्त है। इन खंडों में लीला की कथा गेय और मुक्तक जैसे पदों के द्वारा आगे बढ़ती है। दान खंड में कथा है कि कृष्ण ने एक दिन अंकुरित यौवना राधा को देखा और उसके प्रेमपाश में बँध गया। अब राधा से प्रेम निवेदन किया जाय, इसके लिए उसने राधा की एक दादी को दूती बनाया। राधा विवाहिता थी। राधा की दादी का नाम था बड़ाइ। बड़ाइ ने पहली बार कृष्ण के प्रेम की बात चलाई, राधा ने उसे दुत्कार दिया। दुबारा फिर फुस-

और कातरता देखकर मेरे मन में ऐसा लगता है जैसे कोई फूल को सिर पर लाकर उस पर स्वच्छ जल का छिड़काव करता हो।

२. इस प्रकार की प्रीति न कभी देखी न सुनी है। अपने आप मेरा और तुम्हारा हृदय हृदय से बँध चुका है।

लाया और कहा कि कृष्ण तो विष्णु का अवतार है, उससे प्रेम करने में कोई हानि नहीं। राधा ने फिर फटकार लगायी। बड़ाइ ने कृष्ण को एक चाल बतायी। राधा और उसकी सखियाँ दही दूध वेचने मथुरा जाया करती थी। कृष्ण ने उनका मार्ग रोककर दान या कर माँगा। दोनों में विवाद हुआ। बड़ाइ ने आकर कृष्ण का पक्ष लिया। दान की रकम भारी थी। कृष्ण दान को छोड़ सकता था यदि वह उससे प्रेम करे। राधा को विवश होकर कृष्ण को समर्पण करना पड़ा। दानखंड यहाँ समाप्त हो गया है।

तब है नौकाखंड। राधा में कृष्ण के प्रति अभी वास्तविक प्रेम पैदा नहीं हुआ था, शरीरतः भले ही वह उसके वश में हो गयी हो। बड़ाइ की सलाह से कृष्ण ने नाविक का स्वाँग भरा। राधा उसकी नाव में पार जाने के लिए बैठी। किनारे से कुछ इधर ही कृष्ण ने नाव उलट दी, प्राण बचाने के लिए राधा को कृष्ण से लिपट जाना पड़ा। तब दोनों तैर कर किनारे पर लगे।

नौकाखंड के बाद है मारखंड तथा छत्रखंड। राधा की सास को राधा पर सन्देह हो गया। उसने उसका मथुरा जाना बन्द कर दिया। कृष्ण के कहने से बड़ाइ ने फिर सहायता दी। उसने राधा की सास को समझा-बुझाकर राधा को फिर मथुरा आने-जाने की आज्ञा दिला दी। इस वार कृष्ण राधा का भारवाहक वना। राधा का सामान लादकर कृष्ण को मथुरा ले जाना पड़ा, लौटते समय उसे रास्ते भर राधा पर छाता लगाना पड़ा।

वृन्दावन खंड में राधा की ईर्ष्या का वर्णन है। कृष्ण ने एक उपवन लगाया, नाम रखा वृन्दावन। उसमें उसने राधा और उसकी सहेलियों को बुलाया। उनके आने पर कृष्ण राधा की उपेक्षा करके सहेलियों से प्रेम की वातें करने लगा। इससे राधा क्रुद्ध गयी, कृष्ण ने जब उससे बातें करनी चाहीं, तो राधा ने उसे उलटी-सीधी सुनायी। अब कृष्ण ने एक दम रुख पलटकर राधा पर यह दोष लगाया कि वह उसकी वाटिका के फूल आदि तोड़कर उसे नष्ट कर रही है। राधा का मान एक दम टूट गया। उसने कृष्ण से कहा कि उन दोनों का प्रेम ईश्वर ने जुड़वाया है, उसके बीच में किसी और स्त्री को उन्हें नहीं आने देना चाहिए। मैं आगे से-आपकी पूर्णतः वशवर्तिनी रहूँगी, आप किसी अन्य स्त्री की ओर न झुकें। तब दोनों एक दूसरे से मिल गये। भेद दूर हो गये।

कालियदमन खंड में कालियदमन की लीला का उल्लेख है। यमुनाखंड में वर्णन है कि कृष्ण ने यमुना के एक सर पर अपना अधिकार जमा लिया और उसमें अपनी शर्तों पर ही राधा को आने दिया। वहाँ कृष्ण-राधा ने खूब जल-केलि की। इसी सर पर राधा और अन्य सखियों के वस्त्रहरण भी कृष्ण ने कर लिये। यह वस्त्र हरण खंड का विपय है।

सर में स्नान करते समय राधा का हार कृष्ण ने चुरा लिया। राधा ने यशोदा से शिकायत कर दी, यशोदा ने कृष्ण को फटकारा। कृष्ण ने चिढ़कर राधा से बदला लेने के लिए ऐसा काम-बाण छोड़ा कि राधा मूर्छित हो गयी। बड़ाइ ने कृष्ण पर स्त्री-हत्या का आरोप लगाया और उसे एक कोठरी में बंद कर दिया। बहुत खुशामद करने पर बड़ाइ ने उसे मुक्त किया। राधा को बेहोश देखकर कृष्ण को सचमुच बहुत दुःख हुआ। आखिर राधा को होश आ गया और कृष्ण ने उसे मना लिया। दोनों फिर एक हो गये।

राधा ने इस बार फिर विकट मान धारण किया। कृष्ण ने उसे मनाने के बहुत यत्न किये, सब प्रयत्न असफल रहे। तब कृष्ण ने बांसुरी बनायी और उससे मधुर ध्वनियाँ बजाने लगा। वंशी की ध्वनि ने राधा को मान त्यागने के लिए विवश कर दिया, वह कृष्ण से मिलने के लिए तड़पने लगी। किन्तु अब कृष्ण ने मान धारण कर लिया। राधा विरह में अत्यन्त दुःखी हुई। उसने बड़ाइ से कहा कि जैसे भी हो कृष्ण को लाकर मुझसे मिलाओ। राधा का प्रेम लोक-लाज आदि से बहुत ऊपर उठ गया था। वह कृष्ण के बिना नहीं रह सकती थी। बड़ाइ ने पहले तो उसे ऊँच-नीच समझाया और अब यह मार्ग छोड़ देने की सलाह दी। पर राधा का विरह इतना तीव्र था कि इन उपदेशों का असर भी उलटा ही पड़ा। आखिर बड़ाइ ने राधा से कृष्ण की बंशी की चोरी करवा ली। उधर कृष्ण भी बिना बंशी के नहीं रह सकते थे। राधा से कृष्ण ने बंशी माँगी। राधा ने अपनी शर्तें मनवायीं, तब वंशी दी। यह कथा वंशी खंड की है।

अंतिम खंड 'राधा-विरह' का है। कृष्ण राधा की उपेक्षा करने लगे, उधर राधा का प्रेम नित्य ही बढ़ता गया। बड़ाइ वृद्धावस्था के कारण वैसे सहायता देने में असमर्थ थी पर राधा की दीनदशा देखकर वह जैसे-तैसे कृष्ण को लिवा लायी। वृन्दावन में दोनों फिर मिले। राधा ने कृष्ण को पूर्ण समर्पण कर दिया

और अपने पिछले व्यवहारों के लिए क्षमा माँगी। कृष्ण ने कहा कि अब यह प्रेम-लीला राधा को शोभा नहीं देती। वह भी अब सँभल गया है, वह अब योग का अभ्यास करने लगा है। उसने यह भी बताया कि अब वह मथुरा चला जायगा, क्योंकि वह अवतार है, और अवतार लेने का काम भी करना पड़ेगा। राधा की बहुत अनुनय-विनय पर कृष्ण राधा की बात मान गया। मिलन-सुख में विभोर राधा को नींद आ गयी। वह कृष्ण की गोद में सिर रखकर सो गयी। पर कृष्ण उसके सो जाने पर उसे छोड़कर चले गये। इसके बाद बहुत दिनों तक कृष्ण का पता ही न चला। राधा विरह में व्याकुल रहने लगी। हारकर बड़ाइ मथुरा पहुँची और जैसे-तैसे कृष्ण से मिली। कृष्ण ने कह दिया कि वह अब नहीं लौट सकता। एक तो वह राधा से पहले दुर्व्यवहार के कारण रुष्ट है। दूसरे वह अवतार है, उसे कंस को मारकर व्यवस्था करनी है।

राधा विरह खंड यहीं तक मिलता है। आगे प्रति खंडित है।

"श्रीकृष्ण कीर्तन' के द्वारा बडु चंडीदास ने काव्य क्षेत्र में नयी संभावनाओं के द्वार खोल दिये। पद-साहित्य की एक दीर्घ परंपरा बँगला साहित्य में आगे चलकर बहुत पनपी और उसने बँगला साहित्य को अलौकिक रस से आप्लावित कर दिया। इन्हीं से वैष्णव पुनराहरण को प्रगति मिली।

इस पुनराहरण में हम बँगला साहित्य को तीन धाराओं में आरंभ से ही विभक्त पाते है। ये तीनों धाराएँ यहाँ से चलकर नदिया युग की समाप्ति तक प्रवाहित मिलती हैं। इन्हें यों प्रस्तुत किया जा सकता है—
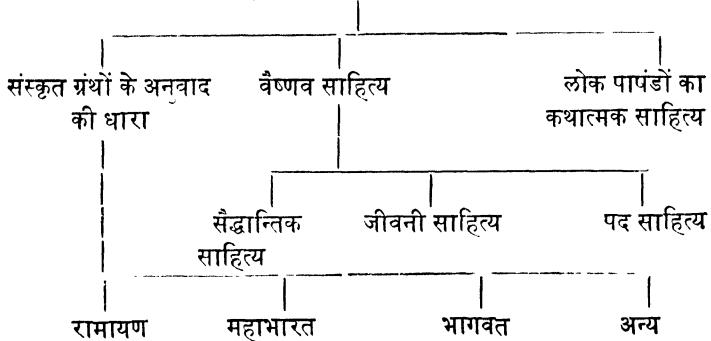
पहले की अपेक्षा दूसरा अर्थात् वैष्णव साहित्य कहीं विशाल था, किन्तु इससे भी विशाल थी तीसरी धारा, लोक धर्मों के देवी-देवताओं की पांचाली से संबंधित।

अनुवाद तथा अनुकरण की धारा

बौद्ध धर्म के ह्रास क्या लोप के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि भाव-जगत में एक खोखलापन आ गया, और उसीकी पूर्ति के लिए बौद्धधर्म की प्रतिद्वंद्विनी हिन्दू धर्म की धारा की संस्कृत भाषा के ग्रंथों के अनुवाद किये जाने लगे। ब्राह्मण-धर्म इस युग में अत्यन्त सक्रिय दृष्टिगत होता है। उसके पोपकों की चेष्टा यही थी कि उनका साहित्य घर-घर में प्रवेश कर जाय। इसीलिए बौद्धधर्म तथा लौकिक धर्मों की प्रणाली का अनुकरण करते हुए संस्कृत के धर्मग्रंथों के अनुवाद बंगला में किये जाने लगे। इन अनुवादों में संस्कृत का हू-ब-हू अर्थान्तर नहीं किया गया, वरन् पूर्ण स्वतंत्रता का अनुसरण किया गया है। उन्हें गायकों ने अपनाया और वे गा-गाकर ब्राह्मण-पुराणों की कथाओं को जन-जन तक पहुँचाने लगे।

राम-शाखा

इन अनुवादों में सबसे पहले कृत्तिवास की रामायण हमारा ध्यान आकर्षित करती है। कृत्तिवास का जन्म बंगाली माघ महीने की ३०वीं तिथि को सन् १३४६ ई०[1] के फर्बरी महीने में हुआ था। कृत्तिवास ने अपने पूर्वजों का जो परिचय दिया है, उससे विदित होता है कि वह संस्कृत के महाकवि श्रीहर्ष के वंशजों की परंपरा के कुलीन ब्राह्मणों के उस घराने में उत्पन्न हुआ था जो गौड़ेश्वर 'आदिशूर' के बुलावे पर कन्नौज से बंगाल में आये थे। ये लोग पहले स्वर्ण ग्राम में बसे थे और कृत्तिवास के पूर्वज वहाँ से सन् १२४८ ई० के लगभग फूलिया

१. डा० सुकुमार सेन ने बताया है कि "बहुत कम तथा अत्यन्त संदेहास्पद सामग्री के आधार पर कुछ विद्वान् कृत्तिवास का जन्म १३९८ में मानते हैं। यह सामग्री कवि के उस कथित आत्मवृत्त में से ली गयी है, जिसमें स्पष्टतः बहुत बाद की बातें भी सम्मिलित हैं। (History of Bengali Literature पृ० ६७)

ग्राम में चले गये। फूलिया ग्राम के इसी कुटुंब में कृत्तिवास का जन्म हुआ। कृत्तिवास के पिता थे बनमाली और माता का नाम था मालिनी। संस्कृत में व्याकरण और काव्य का पांडित्य प्राप्त करके कृत्तिवास गौड़ेश्वर से संरक्षण पाने के लिए गौड़ गया। गौड़ेश्वर कृत्तिवास रचित श्लोक सुनकर—

खुसि हैया महाराज दिला पुष्पमाला।
केदार खां शिवे टाले चन्दनेर छड़ा,
राजा गौडेश्वर दिल पाटेर पाछड़ा।
राजा गौड़ेश्वर बले किबा दिब दान,
पात्र मित्र बले राजा जाहार विधान॥

और गौडेश्वर ने कहा—

जाहा इच्छा हय ताहा चाह महाराजे।[१]

कृत्तिवास ने निवेदन किया—

महाराज, मैं किसी पुरस्कार के लिए नहीं आया। मेरे लिए तो गौरव और यश ही सार है।

इससे महाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए

सन्तुष्ट हइया राजा दिलेन सन्तोक
रामायण रचिते करिला अनुरोध

और इस समाचार से कि महाराज ने[२] कृत्तिवास को रामायण लिखने का आदेश दिया है, जहाँ तहाँ से लोग कृत्तिवास की प्रशंसा करने लगे—

१ खुश होकर महाराज ने पुष्पमाला पहनायी। केदार खाँ ने उनके मस्तक पर चन्दन का लेप किया। राजा गौड़ेश्वर ने पाट का पिछौरा दिया। अन्त में राजा गौड़ेश्वर ने कहा 'और क्या दान मैं दूँ ?'। सभासदों तथा मित्रों ने कहा जो कुछ भी विधान में हो वही करें।

२. कृत्तिवास के इस परिचय से यह विदित नहीं होता कि यह महाराज कौन थे। कवि ने महाराजा के कई पार्षदों का तो उल्लेख किया है, पर महाराजा का नाम नहीं दिया। डा० दीनेशचन्द्र सेन का मत है कि यह

सब बले धन्य धन्य फूलिया-पण्डित
मुनि मध्ये बाखानि बाल्मीकि महामुनि
पण्डितेर मध्ये कृत्तिवास गुणी ।
(सब बोले, रे धन्य धन्य तू फुलिया का पंडित
मुनियों में जैसे महामुनि कहलाते वाल्मीकि
पंडितों में शिरोमणि है कृत्तिवास गुणी ।)

इस प्रेरणा या अनुरोध के कारण कृत्तिवास ने रामायण की रचना की।

कृत्तिवास की रामायण अत्यन्त लोक-प्रिय हुई और तब से अब तक भी इसकी लोकप्रियता में कमी नहीं आयी। इसकी लोकप्रियता ने इस रामायण को विकृत भी किया है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने इसको लोकप्रिय जान इसमें हेर-फेरकर अपनी सांप्रदायिक छाप जमाने की चेष्टा की। यही कारण है कि आज इसका जो रूप मिलता है, वह पर्याप्त प्रक्षिप्तांशों से युक्त है। वैष्णव और शाक्तों के हाथ की करामातें तो स्पष्ट दिखायी पड़ती ही हैं।

जो भी हो कृत्तिवास की रामायण बँगला साहित्य की नींव का पत्थर है। कृत्तिवास की रामायण का आदर्श तो वाल्मीकि की रामायण थी, किन्तु बाद के संशोधनों ने इसमें पर्याप्त परिवर्तन कर दिया। इसमें राम के वनगमन से लेकर सीता के भूमि में समा जाने तक का वृत्त दिया हुआ है। विद्वानों का मत है कि कृत्तिवास की रामायण की करुणा प्रायः उसी परिपाक पर पहुँची है जो वाल्मीकि की रामायण मे मिलती है। यह परिपाक इस प्रतिभाशाली कवि ने सीधी सरल बँगला भाषा के माध्यम से किया है। रस और भाषा दोनों के कारण इस रामायण ने लोगों के हृदय और कण्ठ में स्थान प्राप्त कर लिया है। इन दोनों बातों के साथ एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वस्तुतः कृत्तिवास की रामायण अनुवाद मात्र नहीं। उसमें बहुत-सी सामग्री ऐसी है जो कवि ने लोक-क्षेत्र से प्राप्त की है अथवा अन्य भाषा के स्रोत से प्राप्त की है। रामायण में महिरावण, भस्मलोचन, अंगद का दौत्य तथा राम की शक्ति या दुर्गा-पूजा

महाराजा ताहिरपुर के कंस नारायण होंगे । एक दूसरे मत से ये राजा गणेश होंगे ।

लोक-क्षेत्र से गृहीत विषय हैं। इसी प्रकार सीता-निर्वासन की कहानी अबंगाली रामायण से ली गयी है। इस प्रकार यह रामायण स्वतः एक स्वतत्र रचना ही हो गयी है, जिसमें बंगाली लोक-क्षेत्र की सामग्री, सहज सरल लोक-भाषा बँगला, उसका सर्वप्रिय छंद पयार और इन सबके साथ राम, लक्ष्मण, सीता आदि पात्रों में बंगाली जन का चरित्र और वातावरण में घरेलूपन झलकता है। इसी-लिए यह ठीक ही कहा गया है कि इस रामायण में उच्च कोटि के लोक-साहित्य के सभी आकर्षक गुण विद्यमान हैं।[१]

कृत्तिवास के बाद भी २०–२१ अनुवाद बँगला में प्रस्तुत हुए। सभी स्वतंत्र अनुवाद थे। जिन कवियों ने ये अनुवाद किये वे ये हैं—

१. षष्ठीवर सेन	–षष्ठीवर सेन पिता थे, गंगादास थे पुत्र।
२. गंगादास[२]	–षष्ठीवर ने रामायण अधूरी छोड़ी थी, उसे गंगादास ने पूर्ण किया। गंगादास विस्तार-प्रिय थे।
३. द्विज दुर्गादास	–समय अज्ञात, इन्होंने अपनी रामायण में कृत्तिवास को श्रद्धा अर्पित की है।
४. जगतराम	–समय १६५५ ई०–इन्होंने पंचकोट के राजा रघुनाथ सिह भूप के आदेश से रचना की।
५. रामप्रसाद	–समय १६८०–इन्होंने अपने पिता जगतराम की रामायण का अन्तिम काण्ड लिखा।
६. शिवचरन	–समय १८वीं शती का अन्तिम चरण–इनकी रामायण का नाम है शारदा मंगल।

१. श्री० जे० सी० घोष ने ठीक ही लिखा है—"It has all the engaging qualities of first rate folk literature. पृ० ३६।

२. गंगादास ने बहुत लिखा है। इन दोनों ने केवल रामायण का ही अनुवाद नहीं किया, महाभारत का अनुवाद भी किया और मनसा देवी पर भी काव्य रचना की।

७. अद्भुताचार्य[1] —१७४२ ई० में अनुवाद समाप्त किया—इनकी कृति अत्यन्त लोकप्रिय थी, विद्वानों का मत है कि इन्हीं के ग्रंथ से लेकर कृत्तिवास में कितने ही अंश बाद में जोड़ दिये गये।

८. कविचंद्र[2] चक्रवर्ती —समय अज्ञात—कुछ विद्वानों का मत है कि 'अंगद का दौत्य' इन्हीं की रचना है,[3] और अब यह कृत्तिवास की रामायण का अभिन्न अंग हो गयी है।

९. फकीरराम कवि-भूषण —कुछ विद्वानों का कहना है वह 'अंगद का दौत्य', फकीरराम ने रचा था[4]।

१०. लक्ष्मण बंद्योपाध्याय —समय १७वीं शती का मध्य।

११. बलराम बंद्योपाध्याय—१८३८ ई० में इनकी कृति पूरी हुई।

१२. रघुनंदन गोस्वामी —रघुनंदन गोस्वामी का अनुवाद सर्वोत्तम माना जा सकता है। इनकी यह 'रामरसायन' स्वतन्त्र रचना ही मानी जा सकती है क्योंकि छन्द-सौष्ठव, रचना के शैलीगत परिमार्जन, तथा भाषाधिकार के कारण इसको यह स्थान प्राप्त है। इस प्रकार वाल्मीकि रामायण तथा अन्य पुराणों का ही इस पर प्रभाव नहीं, तुलसी रामायण का भी प्रभाव है।

१. अद्भुताचार्य तो इनकी उपाधि थी, इनका नाम था नित्यानंद।
२. इस कवि का नाम भी शंकर था, कविचन्द्र उपाधि थी।
३. रामायण के अनुवाद के अतिरिक्त इस कवि ने रामायण, महाभारत, तथा भागवत से विषय छाँटकर उन पर लगभग ४६ रचनाएँ कीं।
४. यह मत आधुनिक है, अतः इसे ही मान्यता दी जानी चाहिए।

१३. राममोहन —समय अठारहवीं शती का अन्तिम चरण, इनके काव्य में राम का दैवत्व पद-पद पर प्रकट होता है। प्रकृति वर्णन में भी वह विद्यमान है।[1]

१४. रामगोविन्द दास —समय अज्ञात—इनकी रामायण एक बृहद ग्रंथ है।

इन पूर्ण रामायणों के अतिरिक्त ऐसे कितने ही ग्रंथ मिलते हैं जो रामायण की किसी खंड-कथा पर लिखे गये हैं। कुछ ऐसे ग्रंथ भी हैं जिनमें प्रसंगात् ही राम-चरित्र का समावेश हुआ है। ये ग्रंथ १४वीं से १६वीं शती के बीच में रचे गये। इनमें से कुछ ये हैं——

१. तुलसीदासजी ने जैसे प्रकृति-वर्णन में नैतिक सिद्धान्तों को अलंकारिक ढंग से सँजोया है, वैसे ही इस कवि ने प्रकृति-वर्णन में राम का दैवत्व प्रस्तुत किया है——यथा——

जलपाने चातकेर तृष्णा दूरे जाय
राम पैले जेमने वासना क्षय पाय।

(स्वाति बुंद पा ज्यों चातक की तृषा दूर हो जाती है, राम कृपा पा त्यों भक्तों में वासना क्षय पाती है।)

पुलकित हये मेघ डाके घर घन
जेमन रामेरे डाके नामपरायण।

(पुलकित हो हो मेघ गरजता है घन-घन। जैसे राम पुकार रहा हो उनका कोई नाम——परायण)

नद नदी अति वेगे समुद्रे मिशाय
जेमने रामेर आगे जीव लय पाय

नदियाँ-नद अत्यन्त वेग से जा समुद्र में मिलते हैं——जैसे जीव राम के अंग में लय पाकर जा मिलते हैं। वर्षा के वर्णन में तुलसी और राम-मोहन की समानता किसे नहीं आकर्षित करेगी।

(१)	श्री धर्म इतिहास	—ले० गुणराज खां
(२)	कौशल्य चौशिका	—ले० रामजीवन रुद्र
(३)	सीतार वनवास	—ले० गुणचन्द्र का पुत्र
(४)	लवकुशेर युद्ध	—ले० लोकनाथ सेन
(५)	पारिजात हरण	—ले० भवानीनाथ
(६)	रायवर	—ले० द्विज तुलसीदास
(७)	रामेर स्वर्गारोहण	—ले० भवानीचन्द्र
(८)	लक्ष्मण दिग्विजय	—ले० भवानी दास
(९)	रामायण	—ले० द्विज दयाराम
(१०)	रामायणी कथा	—ले० काशीराम
(११)	जगत् वल्लभ की रामायण	
(१२)	भुशुडी रामायण	—ले० राजा पृथ्वीचन्द्र
(१३)	लंका कांड	—ले० फकीर राम
(१४)	अरण्य काड	—ले० वीकन शुक्ल दास
(१५)	कालनेमीर रायवर	—ले० काशीनाथ[1]

रामायण के इन अनुवादों से स्पष्ट है कि बँगला भाषा के कवियों ने इन अनुवादों में पूर्ण स्वातन्त्र्य से काम लिया है, और जहाँ भी उन्हें अवसर मिला है अपनी कल्पना और प्रतिभा का उपयोग कर कथानक और भाव-संपत्ति दोनों को अपने देश-काल के अनुरूप ढाल लिया है। लोक-क्षेत्र और लोकवार्ता के प्रति इनमे इतनी गहरी आस्था रही है कि इन्होंने वहाँ से अनगढ़ सामग्री लेकर इन रचनाओं मे सँजोयी है और इनके मूल कथानकों और काव्यों में जहाँ दिव्यता अथवा अलौकिकता रही है, वहीं इन्होंने उसे लोक-साँचे में ढाल दिया है। इस प्रकार अपने वैशिष्टच को विगलित नहीं होने दिया है।

१ वंशीदास की कन्या चन्द्रावती रचित 'रामायण गाथा' 'छड़ा' मैंमनसिंह में प्रचलित है, यह 'पूर्ववंग नीतिका' में संगृहीत है। इसकी भाषा आधुनिक लगती है। बांगला साहित्येर इतिहास, पृ० ४७२ ले० सुकुमार सेन।

महाभारत

रामायण के उपरान्त महाभारत के अनुवादों का इतिहास देखना है। अनुवादों के संबंध में जो सामान्य बात रामायण को लेकर कही गयी है, वही महाभारत के अनुवादों पर भी लागू होती है। ये सभी अनुवाद स्वतंत्र अनुवाद हैं और कुछ निजी कथानक भी इनमे जोड़े गये है। इन कथानकों को महाभारत से जोड़ने में रामायण की अपेक्षा सुविधा थी, क्योंकि वस्तुतः महाभारत एक केन्द्रीय सूत्र से जड़ी हुई अनेक कथा-गुच्छों का समूह है। उसमें वैसी ही एक-दो कहानियाँ और जोड़ देने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। महाभारत में जो कहानियाँ जोड़ी गयीं उनमें से श्रीवत्स-चिन्ता की कहानी बंगाल में विशेष ध्यान आकर्षित करती है। इस कहानी में काव्य रस के लिए पूरी गुंजाइश है। इसी प्रवृत्ति के साथ महाभारत के अनुवाद हुए और अनुमान यह है कि प्रथम अनुवाद उसी काल में हुआ जिस काल में कृत्तिवास रामायण का प्रथम अनुवाद कर रहे थे।

रामायण के प्रथम अनुवादक 'संजय' नामक एक ब्राह्मण कवि थे। इन्होंने इस अनुवाद के संबंध में लिखा है कि––

अति अन्धकार जे महाभारत सागर।
पांचाली संजय ताक करिले उज्ज्वल॥

इससे भी यही ध्वनि निकलती है कि बंगला में महाभारत को इससे पूर्व किसी और ने प्रकाश में लाने का प्रयत्न नहीं किया था।

आज संजय के नाम से जो महाभारत मिलता है, वह एक बृहद् ग्रन्थ है। संजय के मूल ग्रंथ में समय-समय पर अन्य कवियों ने अपने किये विशेष पर्वों के अनुवाद जोड़ दिये है। जैसे किसी राजेन्द्रप्रसाद नाम के कवि का आदि पर्व, और गोपीनाथ नाम के कवि का द्रोण पर्व इसमें सम्मिलित है। और भी अन्य कवियों के ऐसे ही अनुवाद इसमें जोड़ दिये गये और वे इसमें घुलमिल गये हैं। ऐसे जोड़े हुए अंश दो तिहाई हैं। यों संजय की प्राचीन भाषा और उसके ओजपूर्ण वर्णन अन्य रचनाओं से कुछ भिन्न दिखाई तो पड़ जाते हैं, परन्तु यह समस्त समूह ही संजय कृत कहा जाता है।

संजय के बाद एक और महाभारत लिखा गया, इसकी सूचना कवीन्द्र परमेश्वर के महाभारत की एक पुष्पिका से मिलती है--

..............."नसरत खान ।
रचाइल पंचाली जे गुणेर निदान ।।

इससे विदित होता है कि नसरत खाँ ने महाभारत का अनुवाद किसी कवि से कराया था। इस अनुवाद का अभी तक पता नहीं चला।

कवीन्द्र परमेश्वर ने अपना महाभारत पंचगौड़ के नृपति हुसैनशाह के सेनापति लश्कर परागल खाँ के आदेश से किया था। इसका रचना काल १४९४-१५८५ के बीच में होना चाहिए[1]। कवीन्द्र परमेश्वर ने महाभारत का अनुवाद 'स्त्री पर्व' तक ही किया था। लश्कर परागल खाँ की मृत्यु के बाद उसका पुत्र छूटी खाँ सेनापति हुआ। छूटी खाँ ने श्रीकरण नन्दी नाम के कवि से अश्वमेध पर्व का अनुवाद कराया--

अश्वमेध कथा सुनि प्रसन्न हृदय ,
सभाखण्डे आदेशिल खान महाशय ।
देशी भाषाय एइ कथा रचिल पयार
संचोरौक कीर्ति मोर जगत संसार ।।[2]

श्रीकरण नन्दी ने महाभारत का यह अश्वमेध पर्व पयार छंद में लिखा।

इनके अतिरिक्त जो अन्य अनुवाद हुए उनकी सूची इस प्रकार है--

(१)	अश्वमेध पर्व	--ले० द्विज अभिराम
(२)	शान्ति पर्व	--ले० कृष्णानंद वसु
(३)	अश्वमेध पर्व	--ले० आनन्द मिश्र
(४)	महाभारत	--ले० नित्यानंद घोष

१. हुसैन शाह का शासन काल है, सन् १४९४-१५२५ ई०।

२. अश्वमेध की कथा सुनकर प्रसन्न हृदय से खान महाशय ने सभा मध्य यह आदेश दिया। इस कथा को देशी भाषा में पयार छन्द में लिखा गया और इसी अश्वमेध कथा ने मेरी कीर्ति सारे संसार में फैला दी।

(५) अश्वमेध पर्व —ले० द्विज रमाचंद्र खाँ
(६) महाभारत —ले० द्विज कविचन्द्र
(७) आदि पर्व से भारत पर्व —ले० शरण
(८) भारत —ले० षष्ठीवर सेन
(९) आदि पर्व तथा अश्वमेधपर्व—ले० गंगादास सेन
(१०) आदि पर्व —ले० राजेन्द्रदास
(११) द्रोण पर्व —ले० गोपीनाथ दत्त
(१२) महाभारत —ले० काशी रामदास

जैसा कहा जा चुका है, ये सभी स्वतंत्र अनुवाद थे। इनके अनुवादक कवियों ने महाभारत का अक्षरशः अनुवाद नही किया। साथ ही उसी विषय के अन्य काव्यों से भी सामग्री लेकर अपनी रचना को सजाया भी। जैसे राजेन्द्र-दास ने जो शकुन्तला की कहानी लिखी है, उस पर कालिदास की शकुन्तला और भट्टि काव्य का प्रभाव भी है।

कभी-कभी कवि ने अपनी मौलिक कल्पना का उपयोग भी किया है। जैसे गोपीनाथ दत्त ने द्रोण पर्व में द्रौपदी को भी युद्ध-प्रवृत्त दिखाया है। ऊपर जिन अनुवादों का उल्लेख हुआ है, उनमें नित्यानंद घोष का अनुवाद बहुत लोक-प्रिय हुआ और सबसे अधिक लोकप्रियता मिली काशी रामदास के महाभारत को। नित्यानंद घोष तथा काशी रामदास के महाभारतों के कितने ही स्थलों में बहुत साम्य है। इससे अनुमान यह होता है कि काशी रामदास ने पूरक कृतित्व के रूप में अपना महाभारत संभवतः नित्यानंद घोष के आधार पर खड़ा किया।

काशी रामदास के महाभारत में कवि की निजी कल्पना का अद्भुत समावेश है। इन्हीं विशेष स्थलों पर कवि की अपनी प्रतिभा का प्रकाश दिखाई पड़ता है। कवि ने अपनी कृति का स्तर लोकक्षेत्रीय रखा है। उसका उच्च अध्यात्म से संबंध नहीं, वह भक्ति भावना से अवश्य ओत-प्रोत है। इसमें ब्राह्मण-भक्ति भी प्रमुख स्थान रखती है। कुछ विषयों का समावेश उसने स्वतंत्र रूप से इसी अभिप्राय से किया है। ऐसा ही एक स्थल युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का है। इस राजसूय यज्ञ में भारत भर के राजे-महाराजे एकत्र हुए हैं। इनमें लंका के

राजा विभीषण भी हैं। वे कृष्ण को छोड़ किसीको नमन नहीं करते। युधि-ष्ठिर को भी वे नमन नहीं करेंगे। तब कृष्ण ने युक्ति से काम लिया। युधि-ष्ठिर एक ऊँचे सिंहासन पर बैठे थे, उनके नीचे उनसे कम ऊँचे सिंहासन पर कृष्ण बैठे थे। यहाँ कृष्ण ने अपना विराट रूप दिखाया। किन्तु यह दृश्य युधिष्ठिर को नहीं दिखायी दिया, शेष सभी आगन्तुकों को दिखायी दिया। जिनमें योगी भेष में आये हुए शिव भी थे, ब्रह्मा, इन्द्र भी थे। ये सभी इस विराट् को दंडवत् करने लगे, विभीषण ने भी दंडवत किया। कृष्ण ने युधिष्ठिर के बल और ऐश्वर्य की जिसको आज बड़े-बड़े देवता भी दंडवत् करते हैं प्रशंसा की। इस एक उदाहरण से प्रतीत होगा कि काशी रामदास की सूझ अनोखी ही होती थी। उसमें कौशल की कमी न थी भाव-संपत्ति ही कम थी। काशी रामदास की तत्सम-प्रधान भाषा में प्रवाह मिलता है, साथ ही संस्कृत शब्दों के प्रयोग में मर्मस्पर्शिता भी। काशी रामदास केवल आदि, सभा तथा वन पर्व तो पूरे लिख चुके थे, विराट् पर्व के कुछ अंश ही कर पाये थे। मृत्यु के समय उन्हें इस बात का दुःख था। उन्होंने अपने दत्तक पुत्र नंदराम से यह इच्छा प्रकट की कि वह उनके अधरे कार्य को पूरा करे। तदनुसार नंदराम ने उसे पूरा किया। नन्दराम का अनुवाद भी आज काशी रामदास के महाभारत में मिलता है।

काशी रामदास का महाभारत केवल १६४५ से पूर्व ही नहीं लिखा गया, वरन् १६३२ ई० से भी पूर्व लिखा गया होगा।[1] काशी रामदास की मृत्यु १६७८ ई० से पूर्व हो चुकी थी।[2]

१. काशी रामदास रचित महाभारत का उल्लेख उसके भाई गदाधर कृत "जगत मंगल" में है। जगत मंगल का रचना काल १६४५ है। अतः काशी रामदास की कृति १६४५ से पूर्व की होनी चाहिए। इधर इन्हीं गदाधर के हस्तलेख में काशी रामदास के महाभारत की प्रति मिली है। इसका लिपिकाल १६३२ ई० है। इस प्रमाण से महाभारत १६३२ से पूर्व का होना चाहिए।

२. काशी रामदास के पुत्र नंदरामदास ने अपने परिवार के पुरोहित को दान

कृत्तिवास की रामायण और काशी रामदास के महाभारत ने भारतीय साहित्य की दो प्रमुख धाराओं को जन-जन तक पहुँचाने का अत्यंत श्लाघनीय कार्य किया। ये दोनों ग्रंथ बंगाली जीवन की सांस्कृतिक परम्परा के महान् स्तम्भ हैं। अतः इनमे काव्य-प्रतिभा का उच्च अलौकिकत्व भले ही न मिले, पर बंगाली जन-जन की सामान्य मानसिक क्षमता के योग्य सव कुछ इनमें है। स्पष्ट है कि ये दोनों महान् ग्रंथ बगाली समाज के सांस्कृतिक जीवन के सामान्य स्तम्भ हो गये। ये किन्हीं विशेष सांप्रदायिक आन्दोलन या धारा के आधार नही बने। ये ग्रंथ समस्त बंगाली जन की संपत्ति है, किसी संप्रदाय विशेष की नहीं।

भागवत

किन्तु संस्कृत भागवत के बंगला अनुवाद भी बहुत हुए। भागवत का संबंध सोलहवीं शताब्दी के वैष्णव पुनराहरण के महान् आन्दोलन से हो गया। यद्यपि इसके अनुवाद का आरंभ १५वीं शती में ही हो गया था।

अभी तक की शोधों से विदित होता है कि मालाधर वसु ही प्रथम अनुवादक थे। ये कायस्थ थे और सुलतान हुसैन शाह के आदेश से इन्होंने भागवत के १०वे और ११वें स्कंधों का अनुवाद किया जिसे १४७३ ई० में आरंभ कर १४८० ई० में समाप्त किया।

सुलतान हुसैन शाह ने मालाधर वसु को 'गुणराजखाँ' की उपाधि प्रदान की थी। इन्होंने अपने अनुवाद का नाम रखा 'श्रीकृष्ण विजय"[1]। यह कहना व्यर्थ है कि कवि ने अन्य अनुवादकों की तरह भागवत का स्वतंत्र अनुवाद किया है। उसके वर्णन रोचक और प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखे गये है। मालाधर वसु

दिया था उसका दानपत्र मिला है। यह दान १६७८ ई० में दिया गया। पिता की मृत्यु के बाद ही नंदरामदास यह दान कर सकते थे।

१. "विजय" शीर्षक या "विजय" काव्य के संबंध में कुछ विद्वानों का अभिमत है कि मंगल काव्य और विजय काव्य में कोई अन्तर नहीं। कभी-कभी मंगल को भी विजय कहा गया है।

ने अपने इस भागवत में 'राधा' का समावेश भी जयदेव के 'गीतगोविन्द' की परंपरा के अनुकूल किया है। भागवत में तो राधा का उल्लेख है ही नहीं।

यह बात द्रष्टव्य है कि जैसे मालाधर वसु ने १० वें और ११ वें स्कंध का ही अनुवाद किया, उसी प्रकार उसके बाद के अनुवादकों ने केवल दशम स्कंध का ही अनुवाद किया। इन अनुवादकों में शंकर कविचन्द्र कृत 'गोविंद मंगल' विशेष लोकप्रिय हुआ।[१] 'श्रीकृष्ण मंगल' के कवि माधवाचार्य महाप्रभु चैतन्य के संबंधी थे, उन्हीं की स्थापित टोल में चैतन्य ने शिक्षा पायी थी। उनका 'श्रीकृष्ण मंगल' चैतन्य महाप्रभु को ही समर्पित हुआ है। अनुवादों की यह परंपरा १८वीं शताब्दी तक चली। कुछ लोगों ने भागवत के कुछ अंशों का अनुवाद किया तो कुछ ने भागवत से कुछ विशिष्ट स्थल चुनकर उन्ही पर रचना कर डाली। ऐसे कुछ विषय ये है--हंसदूत, प्रह्लाद चरित्र, उद्धव संवाद, ध्रुव चरित्र, सुदामा चरित्र, उषाहरण, गजेन्द्र मोक्ष, मणिहरण, वस्त्रहरण, गुरु-दक्षिणा। इनमे से मणिहरण पर तो एक ही कृति मिलती है, औरों पर एकाधिक रचनाएं मिली हैं।

इनमें से सामान्य भागवतांश तो संप्रदाय की दृष्टि से रचे गये प्रतीत होते है। कुछ रचनाएँ कथा-वैचित्र्य की दृष्टि से प्रस्तुत की गयी होंगी। कुछ कथाओं का माहात्म्य माना जाता होगा जैसे उषाहरण का माहात्म्य कि उसके पाठ से तिजारी बुखार दूर हो जाता है।

१. अन्य अनुवादकों के नाम ये हैं--

१--माधवाचार्य--कृति, श्रीकृष्ण मंगल।

२--नंदरामदास--कृति, श्रीकृष्ण मंगल।

३--कृष्णदास "कृष्णकिंकर"--कृति, कृष्ण विजय।

४--कवि वल्लभ--कृति, गोपाल विजय।

५--भक्तराम--कृति, गोकुल मंगल।

६--द्विज लक्ष्मीनाथ--कृति, कृष्ण मंगल।

ये सभी १६वीं शती के लगभग हुए होंगे।

वैष्णव साहित्य—मौलिक

यहाँ तक वैष्णव-पुनराहरण के मूलभूत कुछ ग्रंथों के अनुवाद का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इस वैष्णव-पुनराहरण में दो प्रमुख तत्त्वों का पता चलता है—एक है संस्कृत-प्रवृत्ति की प्रबलता और दूसरी है लोक-प्रवृत्ति की प्रबलता। बँगला साहित्य के आदिकाल से गौड़ेश्वरों के काल तक की जिन प्रवृत्तियों के मूल और विकास का इतिहास अब तक दिया है, उससे यह प्रतिभासित होगा कि बँगला भाषा का कवि, विषय की दृष्टि से, लोकभूमि का ही ऋणी था। उसकी रचना का विषय लोक-वार्त्ता-परक था। संस्कृत भाषा का प्रभाव बढ़ रहा था। उन लोक-वार्त्ता-कथाओं पर लिखनेवाले कितने ही कवि पंडित थे, संस्कृत की छाप उनकी भाषा पर और उनकी अभिव्यंजना पर शनैः-शनैः अधिकाधिक गहरी होती गयी, पर विषय में और चरित्रों के चित्रणों में लोक-भूमि को ये कवि नहीं छोड़ सके।

किन्तु वैष्णव पुनराहरण मे एक अनोखापन आ जुटा। वह यह कि संस्कृत प्रवृत्ति लोक-भूमि की ओर आकर्पित हो चली थी, और लोक-प्रवृत्ति संस्कृत भूमि की ओर। दोनों एक दूसरे की ओर उन्मुख और वैष्णवत्व की दिव्यता से आलोकित हो कर साथ-साथ निरंतर प्रस्तुत हुई। यह कार्य रामायण, महा-भारत तथा भागवत के द्वारा संस्कृत में भी किसी सीमा तक संपन्न हुआ था। किन्तु बँगाल में बँगला भाषा लोकभाषा बनकर वैष्णव अभिव्यक्ति का माध्यम बनी। इस लोकभाषा को जयदेव के गीतगोविंद की लोक-प्रिय संस्कृत शब्दावली मिली। इस भाषारसायन को और भी संस्कृतत्व महाभारत, रामायण तथा भागवत के उस कृतित्व ने दिया जिसमें लोकवृत्तों को संस्कृत भाषारूढ़ करके लोक-वार्ता क्षेत्र से उठाकर पुराण-कथा के क्षेत्र में स्थापित कर दिया गया था। अब वे ही पुराण-कथा के लोक-वार्ता तत्त्व संस्कृतत्व से युक्त होकर पुनः लोकभूमि पर आने के लिए विकल हुए। बँगला भाषा ने इस विकल प्रवृत्ति को ग्रहण किया। इस प्रकार जब यह दिव्य वैष्णव रसायन संपन्न हुई, तो महाभारत, रामायण तथा भागवत की इस त्रयी का अनुवाद नये मौलिक पुनराहरण की नींव बना।

इस नींव पर जो साहित्य निर्मित हुआ वह वैष्णव धर्म के नये प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु के अलौकिक व्यक्तित्व से आलोकित हो उठा। चैतन्य महाप्रभु का जादू उनके जीवन-काल में ही बंगाल भर में व्याप्त हो गया, और उनकी यशःश्री बंगाल की सीमाओं से उमड़कर बंगाल से बाहर भी बह चली। समस्त बंगाली कृतित्व एक प्रकार से इस नव-वैष्णव धारा से परिप्लावित हो उठा।

इस नयी चेतना से उद्भूत मौलिक साहित्य को हम तीन विभागों में बांट सकते हैं—
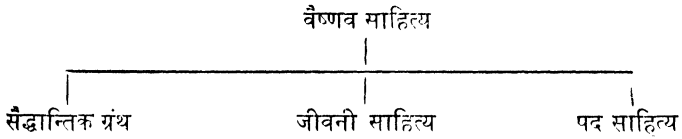
सैद्धान्तिक ग्रंथ प्राचीन शास्त्रीय परंपरा में नव वैष्णववाद की दार्शनिक व्याख्या करने के लिए प्रस्तुत किये गये। उनमें वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था।

जीवनी साहित्य का मूल तो महापुरुषों के निजी वर्णनों में माना जा सकता है। जैसे, रामायण भगवान् रामचन्द्र की जीवनी है और भागवत के कुछ स्कंध भगवान श्रीकृष्ण की जीवनी। इसी भूमि पर महाप्रभु चैतन्य खड़े हुए। चैतन्य राधा भाव की अनुभूति के लिए राधा हैं, और यों वे कृष्ण हैं। कृष्ण-कथा धर्म का मर्म उद्घाटित करती है, उसी प्रकार महाप्रभु की जीवन-कथा भी धर्म के नये मर्म को उद्घाटित करेगी और उस मर्म का पोषण करेंगी वे अन्य जीवन-कथाएँ, जो महाप्रभु के शिष्यों में से प्रतिभावानों अथवा विशेष कृपा के अधिकारियों पर लिखी गयी हैं।

इस प्रकार ये जीवनियाँ उसी अभिप्राय से युक्त प्रतीत होती हैं जो पुराण-प्रवृत्ति की परंपरा बनाता है, पर इस नवोदित वैष्णव धर्म के प्रमुख महापुरुषों की ये जीवनियाँ पुराण से भिन्न एक नयी साहित्यिक विधा को जन्म दे सकीं। जीवनी-साहित्य का आरंभ बँगला में इसी नवोदित वैष्णव धर्म की प्रतिभा से प्रतिफलित हुआ। जीवनी मे और पुराण-परपरा में जो भिन्नता विदित होती है, वह विषय के क्षेत्र और उसकी प्रतिपादन प्रणाली में मिलती है। जीवनी-

काव्य का विषय पुराण-परंपरा के काव्यों की अपेक्षा संकुचित है। इसमें केवल महापुरुष का जीवन-इतिहास या जीवन-वृत्त काल-क्रम से प्रस्तुत किया जाता है। एक परिपक्व प्रबंध काव्य की भाँति उसमें एक पूर्ण परिकल्पित कथा नहीं होती, जिसका आदि-अंत एक दूसरे की पारस्परिक अपेक्षा के तारतम्य में बँधा होता है। पुराण-परंपरा की कथा-वस्तु एक दीर्घ प्राचीन परपरा से प्राप्त होती है। जीवनी साहित्य में वह लेखक की स्वय देखी-सुनी होती है अथवा देखने-सुनने वालों से सीधे प्राप्त की जाती है। इस कारण ऐसे जीवनी साहित्य मे दैवी और अनूठे चमत्कारों की कमी नही होती, तो भी वे जीवनियाँ यथार्थता की भूमि पर खड़ी मानी जाती है। वैष्णव धर्म ने बंगला साहित्य को अभूतपूर्व जीवनी साहित्य का धनी बनाया है।

और यह पद-साहित्य। यह मंगल काव्यो की तरह प्रबध या कथा-काव्य नहीं। यह स्फुट होता है, मुक्तक की भाँति। इसका प्रधान गुण गेयता होती है; गेयता का माधुर्य इसमे भर जाता है। पद-रचना की प्रणाली भी इस नवोदय से पूर्व ही परिपक्व हो चुकी थी। बडु चडीदास तथा विद्यापति के पदो की लोक-प्रियता सिद्ध हो चुकी थी। बडु चडीदास के पदो मे कही-कही चर्यापदों की जो छाया दिखाई पड़ती है, उससे वैष्णव पद-साहित्य की परपरा को बौद्ध चर्या गीतों या पदो से अनुस्यूत माना जा सकता है। किन्तु वास्तविक बात यह है कि पद की उद्भावना लोक-क्षेत्र की अपनी चीज है। पदों को गाने की परिपाटी थी। इसमें कोई प्रमुख गायक कवि अपनी मंडली बना लेता था और पद गाने लगता था। यह मंडली बुलाये जाने पर जहाँ-तहाँ जाती थी और कीर्तन करती थी। इनके पदों मे और गीतों में एक अद्भुत तन्मयता मिलती थी। इसी परंपरा को और अधिक सुष्ठु तथा प्राणवान बनाकर और उसमें आध्यात्मिक तन्मयता का समावेश करके वैष्णव-कीर्तन प्रस्तुत हुआ। समस्त पद साहित्य गेय था और इन कीर्तन-तत्त्वो से युक्त था। वैष्णवत्व से अनुप्राणित यह पद-साहित्य अब बंगाली भाषा की अद्वितीय साहित्यिक सपत्ति हो गया है। नव-वैष्णवत्व ने इस प्रकार बंगाली साहित्य को इन तीन प्रवृत्तियों की त्रिवेणी के आप्लव से परिपूत कर दिया और उसकी भावसंपत्ति को उच्चातिउच्च गरिमा से सम्पन्न कर दिया।

अब हम पहले सैद्धान्तिक पक्ष के ग्रंथों का इतिहास प्रस्तुत करते हैं।

सैद्धान्तिक साहित्य

सत्रहवीं शती से पूर्व के सैद्धान्तिक साहित्य में हमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्राप्त होते हैं--

१. लोचनदास[1] कृत दुर्लभ सार,

२. कवि वल्लभ कृत रसकादम्ब,

३. नरोत्तम कृत प्रेम भक्ति चन्द्रिका[2],

४. मनोहरदास कृत दिनमणि चन्द्रोदय,

५. ब्रजमोहनदास कृत चैतन्य तत्त्व प्रदीप,

इसके उपरांत के सैद्धान्तिक ग्रंथ ये है--

६. नंदकिशोर दास कृत रसकलिका,

७. रामगोपालदास कृत रसकल्प वल्ली,

८. पीतांबरदास कृत अष्टरस व्याख्या[3]।

१. लोचनदास का जन्म १५२३ ई० में हुआ था।

२. यह ग्रंथ वैष्णव धर्म के महान् अधिकारी महात्मा नरोत्तमदास का लिखा हुआ है। छोटा होते हुए भी यह वैष्णव धर्मानुयायियों में अत्यन्त लोकप्रिय और प्रतिष्ठा का ग्रंथ माना जाता है।

३. इन प्रमुख ग्रंथों के अतिरिक्त और भी कई उल्लेखनीय सैद्धान्तिक ग्रंथ बँगला भाषा में लिखे हुए मिलते हैं--

१--अकिंचनदास कृत भक्ति रसात्मिका

२--अच्युतदास कृत गोपी भक्तिरस गीत

३--आनन्ददास कृत रससुधार्णव

४--आत्मतत्त्व जिज्ञासा

५--पाषंड दलन

६--चमत्कारचन्द्रिका

७--गुरुतत्त्व

बँगला भापा में वैष्णव धर्म के सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपादन सैद्धान्तिक दृष्टि से इन ग्रंथों में हुआ। पर इनसे ही बंगाली वैष्णवधर्म के सिद्धान्तों के ग्रंथों की

८—गौड़दास बसु कृत प्रेम भक्तिसार
९—गोपाल भट्ट कृत गोलोक वर्णन
१०—गोपीकृष्ण कृत हरिनाम कवच
११—गोपीनाथदास कृत सिद्धिसार
१२—गोविन्ददास कृत निगम ग्रंथ
१३—नित्यानंददास कृत रागमयी कण
१४—प्रेमदास कृत उपासना पटल
१५—प्रेमानंद कृत मनशिक्षा
१६—द्विज हरिदास कृत अष्टोत्तर सतनाम
१७—बलरामदास कृत वैष्णवाभिधान
१८—बलरामदास कृत हटवंदन
१९—युगलकिशोर दास कृत प्रेमविलास
२०—राधामोहनदास कृत रसकला तत्त्व सार
२१—रामगोपालदास कृत चैतन्य तत्त्वसार
२२—रामचन्द्रदास कृत सिद्धान्तचंद्रिका
२३—रामचन्द्रदास कृत स्मरण दर्पण
२४—अनन्त रामदत्त कृत क्रियायोगसार
२५—रामेश्वरदास कृत क्रियायोगसार
२६—लोचनदास कृत चैतन्य प्रेमविलास
२७— ,, ,, देह निरूपण
२८— ,, ,, आनंदलतिका

ये ग्रंथ भी उन्हीं लोचनदास के लिखे प्रतीत होते हैं जिनके 'दुर्लभसार' का उल्लेख ऊपर हो चुका है। 'दुर्लभसार' इन सबकी अपेक्षा विशेष प्रतिष्ठा का अधिकारी हुआ।

२९—वृन्दावन दास कृत भक्ति चिन्तामणि

परंपरा पूरी नहीं होती। चैतन्य महाप्रभु के दो महान् शिष्यों ने वृन्दावन में रहकर वस्तुतः सिद्धान्त-प्रतिपादन का आरंभ अपने संस्कृत ग्रंथों के द्वारा किया। इनके ग्रंथ नवोदित वैष्णव धर्म के सिद्धान्त पक्ष की आधार-शिला माने जाने चाहिए। ये दोनों शिष्य थे रूप-सनातन[1]। इनके भतीजे जीव गोस्वामीजी भी संस्कृत के विद्वान् थे। इनके ग्रंथों में भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

इस नववैष्णव धर्म की सिद्धान्त-अट्टालिका की नींव में लोक, पांडित्य, भक्ति और आध्यात्म चारों के क्रान्तिकारी तत्त्व समन्वित थे। लोक में क्रान्ति का रूप था आचारगत क्षुद्रता और अमानवी भावनाओं का परित्याग जैसे जाति-पाँति निषेध——

३०—— ,, ,, भक्ति माहात्म्य

३१—— ,, ,, भक्ति लक्षण

३२—— ,, ,, भक्ति साधना

३३——नन्दकिशोर दास कृत वृन्दावन लीलामृत

नंदकिशोरदास की 'रसकलिका' का उल्लेख ऊपर प्रमुख ग्रंथों में हो चुका है। संभवतः इसी का नाम 'रसपुष्प कलिका' भी था। डा० दीनेशचन्द्र सेन के इतिहास में इस नाम के एक ग्रंथ का उल्लेख है। (दे० उसका पृ० ४४२)

३४——नरसिंह दास कृत प्रेमदावानल

३५——भक्ति रामदास ,, गोकुल-मंगल

३६——भवानीदास ,, राधा-विलास

३७——महीधरदास ,, एकादशी माहात्म्य

३८——बलरामदास ,, कृष्ण लीलामृत

१. रूप और सनातन दोनों भाई थे। ये गौड़ेश्वर हुसैनशाह के मंत्री थे। ये अत्यन्त धनाढ्य थे तथा योग्य प्रशासक भी। किन्तु ये चैतन्य महाप्रभु से प्रभावित हो, उनके शिष्य बन गये और उन्हीं की आज्ञा से वृन्दावन में वास करने लगे। सनातन का जन्म १४८४ ई० में हुआ और मृत्यु १५५८ में, रूप का जन्म १४९० में और मृत्यु १५६३ में हुई।

हरि को भजै सो हरि कौ होई,
जाति पाँति पूछै नहिं कोई ।

इसीके साथ उसने लोक-भूमि पर प्रचलित संकीर्तन प्रणाली अपनायी और संकीर्तन मंडली खोल, करताल तथा रामसिंघा लेकर चैतन्य महाप्रभु उसके केन्द्र बने और कीर्तन-मंडली के साथ लोगों में विचरण करने लगे। इस कीर्तन का आधार था 'कृष्ण' नाम।

इस कृष्ण नाम के साथ गुँथा हुआ था भक्ति-तत्त्व जिससे स्वयं चैतन्य महाप्रभु आप्लावित थे। कृष्ण नाम-कीर्तन करते समय उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित हो उठते थे। श्रोता भी उसके प्रभाव से अछूते नहीं रहते थे।

इस भक्ति-तत्त्व की आधार-भूमि थी प्रेमा भक्ति। इस प्रेमा भक्ति का चरम था महाभाव की उपलब्धि, कृष्ण रूप में राधा के महाभाव की अनुभूति। इसी मूल भित्ति पर बंगीय वैष्णव संप्रदाय की रहस्यात्मकता प्रस्तुत हुई। कृष्ण और राधा में अद्वैतत्व है। चैतन्य कृष्णवत्, उस कृष्ण रूप में ही राधा-भावत्व की प्राप्ति, इसी रस-भूमि पर अद्वैत था। कृष्ण-राधा के अद्वैत की नींव में 'सोऽहमस्मि' का अध्यात्म तत्त्व भी निहित था।

'सोऽहमस्मि'[1]=चैतन्यमहाप्रभु=　ब्रह्म (अध्यात्म मूल)　=परमहंसत्व
=चैतन्य महाप्रभु=　कृष्ण-राधा　भक्ति-तत्व में राधा=सिद्धत्व
महाभाव की प्राप्ति।

१. चैतन्य भागवत में इस बात का उल्लेख है कि तन्मयावस्था में जब इस बाह्य जगत् की समस्त चेतना जाती रहती, और समाधिस्थ की भाँति वे अपने एक साथी पर झुककर दिव्य मूर्ति के रूप में स्थिर हो जाते तब उनके नेत्र खुले होते, उनसे अश्रुधारा निर्बाध बहती होती, उनकी मुखमुद्रा से उस असीम आनन्द की झलक विकीर्ण होती दीखती जो अंतरंग में ब्रह्मानंद प्राप्ति की द्योतक होती है। उस समय उनके मुख से कभी-कभी यही अस्फुट ध्वनि निकलती 'सोऽहमस्मि'। इस संबंध में कुछ विचारकों का कथन है कि उनके साथ रहनेवाले गोविन्ददास ने, जो प्रत्यक्षदर्शी थे, ऐसी तन्मयावस्था के जो वर्णन अपने कड़छों में दिये हैं,

इसी मान्यता या उपलब्धि से चैतन्य महाप्रभु के अन्य सहचरों और शिष्यों की व्याख्या हुई। कृष्ण के सखा और राधा की सखियों के रूप मे चैतन्य महाप्रभु के सहचरों और सहचरियों का नामकरण हुआ। सहजिया प्रभाव से आगे चलकर यथार्थ

चैतन्य महाप्रभु= मंजरियों का योग प्रस्तुत हुआ। भक्त संकीर्तन करा[१]—साधकावस्था [जिन्हें भगवान की झलक दिखाई पड़ती है]

उनमें कहीं भी 'सोऽहमस्मि' या 'तत्त्वमसि' कहने का उल्लेख नहीं। 'सोऽहमस्मि' कहने का यह समावेश बहुत बाद की कृतियों में हुआ है। चैतन्य भागवत में ही जहाँ 'सोऽहमस्मि' का उल्लेख है, वहाँ इस तन्मयावस्था के टूटने पर महाप्रभु की प्रतिक्रिया का भी उल्लेख है। जब उनके अनुयायी कहते थे कि आपने 'सोऽहमस्मि' कहा तब वे अत्यन्त दुखी होते और पश्चात्ताप करते हुए कहते कि 'भगवन्, मुझे क्षमा करो, मै पापी हूँ'। इन कथनों से स्पष्ट है कि चैतन्य महाप्रभु इस भूमिका को स्वयं ठीक नहीं समझते थे कि उन्हें ईश्वर समझा जाय। किन्तु तन्मयता अथवा सहज समाधि की अवस्था के जिस उद्रेक से दर्शक प्रभावित होते थे, उसमें 'परमहंसत्व' की उपलब्धि को असंभव नहीं माना जा सकता।

१. निमाई अर्थात् चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन-दल का एक उल्लेख मिलता है जिसमें बताया गया है कि नवद्वीप के भट्टाचार्यों ने वहाँ के काज़ी से प्रार्थना की कि चैतन्य या निमाई के संकीर्तन को बन्द करा दिया जाय। यह कोई ईश प्रार्थना नहीं, इससे निद्रा में भी विघ्न पड़ता है। काजी ने ऐसा ही किया, पर निमाई का संकीर्तन-दल संकीर्तन करता हुआ चलता

लोक भूमि पर ही भक्ति, भक्ति में सिद्धि और परमहंसत्व का योग चैतन्य के व्यक्तित्व और उसीके आधार पर खड़े उनके वैष्णवत्व के सिद्धान्त-दर्शन में सिद्ध हुआ मिलता है। इस दर्शन को स्थापित करने के लिए पांडित्य अपेक्षित था। चैतन्य महाप्रभु स्वयं पंडित थे, और उनके अनुयायी प्रमुख वैष्णव गोस्वामी-

ही गया। काजी के दरवाजे पर भी वह दल जा पहुँचा। क्रुद्ध होता हुआ काजी बाहर आया और संकीर्तन के दृश्य को देखकर अभिभूत हो गया। ईश्वर के नाम का संकीर्तन करनेवाले दल के मध्य में सुन्दर युवक निमाई उसे ईश्वर-सदृश विदित हुआ, और उसे लगा कि यह समस्त दृश्य ही स्वर्ग का दृश्य है। (चैतन्यचरितामृत में देखिए) ऐसी दिव्य झलकों का उल्लेख स्वयं प्रत्यक्षदर्शी गोविन्ददास ने भी अपने कड़छों में किया है। एक कड़छे के ये शब्द देखिए--

(क) "एत बलि कृष्ण हे बलिया डाक दिल
से स्थाने अभनइ जेन वैकुण्ठ हइल।
अनुकूल वायु तबे बहिते लागिल
दले दले ग्राम्य लोक आसि देखा दिल।
छूटिल पद्मेर गंध विमोहित करि
अज्ञान हइया नाम करे गौरहरि
प्रभुर मुखेर पाने सवार नयन
झरझर करि अश्रु पड़े अनुक्षण॥

(ख) ऐसा कहकर श्रीकृष्ण ने 'हे' की आवाज लगायी। आवाज लगाते ही वह स्थान जैसे बैकुण्ठ सदृश हो गया। वायु अनुकूल बहने लगी तो ग्रामीण भाई जत्थे के जत्थे उस स्थान पर आते दिखाई पड़े। चारों ओर कमलों की सुरभि से लोग सम्मोहित हो रहे थे। इस सम्मोहन से गौड़ हरि मुग्ध होकर नृत्य करने लगे। सब लोगों की आँखें प्रभु के मुखमण्डल पर गड़ी हुई थीं और उनके नेत्रों से अनवरत आँसू गिर रहे थे। किन्तु गोविन्ददास ने स्वयं अपनी

गण रूप, सनातन, जीव, रघुनाथ,[1] आदि भी संस्कृत के धुरंधर पंडित थे। भागवत और भगवद्गीता की नयी व्याख्या इन्होंने की। इन गोस्वामियों ने पाण्डित्यपूर्ण शास्त्रीय प्रमाण से युक्त नयी व्याख्या से नव दिशा का उन्मेष करनेवाले ग्रंथ लिखकर नव-वैष्णव धारा को दार्शनिक रीढ़ प्रदान की। इस युग मे शास्त्रार्थ वह साधन था जिससे किसी भी मत के सत्यासत्य का निर्णय किया जाता था। साधनावस्था के अंतिम चरण में चैतन्य महाप्रभु को शास्त्रार्थ में कोई रुचि नहीं रह गयी थी, फिर भी यदि उन्हें विवाद में घसीटा ही जाता तो उनकी पाण्डित्य-पूर्ण सप्रमाण व्याख्या के समक्ष प्रतिपक्षी को परास्त होना पड़ता था। उसके साथ

जो दशा लिखी है वह भी तो महाप्रभु के अद्भुत और दिव्य प्रभाव की द्योतक है--

(क) "घाटे वसि एइ लीला हेरिनु नयने
कि जानि केमन भाव उपजिल मने
कदम्ब कुसुम सम अंगे काँटा दिल
थरहरि सब अंग काँपिते लागिल
घामिया उठिल देह तितिल वसन
इच्छा अश्रु जले मुइ पाखालि चरण।"[2]

(ख) घाट पर बैठा अपनी आँखों से यह लीला देख रहा था। न जाने इस समय मन में कैसे-कैसे भाव उठ रहे थे। कदम्ब के पुष्प सदृश समूचा शरीर रोमांचित हो उठा और काँपने लगा।

१. रघुनाथ गोस्वामी कायस्थ थे, फिर भी इनकी वैष्णव साधना इतनी बलवती थी कि इन्हें गोस्वामी माना गया और चैतन्य संप्रदाय के छः प्रमुख प्रामाणिक गोस्वामियों में इनकी गिनती हुई। इनके संबंध में बताया जाता है कि वे दिन-रात में केवल डेढ़ घंटे (चार दंड) के लगभग सोते थे। जो जूठन फेंकी जाती थी उसमें से मुट्ठी भर लेकर उसे ही खाते थे। चीथड़े पहनते थे और आकाश के नीचे सोते थे, मकान में नहीं। इन्होंने संस्कृत में लगभग २९ ग्रंथ लिखे।

महाप्रभु के व्यक्तित्व-निर्मायक रूप-आकार से उद्भासित होनेवाली मुद्राओं की अलौकिक दीप्ति उनमें एक अटल आकर्षण पैदा कर देती थी। उनके दर्शन करनेवाला एक दिव्यता का साक्षात्कार करता विदित होता था; उनके वचनों का रसामृत और उनकी भावाभिभूत करने की शक्ति, उनके रसार्द्र नेत्रों का अश्रुस्राव श्रोता और दर्शक को अलौकिक जगत् में पहुँचा देते थे।

प्रेम और भक्ति के रस-शास्त्र का निरूपण 'भक्तिरसामृत सिंधु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' आदि संस्कृत ग्रंथों मे रूप गोस्वामीजी ने जिस रूप में किया है, वह बँगला भाषा के विविध सैद्धान्तिक ग्रंथो में जहाँ-तहाँ संशोधित होकर अवतरित हुआ है। फलतः इस संप्रदाय में पाण्डित्य का उपयोग केवल शास्त्रार्थो में अथवा काव्य-शास्त्रीय चमत्कारों मे ही नही हुआ, वरन् पाण्डित्य का यथार्थ उपयोग तो नव-वैष्णव-सिद्धान्त की दृष्टि से प्रेम-तत्त्व और भक्ति-तत्त्व के शास्त्रीय निरूपण में हुआ है।

किन्तु चैतन्य महाप्रभु न तो शास्त्रार्थ पसंद करते थे, न विवाद। वे तो प्रतिपक्षी को अपनी हार लिखकर दे देने को प्रस्तुत रहते थे। इससे यह स्पष्ट है कि वे सिद्धान्त-चर्चा की अपेक्षा जीवन-चर्या में सिद्धान्त को ढालने के पक्ष-पाती थे। सिद्धान्त से अधिक उस जीवन-चर्या का मूल्य था, जो चैतन्य महाप्रभु-के व्यक्तित्व के द्वारा, उनकी अपनी धार्मिक अनुभूतियो द्वारा प्रस्तुत हो रही थी। इसीलिए सिद्धान्त-ग्रंथों से अधिक जीवनी-साहित्य लिखा गया।

जीवनी साहित्य

चैतन्य महाप्रभु के व्यक्तित्व के सम्मोहन का प्रभाव नवद्वीप के काजी की घटना से तथा गोविददास के कड़छों से प्रकट होता ही है। जीवनियों की साक्षी से यह भी विदित होता है कि शनैः-शनैः भक्ति-भावना के अधिकाधिक प्रबल होने से चैतन्य महाप्रभु को साक्षात् कृष्ण या प्रभु ही मान लिया गया[1]। अतः बँगला में प्रचुर जीवनी-साहित्य लिखा गया। इन जीवनियों में महाप्रभु और

१. गोविंददास ने प्रत्यक्षदर्शी रूप में चैतन्य महाप्रभु के जीवन की कुछ घटनाओं की टिप्पणियों के रूप में जो झाँकी करायी है उसमें और आगे के जीवनी-लेखकों के वर्णनों की तुलना से जो अन्तर प्रतीत होता है वह यह है कि

उनके प्रधान शिष्यों और उनकी परंपरा के प्रमुख व्यक्तियों के जीवन-चरित प्रस्तुत किये गये, और इन चरित्रों से वैष्णव-सिद्धान्तों का प्रकृत रूप प्रकट किया गया। हम यह ऊपर संकेत कर आये हैं कि चैतन्य को कृष्ण मान लेने पर उनकी जीवनी राम और कृष्ण की पौराणिक परंपरा में बिठाई जा सकती है। पर इन जीवनियों में कृष्ण और राम के वृत्तान्तों की तरह पौराणिक व्यक्तियो और अवास्तविक व्यापार का उल्लेख नहीं हुआ। इन जीवनियों में अपने युग का मानव और समाज सजीव होकर उद्घाटित हुआ है। इस दृष्टि से यह एक नया साहित्यिक रूप बॅंगला भाषा में विकसित हुआ।

ऐसे जीवनी लेखकों में सबसे पहले गोविददास करमकर का नाम आता है। गोविंददास ने 'कड़छा' लिखे, अर्थात् समय-समय पर कुछ विवरण या टिप्पणियाँ लिखी। इन्हे यथार्थतः 'जीवनी' नहीं कहा जा सकता। पर इनमे चैतन्य महाप्रभु के जीवन की घटनाओं का एक प्रत्यक्षदर्शी द्वारा किया हुआ वर्णन है, अतः जीवनी की दृष्टि से इस सामग्री का बहुत मूल्य है।

"गोविददास लुहार के
अस्त्र हाता बेड़ि गड़ि जाति ते कामार"

इन्होंने पत्नी शशिमुखी के कटु वचनों से व्यथित हो घर त्याग दिया और चैतन्य महाप्रभु के यहाँ नौकरी कर ली थी। चैतन्य महाप्रभु का निकटत्व प्राप्त करके यह उनके जीवन में घटनेवाली विविध घटनाओं को अत्यन्त गुप्त रूप से लिखते रहे। क्योंकि चैतन्य महाप्रभु को यह बात पसंद नही थी कि कोई उनके संबंध में इस प्रकार लिखे। गोविन्ददास ने पहले घर का हाल बताया है। चैतन्य महाप्रभु की भक्ति-विभोर दशा बतायी है कि पापियों को पापमुक्त करने

गोविन्ददास चैतन्य महाप्रभु के व्यक्तित्व की अमोघ छाप, और उसके स्वर्गिक वातावरण का तो कायल है, पर वह ऐसा कोई उल्लेख नहीं करता जिसमें आगे के जीवनीकारों की भाँति 'ईश्वरत्व' का आरोप हो। चैतन्य में ईश्वरत्व का यह विकास बढ़ती हुई भक्ति-भावना के विकास का ही परिणाम है। आगे तो इनकी मूर्ति ही भगवान् की भाँति पूजी जाने लगी।

के लिए चैतन्य की कितनी तीव्र अभिलाषा थी, इसीलिए वे सन्यासी बने। गोविन्ददास ने चैतन्य महाप्रभु की, पुरी से दक्षिण होते हुए गुजरात, और गुजरात से पुरी की यात्रा का विस्तृत विवरण अपने कड़छों मे दिया है।

इसी यात्रा में सिद्धवटेश्वरम् नामक स्थान में महाप्रभु को पथ-भ्रष्ट करने का प्रयत्न 'तीर्थराम' नाम के एक अमीर व्यक्ति ने किया। गोविन्ददास ने लिखा है—

"हेन काले आइल सेथा तीर्थ धनवान,
दुइ जन बेश्या संगे आइला देखिते।
संन्यासीर भारि भूरि परीक्षा करिते॥
सत्यबाई लक्ष्मीबाई नामे बेश्या द्वय,
प्रभुर निकटे आसि कत कथा कय।
धनीर शिक्षाय सेइ बेश्या दुइ जन॥
सत्यबाला हासि मुखे बसे प्रभु पाशे
कांचलि खुलिया सत्य देखाइला स्तन।
सत्यारे करिला प्रभु मातृ संबोधन,
थर थरि कांपे सत्य प्रभुर बचने।
इहा देखि लक्ष्मी बड़ भय पाय मने॥
किछुइ विकार नाँइ प्रभूर मने ते,
धेये गिये सत्यबाला पड़े चरणे ते।
केन अपराधी कर आमारे जननी,
एइ मात्र बलि प्रभु पड़िला धरणी॥

और महाप्रभु तन्मयावस्था में पहुँच गये।

नाचिते लागिला प्रभु बलि हरि हरि,
लोमांचित कलेवर अश्रु ढर ढरि।
गियाछे कोपीन खसि को था वहिर्वास,
उलंग हइया नाचे घन वहे श्वास॥

काँटों से शरीर छिद गया, रक्त बहने लगा, पर प्रभु को क्या होश था?

हरि नामे मत्त हये नाचे गौरा राय,
अंग हइते अद्भुत तेज बाहिराय ।[1]

१. तब वहाँ तीर्थ नामक धनवान आये
उनके साथ दो वेश्याएँ भी दिखाई पड़ीं
वे संन्यासी की बहुत भारी परीक्षा करने के लिए आयी थीं।
उन दोनों वेश्याओं के नाम थे सत्यबाई, लक्ष्मीबाई
प्रभु के निकट आकर उन्होंने उस धनी के
कहने से कितनी ही बातें कीं ।

\+ + +

सत्यबाला हँसती हुई प्रभु के पार्श्व में बैठ गयी
चोली खोलकर सत्या ने अपने उरोज दिखाये
सत्या को प्रभु ने माता कहकर संबोधन किया
प्रभु के वचन सुनकर सत्या थर-थर काँपने लगी
यह देख लक्ष्मी को मन में बहुत भय लगा ।
प्रभु के मन में तो कुछ भी विकार नहीं
सत्यबाला उनके चरणों में गिर पड़ी
मा मुझे क्यों अपराधी बनाती हो
केवल इतना कह प्रभु पृथ्वी पर लोट गये

\+ + +

हरि हरि बोलते हुए प्रभु नाचने लगे
शरीर रोमांचित हो गया, आँसू झर-झर बरसने लगे
कहीं कौपीन खिसक गया, कहीं खिसक गया बाहरी वस्त्र
ऊल ऊल कर नाच रहे थे
जोर जोर से श्वास चल रहा था
हरि नाम में प्रमत्त गोरा राय नाच रहे थे
अंग से अद्भुत तेज बाहर निकल रहा था ।

धनिक तीर्थराम यह देखकर अनुताप से प्रभु के चरणों में गिर पड़ा। प्रभु के वचनों से प्रभावित हो उसने तत्काल संन्यास ले लिया।

प्रत्यक्षदर्शी गोविंददास के कड़छों के विवरण बहुत सीधे-सादे, सरल भाषा में होते हुए भी स्थिति के पूर्ण प्रभाव को व्यक्त करने में समर्थ हैं। इसीलिए पारिभाषिक जीवनी-साहित्य के अन्तर्गत इन्हें भले ही न रखा जा सके, पर महा-प्रभु के जीवन के कुछ यथार्थ वर्णनों की दृष्टि से इनका महत्व रहेगा ही। गोविंददास के वर्णनों से विदित होता है कि उनके भक्त, शिष्य, नौकर-चाकर सभी महाप्रभु से इतना अधिक प्रेम करते थे कि वे उन्हें छोड़कर थोड़े समय के लिए भी कहीं नहीं जाना चाहते थे। उन्हें प्रभु की निन्दा भी असह्य थी। प्रभु के अप्रतिहत प्रभाव और प्रताप को गोविंददास ने देखा था। उसने देखा था कि दो बड़े दस्यु नरोजी तथा भीलपन्थ महाप्रभु के दर्शनों से पवित्र हो सन्त प्रवृत्ति के वन गये थे। उसने गुजरात की वेश्या बारमुखी को अपने अनुपम सौन्दर्य का अभिमान छोड़ प्रभु के प्रभाव से सन्मार्ग पर चलते देखा था। उसने प्रभु के उन वचनों को उद्धृत किया है जो उन्होंने तीर्थराम से कहे थे——

ईश्वरे विश्वास ईश्वर आनिया मिलाय,
आर किछु प्रमाण त कहने ना जाय।
असंख्य जगत हय प्रमाणेर ठाँई,
प्रमाण नाहिक चाहे पण्डित गोसाँई।
नाहि प्रयोजन वहु बाद बितण्डार,
कृष्ण आनि साधकेर विश्वास मिलाय।[१]

१. **ईश्वर के विश्वास से ही ईश्वर मिलता है
और किसी प्रमाण से उसे नहीं बताया जा सकता
जगत में प्रमाण के असंख्य स्थल हैं
पंडित गोंसाई प्रमाण व्यर्थ चाहते हैं
वादवितण्डा की कोई आवश्यकता ही नहीं
साधक के विश्वास से ही कृष्ण आकर मिलता है।**

कितने संक्षेप में महाप्रभु के संदेश का सार गोविंददास ने प्रस्तुत कर दिया है, पाठक यह स्वय समझ सकते है ।

चैतन्य के प्रेमोन्माद के क्षणो का वर्णन गोविंददास ने किया है। वे इतने कृष्णमय थे कि कृष्ण के रंग की किसी भी वस्तु के सौंदर्य से वे तन्मय हो उठते थे । भगवान् का दर्शन उन्हें प्रत्येक मंदिर तथा प्रत्येक स्थान में होता प्रतीत होता था । अपनी यात्रा मे महाप्रभु ने शिव, गणपति, शक्ति, सूर्य सभी देवताओं के मन्दिर देखे थे, और प्रत्येक में उन्हें अपने कृष्ण के दर्शनों की प्रेरणा मिली थी ।

गोविंददास भृत्य था और चैतन्य-संप्रदाय के मनीषियों की दृष्टि में उसकी साधना इस कोटि की नही थी कि वह चैतन्य महाप्रभु के प्रभुत्व को देख सके । उसके चर्मचक्षु बाह्य प्रभाव और ऐश्वर्य को देखते थे, अन्तर्ज्योति को नहीं । इसीलिए संप्रदाय में गोविंददास के कड़्छों का वह सम्मान नहीं ।

चैतन्य महाप्रभु की जीवनियों में सबसे प्रमुख स्थान 'चैतन्य भागवत' का है । यह जीवनी वृन्दावन दास की लिखी हुई है।[1] यह पयार छद मे है और जैसा नाम से प्रकट है कवि ने चैतन्य को भगवान् कृष्ण अथवा विष्णु मानकर उनकी जीवन-लीलाओं का वर्णन भागवत के कृष्ण की लीलाओं के अनुरूप किया है । उनके चैतन्य तो कृष्ण है, और नित्यानंद, जो चैतन्य के सखा और अनुयायी थे, वृन्दावनदास के लिए, बलराम है । वृन्दावनदास को इस धारणा मे प्रबल विश्वास है। वह उन नास्तिको को खरी-खोटी सुनाने से नहीं चूकता, जो चैतन्य और नित्यानंद अर्थात् निमाई-निताई को कृष्ण-बलराम मानने के लिए तैयार नही ।

'चैतन्य भागवत' में महाप्रभु के जीवन की सभी घटनाओं का वर्णन हुआ है और तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति का भी अच्छा परिचय इसमें मिल

१. वृन्दावनदास का जन्म १५०७ ई० में हुआ था। ये चैतन्य महाप्रभु के परम भक्त श्रीवास के भाई श्रीनिवास के नाती थे । नवद्वीप में जब वृन्दावनदास दो ही वर्ष के थे चैतन्य महाप्रभु नवद्वीप से चले गये थे । वृन्दावनदासजी का यह 'चैतन्य भागवत' महाप्रभु की मृत्यु से १५ वर्ष के भीतर ही रचा गया ।

जाता है। बहुत-से विद्वान् तो इन्हीं ऐतिहासिक विवरणों के कारण ही इस ग्रंथ का आदर करते हैं[१], पर महाप्रभु के संप्रदायानुयायियों के लिए यह ग्रंथ 'कृष्ण भागवत' की भाँति ही धर्मग्रथ है।

स्पष्ट है कि वृन्दावन दास के 'चैतन्य भागवत' में प्रामाणिक घटनाओं और जीवनी-विषयक प्रामाणिक तथ्यों का अभाव नहीं, पर साथ ही उसमें धार्मिक मनोवृत्ति को संतुष्ट करने के लिए 'कृष्ण' और 'चैतन्य' के तादात्म्य के आधार पर पुराण-गाथाओं जैसी अद्भुत विलक्षण कथाओं का भी समावेश हुआ है।

पुराणों की परपरा मे लिखे गये इस 'चैतन्य भागवत' से धार्मिकों और भक्तो की भावना को सन्तोष मिला। किन्तु सामान्य लोक तो किसी और प्रकार के साहित्य का भूखा था। जैसा वृन्दावनदास ने लक्ष्य किया है नवद्वीप मे ही कही मनसा, कही वामुली या चडी का जागरण होता था। इस जागरण मे मगल-काव्य गाये जाते थे।[१] 'मनसा मंगल' और 'चंडी मंगल' की लोकप्रियता और प्रभाव हम देख चुके हैं। अतः लोकहितार्थ मंगल परंपरा में भी मंगल-काव्य की रचना आवश्यक थी।

हमे पहला 'चैतन्य मंगल' लोचनदास[२] द्वारा लिखा मिलता है। यह मंगल

१. वृन्दावनदास ने नवद्वीप के वैभव और विद्या का बहुत यथार्थ वर्णन दिया है। फिर उन्होंने तत्कालीन नास्तिक क्षुद्रता का दिग्दर्शन भी कराया है। लोग या तो योगीपाल, गोपीपाल, महीपाल जैसे पाल राजाओं का यशोगान करते थे, या रात्रि-जागरण करते हुए मनसा देवी या वासुली देवी के गीत गाते थे। देवियों पर मांस-मदिरा चढ़ाते थे। नृत्य-गीत वाद्य का शोर तो चारों ओर था, पर कृष्ण नाम कोई नहीं लेता था।

'निरवधि नृत्य गीत वाद्य कोलाहल
ना शुने कृष्णेर नाम परम मंगल'——

ऐसे ही लोगों को कृष्ण नाम सुनाकर तार देने के लिए भगवान् चैतन्य महाप्रभु का अवतार हुआ।

२. लोचनदास का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इनका लिखा सिद्धान्त-विषयक ग्रंथ 'दुर्लभसार' है।

सामान्य लोक को बहुत प्रिय लगा। आज तक भी पांचाली की भाँति यह गाया जाता है।

दूसरा 'चैतन्य मंगल' जयानंद का लिखा हुआ है।[1] जयानंद के चैतन्य मंगल में कुछ नये तथ्य प्रकाश में आते हैं। इनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है महाप्रभु के देहावसान की घटना। अन्य किसी भी जीवनी लेखक ने इस घटना का उल्लेख नहीं किया। जयानंद के इस 'मंगल काव्य' से विदित होता है कि आषाढ़ के महीने में एक संकीर्तन मंडली में चलते-चलते महाप्रभु प्रेमोन्माद से तन्मयावस्था को प्राप्त हो गये। वे एक साथी के कंधे पर झुके हुए, तन्मयावस्था में अश्रुविमोचन करते हुए, मुख पर आनन्दाह्लाद की ललित छटा छिटकाते आगे बढ़ते गये। तभी एक ईंट से उनका पैर टकरा गया, जिससे काफी चोट लगी। तन्मयावस्था में तो उन्हें उस चोट का पता लगता ही कहाँ से। जब यह समाधि भंग हुई तो पीड़ा का अनुभव हुआ, और उन्होंने साथियों को बताया कि वे अब दो दिन बाद मृत्यु का आलिंगन करेंगे। उन्हें बुखार भी आ गया और आषाढ़ बदी सप्तमी रविवार के दिन सायं तीन बजे उनकी मृत्यु हो गयी।

यद्यपि लोचनदास के 'चैतन्य मंगल' में किसी नवीन घटना का समावेश नही हुआ मिलता फिर भी महाप्रभु के देह-त्याग की घटना की पुष्टि इस मंगल से भी हो जाती है, और कुछ ऐसा आभास मिलता है कि मृत्यु के उपरांत महाप्रभु का शव जगन्नाथजी के मंदिर में ले जाया गया। वहाँ पंडों ने उसे भूमि मे समाधिस्थ कर दिया तथा ऊपर से फर्श को एकसा करा दिया। इसके उपरात भाँति-भाँति की कपोल-कल्पनाएँ महाप्रभु के निर्वाण के संबंध में प्रचलित हो गयीं[2]।

१. जयानन्द का जन्म १५१३ ई० में हुआ था। इनके पिता सुबुद्धि मिश्र प्रसिद्ध वैष्णव थे। इन्होंने बालकपन में अपने पितामह के यहाँ चैतन्य देव के दर्शन किये थे। जयानन्द नाम भी चैतन्य महाप्रभु का दिया हुआ है। फलतः जयानन्द की दी हुई घटनाओं पर विश्वास किया जा सकता है।

२. इस संबंध में एक किंवदंती तो यह है कि वे समुद्र में समा गये। यह तो सत्य घटना है कि समुद्र में चन्द्रदर्शन से महाप्रभु को कृष्ण के साक्षात्कार का आभास हुआ और वे समुद्र में कूद पड़े। इसी घटना के आधार पर

जयानंद का यह मंगल इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें जयानंद ने अपने से पूर्व के चैतन्य के जीवनी-लेखकों का नाम दिया है। इनमें से परमानंद पुरी, गोपाल वसु और गौरीदास के लिखे ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। जयानंद ने गोविंददास लुहार का भी नाम दिया है।

बँगला में लिखी जीवनियों मे चैतन्य महाप्रभु की सबसे अधिक प्रामाणिक जीवनी है कृष्णदास कविराज की लिखी, जिसका नाम है 'चैतन्यचरितामृत'। यह महाप्रभु की मृत्यु के सौ वर्षो के भीतर ही लिखी गयी। इतने काल उपरांत लिखी जाने पर भी इसकी प्रामाणिकता का कारण यह है कि कविराज ने चैतन्य महाप्रभु के समसामयिक जीवनी-लेखकों की सामग्री का ही पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया, वरन् रघुनाथ गोस्वामी जैसे व्यक्तियों से भी लाभ उठाया। रघुनाथ गोस्वामी स्वयं चैतन्य महाप्रभु से परिचित थे और उनका संपर्क उन स्वरूप दामोदरजी से भी घनिष्ठ था जो कि चैतन्य महाप्रभु के निकट रह चुके थे। ये कविराज संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। महाप्रभु के जीवन-काल में लिखी गयीं संस्कृत भाषा की जीवनियाँ[1] भी इन्हें हस्तामलकवत् थीं। वृन्दावनदास

उक्त किंवदंती खड़ी हुई है। किन्तु प्राचीन प्रामाणिक उल्लेखों से पता चलता है कि उन्हें एक मछुए ने बचा लिया था। अतः मृत्यु के सम्बन्ध में उक्त किंवदंती नहीं मानी जा सकती। दूसरी किंवदंती है कि पुरी के एक मंदिर में गोपीनाथजी की नीम की लकड़ी की मूर्ति का उन्होंने आलिंगन किया और वे उसमें समा गये। इस मूर्ति के वक्ष में एक स्वर्ण चिह्न है, उसी स्थल पर चैतन्य के समा जाने की बात कही जाती है। इसी प्रकार जगन्नाथ के पंडे कहते हैं कि वे जगन्नाथजी के मंदिर में जगन्नाथ भगवान् की मूर्ति में विलीन हो गये।

१. महाप्रभु के समय में जो जीवनियाँ संस्कृत में लिखी गयीं वे ये थीं—

(१) मुरारि गुप्त कृत 'श्रीकृष्ण चैतन्य चरितामृत'। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह ग्रंथ मुरारि गुप्त का नहीं। संभवतः मुरारि गुप्त ने कुछ कड़छे या टिप्पणियाँ ही लिखीं हों।

(२) परमानन्द सेन कवि कर्णपूर विरचित चैतन्य चरितामृत तथा चैतन्यचन्द्रोद।

के 'चैतन्य भागवत' से भी इन्होंने सहायता ली थी। पर वास्तविक बात यह थी कि 'चैतन्य भागवत' की कमी की पूर्ति के लिए ही उन्हें ८० वर्ष की अवस्था में यह जीवनी लिखने के लिए विवश होना पड़ा था।[1] अस्सी वर्ष के अध्ययन-मनन का निचोड़ उन्होंने इस जीवनी में भर दिया। इसके तीन खंड हैं। आदि खंड, मध्य खंड तथा अन्त्य खंड। कविराज ने षट्दर्शन की विद्वत्तापूर्ण पृष्ठ-भूमि पर चैतन्य देव के सिद्धान्तों का दर्शन इसमें दिया है। सिद्धान्तों से गुँथा हुआ यह ग्रंथ काव्यात्मक वर्णनों और रस के परिपाक से भी परिपूर्ण है। महा-प्रभु के जीवन की मार्मिक घटनाओं के विशद चित्र इसमें है। विशेषतः उनके अंत समय के। इसीलिए यह ग्रंथ पंडितों और विद्वानों के साथ सामान्य लोक को भी प्रिय लगता है। कुछ विद्वानों की राय मे इसकी भाषा हिंदी-बँगला का अद्भुत मिश्रण है।[2] भाषा की दृष्टि से इसे महत्त्वपूर्ण नही माना जा सकता।

१. कविराज कृष्णदास को ८० वर्ष की अवस्था में यह चरितामृत लिखना आरम्भ करना पड़ा था। बात यह थी कि वृन्दावन में 'चैतन्य भागवत' का नित्य पाठ होता था, पर यह अनुभव किया जाता था कि अन्तिम समय का वर्णन ठीक नहीं किया गया। यह कमी खटकती थी। अतः कई विद्वान् कविराज के पास गये, और यह ग्रंथ लिखने के लिए उन्हें विवश किया।

२. इस संबंध में डा० सुकुमार सेन का अभिमत है कि 'इँहारा ओ समान भ्रान्त। दीर्घकाल ब्रजवास हेतु कविराजेर कलमेर मुखे क्वचित् दुइ एकटा हिन्दी शब्द वा आसिया गिया छे (जेमन नाहि काँहा सो विरोध); किन्तु ताइ बलिया जाँहारा बलेन जे चैतन्य चरितामृतेर भाषा मिश्र हिन्दी, ताँहारा परेर मुखेड़ झाल खाना पुरानो बांगला भाषाय अनभिज्ञतार जन्य अधुना-अप्रचलित बांगाला शब्द के अनेके आवार हिन्दी बलिया भ्रम करिया थाकेन। (बांगला साहित्येर इतिहास, पृ० २५१) अतः इन्होंने अपने नवप्रकाशित (१९६० में) अंग्रेजी में लिखे इतिहास में लिखा है कि 'भाषा पर कृष्णदास का अधिकार अपने समयसे बहुत आगे का था Krishnadas's command over thelanguage was much in advance of his time (History of Bengali Literature, पृ० ९८।)

जिस समय यह महान् ग्रंथ समाप्त हुआ उस समय कविराज ९७ वर्ष के थे। इस ग्रंथ के मोह ने ही उनके प्राण लिये[1]। यह ग्रंथ बहुत प्रिय हुआ, और प्रामाणिक भी माना गया।

इसके उपरांत १६वीं और १७वी शताब्दी में और कोई जीवनी चैतन्य

१. इस ग्रंथ के संबंध की एक अनोखी कहानी है। यह ग्रंथ पूरा हो गया तो इसके साथ वृन्दावन के षट गोस्वामियों के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त आदि के ग्रंथ भी बंगाल में प्रचारार्थ भेजने का प्रबन्ध किया गया। श्रीनिवास नाम के एक विद्वान् भक्त को इन्हें ले जाने का भार सौंपा गया। एक बैलगाड़ी में भरकर कुछ सशस्त्र लोगों के पहरे में ये ग्रंथ ले जाये जा रहे थे। जब गाड़ी वन विष्णुपुर की सीमा में पहुँची तो वहाँ के राजा वीर हम्बीर के लगे लुटेरों ने उसे खजाना समझकर लूट लिया। श्रीनिवास को बहुत दुःख हुआ और उसने ग्रंथों के लुट जाने का समाचार वृन्दावन भेज दिया। बस, इस समाचार को सुनते ही अत्यन्त दुःख से पीड़ित हो कविराज भूमि पर गिर पड़े और उनके प्राण-पखेरू उड़ गये। ये ग्रंथ बाद में मिल गये। पर कविराज के प्राण तो पहले ही जा चुके थे। ग्रंथ मिलने की कहानी भी रोचक है। ग्रंथ लुट जाने पर श्रीनिवासजी ने राजा से प्रार्थना करने का विचार किया। वे जब राजदरबार में पहुँचे तो हम्बीर कुल-पुरोहित से गीता की व्याख्या सुन रहे थे। भक्त श्रीनिवास गीता-पाठ में विघ्न कैसे डालते। भक्तिपूर्वक वे भी उसे सुनते रहे। कुल-पुरोहित कथा कह चुके तो उन्होंने श्रीनिवासजी के तेजस्वी शरीर को देखा। उन्होंने उनसे भी गीता की व्याख्या करने का निवेदन किया। दुखी होते हुए भी श्रीनिवास इस पवित्र कर्तव्य को टाल न सके। उन्होंने गीता की व्याख्या आरम्भ की और ऐसे प्रभावपूर्ण ढंग से नयी व्याख्या की कि वहाँ उपस्थित सभी जन अत्यन्त प्रभावित हुए। राजा उनका शिष्य बन गया। उसने अपना अपराध स्वीकार किया और उसके लुटेरों ने जो ग्रंथ लूटकर भंडार में रखवा दिये थे, उन्हें राजा ने मँगवाकर भक्तिपूर्वक श्रीनिवासजी को भेंट कर दिये।

पर नहीं लिखी गयी। १८वीं शती में प्रेमदास अर्थात् पुरुषोत्तम दास सिद्धान्त-वागीश ने 'चैतन्यचंद्र कौमुदी' की रचना की।

केवल चैतन्य महाप्रभु पर ही जीवनियाँ नहीं लिखी गयीं। उनकी शिष्य परंपरा में पहुँचे हुए महानुभावों या महात्माओं के चरित्र भी लिखे गये। ये चरित्र भी संख्या में प्रचुर मिलते है।

अद्वैताचार्य पर कई जीवनियाँ मिलती है। १६ वीं शती में अद्वैताचार्य पर ईशान वागर ने 'अद्वैत प्रकाश' लिखा, तथा हरिचरणदास ने 'अद्वैत मंगल' लिखा।

श्यामदास नाम के एक कवि ने भी १७वी शती मे एक अद्वैत मंगल लिखा। नरहरिदास नाम के एक कवि ने 'अद्वैत विलास' की रचना की।

अद्वैताचार्यजी की पत्नी सीतादेवी पर दो ग्रंथ मिलते हैं। एक है 'सीता कदम्ब'। यह विष्णुदास आचार्य ने १६ वीं शती मे लिखा था। संप्रदाय के अन्य कुछ स्तंभों की जीवनियाँ भी लिखी गयीं। इनमें से प्रमुख ये हैं---

सत्रहवीं शती में

१. प्रेमविलास	लेखक नित्यानंद दास	यह श्रीनिवास की या बलराम दास जीवनी है
२. प्रेमामृत	,, हरिचरणदास	—यह भी श्रीनिवास की जीवनी है
३. कर्णानंद	,, यदुनंदन	— ,, ,,
४. अनुरागवल्ली	,, मनोहरदास	— ,, ,,
५. रसिक मंगल	,, गोपीवल्लभदास	—यह रसिकानंद की जीवनी है
६. वीर रत्नावली	,, गति गोविंद	—यह नित्यानंद के पुत्र वीरचंद्र की जीवनी है
७. बंशीविलास या मुरली-विलास	,, राजवल्लभ	—इसमें चैतन्य के साथी वंशीवादन चट्टा की जीवनी है।

अठारहवीं शती में

दो ग्रंथ जीवनी-विषयक लिखे गये---

१. प्रेमदास[1] कृत वंशी शिक्षा। यह वंशीवादन चट्टा की जीवनी है।

२. नरहरिचक्रवर्ती[2] लिखित नरोत्तम विलास।

इसी शताब्दी में भक्ति-रत्नाकर नाम का एक ग्रंथ लिखा गया जिसमें श्रीनिवास, नरोत्तम, श्यामानंद आदि वैष्णवों का वर्णन भी दिया गया है। साथ ही सिद्धान्त, अलंकार, साहित्य तथा ऐसे ही कुछ अन्य विषयों का वर्णन दिया हुआ है। 'भक्ति रत्नाकर' को 'वैष्णव विश्वकोप' कहा जा सकता है। प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का इसमें समावेश है। यह अपने युग के सबसे प्रमुख जीवनी-लेखक और शास्त्रज्ञ श्री नरहरि चक्रवर्ती की कृति है। नरहरि चक्रवर्ती के पांडित्य का पता उनकी दो अन्य कृतियों से भी लगता है, ये हैं 'छन्दः समुद्र' तथा 'गीत चन्द्रोदय'। 'नरहरि' अच्छे पदकर्त्ता भी थे। गीत चन्द्रोदय में उनके पदों का ही समावेश है। इस विराट संकलन के अतिरिक्त इनके पौने चार सौ पदों का एक संकलन 'गौर चरित चिन्तामणि' भी प्रकाश में आया है। इनकी एक अन्य कृति 'पद्धति प्रदीप' भी है। जैसा नाम से विदित है, 'छंदः समुद्र' छंद शास्त्र की पुस्तक है। और भी कितनी ही छोटी-बड़ी जीवनियाँ या जीवनियों के संग्रह प्रस्तुत हुए, जिनमें अन्य कितने ही भक्तों के जीवन की झाँकियाँ दी गयी हैं।

इस सामान्य इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि चैतन्य महाप्रभु को कृष्णावतार मानने के कारण बंगला साहित्य में 'जीवनी' साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। महाप्रभु और कृष्ण की अभिन्नता के आधार पर पहले जीवनी-साहित्य ने पौराणिक शैली के भागवत का अनुकरण किया, फिर लोक-क्षेत्रीय 'मंगल काव्यों' का। किन्तु जीवनी के नायकों के 'देश-काल' और निजी व्यक्तित्व के कारण जीवनी में पौराणिक विलक्षणता व्याप्त तो रही, पर उसको प्रमुखता नहीं मिली।

१. यह वही प्रेमदास प्रतीत होते हैं जिन्होंनें 'चैतन्यचन्द्र कौमुदी' लिखी थी।

२. नरहरि चक्रवर्ती को घनश्यामदास भी कहा जाता है।

यह भी प्रतीत होता है कि जीवन-साहित्य पहले तो भक्ति के भावों को अर्पित करने के भाव से लिखा गया, और जीवनवृत्त में समाहित विशेष स्थलों के सहारे ही सिद्धान्त और शास्त्र का प्रतिपादन किया गया, पर आगे चलकर जीवनी-नायक का जीवन-वृत्त तो साधन मात्र ही रहा, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान तथा शास्त्र-चर्चा को महत्त्व मिलने लगा।

पद साहित्य

यह ऊपर देखा जा चुका है कि वैष्णव धर्म में संकीर्तन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। महाप्रभु चैतन्य ने स्वयं संकीर्तन-मंडली का आयोजन किया था। संकीर्तन महाप्रभु के जीवन का प्रमुख अंग हो गया था। उसके द्वारा धीरे-धीरे वे इस चेतना के जगत से दूर हटते हुए अपने प्रभु कृष्ण के निकट होते जाते थे। संकीर्तन के समय की उनकी समाधिलीन दशा को देखकर स्पष्ट आभास होता था कि वे प्रभु के साक्षात्कार से पुलकित हो रहे है। उनके मुख पर एक दिव्य आनंद की छटा छिटक उठती थी, नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो उठती थी, वे दोनों हाथ ऊपर उठाकर 'कृष्ण कृष्ण' की निर्बाध पुकार में डूबते चले जाते थे। संकीर्तन जैसे साधना और साध्य का संधि-स्थल बन गया था।

इसी संकीर्तन के लिए पद-साहित्य की प्रचुर रचना चैतन्य संप्रदाय में हुई। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य चरितामृत' में बताया है कि--

'विद्यापति चंडीदास श्री गीतगोविंद,
एइ तीन गीते कराये प्रभूर आनंद।'

गीत गोविंद, चंडीदास और विद्यापति के गीतों से महाप्रभु चैतन्य को आनंद मिलता था। अत: बंगाल के लिए पद-साहित्य के इतिहास का आरंभ, गीत-गोविंद से होता है[1]। गीत गोविन्द संस्कृत भाषा में है, फिर भी यह इतना

१. गीतगोविन्द से पद-साहित्य का आरम्भ मानना केवल इसीलिए समीचीन है कि इससे पूर्व बंगाल में ऐसे किसी गीत या संग्रह का पता नहीं चलता। यों यदि स्वतन्त्रभावेन संस्कृत साहित्य को देखा जाय तो हमें ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य के लगभग की क्षेमेन्द्रकृत 'दशावतार-चरित' नामक रचना में दो गेय पद मिलते हैं। अभी तक तो इन्हें ही पद-साहित्य के आरम्भ

लोकप्रिय है कि इसे एक बार बँगला का भी कह देने को मन होता है। गीत-गोविंद के उपरांत 'चंडीदास' का नाम आता है। चंडीदास के कृतित्व पर ऊपर विचार किया जा चुका है। चंडीदास ने अपने पदों में प्रेम का बहुत ऊँचा स्वरूप प्रतिष्ठित किया है। प्रेम को उन्होंने स्पष्टतः काम से भिन्न बताया है। काम से प्रेम की भिन्नता को चैतन्य संप्रदाय में स्वीकार किया गया। कविराज कृष्णदास

की रचना माना जा सकता है। एक पद देखिए——यह पद कृष्ण के वृन्दावन से मथुरा चले जाने पर गोपियों ने गाया है।

ललित-विलास-कला-सुख-खेलन-ललना-
लोभन-शोभन-यौवन-मानित-नव-मदने।
अलि-कुल-कोकिल-कुवलय-कज्जल-काल-कलिंद-
सुताविव लज्जल-कालिय-कुल-दमने॥
केशि-किशोर-महासुर-मारण-दारुण-
गोकुल-दुरति-विदारण-गोवर्द्धन-धरणे।
कस्य न नयन-युग्मे रति-सज्जे मज्जति मनसिज
तरल तरंगे वर-रमणी-रमणे।

११वीं शती से चैतन्य महाप्रभु के प्रादुर्भाव के समय तक यह गेय परम्परा कृष्णवार्त्ता साहित्य और लोक दोनों में निरन्तर प्रिय से प्रियतर होती गयी। संस्कृत के गेय पदों की परम्परा बंगाल में भी चैतन्य महाप्रभु से पूर्व से ही मिलती है। लोक में यह इतनी प्रचलित हो चुकी थी कि बंगाल के सँपेरे भी 'कालिय-दमन' के गीत गाते थे। चैतन्य से पूर्व की एक ऐसी घटना का उल्लेख वृन्दावनदास के 'चैतन्य भागवत' में मिलता है। एक डांक या सँपेरा फूलिया के एक धनाढ्य के घर पर कालियदमन का गीत गा रहा था——वृन्दावनदास कहते हैं——

काली दहे करिलेन जे नाट्य ईश्वरे। सेइ गीत गायेन कारुण्य उच्च स्वरे।
शुनि निज प्रभुर महिमा हरिदास। परिला मूर्छित हइ कोथा नाहि श्वास।

ये हरिदास चैतन्य से उम्र में बड़े थे, पर ये उनके अनुयायी हो गये थे। उक्त घटना महाप्रभु के अनुयायी होने से पूर्व की है। स्पष्ट है कि महाप्रभु के समय से पूर्व ही 'कृष्ण-गीत' लोकप्रिय हो चुके थे।

ने 'चैतन्य चरितामृत' में भी इस विषय का कुछ विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। चंडीदासवाला राधा-कृष्ण विषयक वह प्रेम-गान, चैतन्य के प्रेम की दिव्य अनुभूतियों से इस नव वैष्णव-धारा में बहुत ऊँची भूमि पर पहुँच गया।

चंडीदास के उपरांत पूर्व-चैतन्य युग में 'विद्यापति' का नाम आता है। विद्यापति मिथिला के थे। उनके पद मैथिली भाषा में हैं। उस युग में मिथिला विद्या का केन्द्र थी। बंगाल के लोग विद्या प्राप्त करने के लिए मिथिला जाते थे। ये लोग ही अपने साथ विद्यापति के पदों को लाते थे। विद्यापति के पदों में उद्दाम प्रेम-भावना, ललित शब्दावली, उत्कट सौन्दर्य और लीला-विलास की शाब्दिक चित्रावली और पद में 'प्रवहमान मधुर गेयत्व की लहर'—इन सबके कारण विद्यापति बंगाल में अत्यन्त लोकप्रिय हो उठे, इतने लोकप्रिय कि प्रत्येक बंगाली पद-संग्रह में उन्हें प्रमुख स्थान मिला, प्रत्येक संकीर्तन-मंडली में भी वे गाये जाते। इस प्रकार मैथिल-बंगाली का भेद भूल कर विद्यापति को बंगाली माना जाने लगा।

विद्वानों का विचार है कि विद्यापति के इस प्रभाव के कारण मैथिली प्रभाव से संशोधित राधा-कृष्ण काव्य की एक नयी भाषा शैली बंगाल में प्रस्फुटित हुई और इसे 'ब्रजबुलि' कहा गया। कुछ विद्वानों के अनुसार इसे बंगाली वैष्णवों की 'माध्यम भाषा' (लिंगुआ फ्रेंका) कह सकते हैं। पद-साहित्य जितना इस 'ब्रजबुलि' में लिखा गया उतना बँगला भाषा में नहीं। यद्यपि यह भाषा बंगाल से आसाम और उड़ीसा में भी कुछ फैली फिर भी यह बंगाल की ही भाषा रही, और बँगला भाषा की एक शैली विशेष के रूप में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समय तक मान्य रही। स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस भाषा में 'भानुसिंह ठाकुर पदावली' की रचना की। इस ब्रजबुलि का आरंभ भले ही मैथिली के प्रभाव से हुआ हो, पर बाद में तो यह ब्रज की भाषा से ही प्रभावित हुई मिलती है।[1]

१. इस संबंध में भाषातत्त्वविद् डा० सुकुमार सेन ने बताया है कि ब्रजबोली का जन्म अवहट्ठ से हुआ है। उनके शब्द ये हैं—

"प्रायः बीस वर्ष पूर्व जब मैंने 'ब्रजबोलि' साहित्य का इतिहास लिखा था तब मैंने ब्रजबोली की उत्पत्ति के संबंध में प्रचलित मत का ही समर्थन किया

०

जो भी हो, चैतन्य-काल से यह पद-रचना एक नवोन्मेष से खिलने लगी। चैतन्य महाप्रभु के प्राणवान् संदेश से नये गीतों के स्वर गूँज उठे। चैतन्य महाप्रभु के भूत-तन्मात्र से जैसे एक दिव्य अलौकिक तेज प्रस्फुटित हो उठता था और राधा-कृष्ण के प्रेम की पवित्र धारा का उद्गार हो उठता था, वैसे ही गीतों के मुखर स्वरों में भी एक दिव्य मनोहारिता गूंज उठती थी।

इस नवोन्मेष के प्रथम गायक हमें 'मुरारि गुप्त' मिलते हैं। ये मुरारि गुप्त संस्कृत के पंडित थे। संस्कृत में इन्होंने महाप्रभु की जीवनी भी लिखी, किन्तु इन्होंने भाषा में भी गीत लिखे। अभी तक इनके ऐसे छः गीत मिले हैं। इन गीतों में भी इनका उच्च कवित्व प्रकट हो रहा है।[1]

था। उस मत के अनुसार बंगाली पद रचयिताओं ने मैथिल विद्यापति की पदावली का अनुकरणकर ब्रजबोली भाषा की सृष्टि की। अर्थात् मैथिली भाषा ब्रजबोली की माँ तथा बँगला भाषा उसकी 'धात्री' हुई। यही सर्वत्र मान्य है। किन्तु विविध कारणों से उपर्युक्त मान्यता का समर्थन अब मैं नहीं कर पाता हूँ। प्रथमतः विद्यापति के समय की मैथिली भाषा के साथ 'ब्रजबोली' का सादृश्य अनेक स्थानों पर होते हुए भी अनेक स्थानों में नहीं है। द्वितीयतः मैथिली पदावली के अनुकरण पर बंगाली कवियों की ब्रजबोली में पद-रचना बिलकुल आनुमानिक है।.....इसी अवहट्ठ से ब्रजबोली की उत्पत्ति हुई है, बँगला, मैथिली, हिन्दी, राजस्थानी एवं गुजराती आदि भाषाओं का पूर्ण परिणत रूप अवहट्ठ के प्रचलित दरबारी साहित्य में था। विशेषकर राधा-कृष्ण पदावली में। इस परवर्ती अवहट्ठ ने जिस पर मैथिली आदि स्थानीय भाषाओं का प्रभाव पड़ा था, १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में ब्रजबोली का रूप धारण किया था। सूरदास आदि प्राचीन ब्रजभाषा के कवियों की रचना में जो अहिन्दी शब्द या पद हैं वे इसी प्राचीन अवहट्ट या प्राचीन ब्रजबोली के हैं। इसलिए ब्रजबोली किसी प्रान्त-विशेष की सम्पत्ति नहीं है, वह आदि भाषा की सम्पत्ति है और एक प्रकार से अन्तिम सर्व भारतीय आर्य भाषा है। (भारतीय साहित्य, जनवरी १९५६, पृ० ७७)

१. उदाहरणार्थ मुरारि गुप्त का एक गीत यहाँ दिया जाता है —

मुरारि गुप्त के पश्चात् पद-साहित्य की एक प्रबल धारा प्रवाहित हुई, जो पूर्व-चैतन्य-युगीन धारा से कई रूपों में भिन्न थी। इन छोटे-छोटे गेय पदों द्वारा तीन प्रकार के वृत्त अपनाये गये हैं—

१—कृष्ण का बाल-जीवन

२—राधा-कृष्ण का प्रेम

३—प्रभास

कृष्ण के बाल जीवन को 'गोष्ठ', 'देवगोष्ठ' और 'उत्तर गोष्ठ' नाम से तीन वृत्तों में दिया जाता है। गोष्ठ में गाय चराने के लिए वन जाने का वर्णन रहता है। वन में बाल-क्रीड़ाओं के साथ कंस के भेजे दैत्यों के वध की लीला भी रहती है, और अन्त में 'कालियदमन' का वर्णन रहता है। कृष्ण गोप-ग्वालों के सखा हैं, फिर भी वे कुछ अद्भुत और रहस्यमय हैं। वे समझते

'सखि हे फिरिया आपन घरे जाओ !
जीयन्ते मारिया जे आपना खाइया के
तारे तुमि कि आर बुझाओ।
नयन पुतली करि लइलो मोहन रूप
हियार माझारे करि प्राण।
पिरीति-आगुनि ज्वालि सकलि पोड़ादयाछि
जाति कुल शील अभिमान।
ना जानिया मूढलोके कि जानि कि बले मोके
ना करिये श्रवण गोचरे।
स्रोत-विथार जले ए तनु भा साइयाछि
कि करिबे कुलेर कूकुरे।
खाइते, सूइते रइते आन नाहि लये चिते
बंधु बिने आन नाहि भाय।
मुरारि गुपते कहे पिरीति एमति हइले
तार जस तीन लोके गाय।

हैं कि कृष्ण उनके रक्षक भी हैं। कृष्ण कालीदह में प्रवेश कर कालिय नाग के फण पर वंशी बजाते हुए कालीदह में से प्रकट होते हैं, ठीक उस समय जब उन्मादिनी-सी राधा कालीदह पर आकर स्वयं कालीदह में प्रवेश करने को उद्यत होती हैं।

देवगोष्ठ में ग्वाल-बाल माता यशोदा से वृन्दाविपिन में देखे अद्भुत और दिव्य दृश्य का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि माँ! कृष्ण को सामान्य बालक मत समझना। भले ही वह हमारा सखा है, पर असाधारण है। माँ! वृन्दावन में विविध तेजवान् अलौकिक व्यक्ति कृष्ण से मिलने आते हैं, एक अद्वितीय सुंदरी सिंह पर सवार हो वन में आती है, कृष्ण को अपनी भुजाओं में लेकर वह उन्हें खाने को मक्खन और मिसरी देती है। कृष्ण हम सब में उन पदार्थों को बाँट देता है। वे अत्यन्त मधुर होते हैं। और भी अद्भुत प्राणी आते हैं। एक भैंसे पर सवार होकर आता है, कोई मयूर को वाहन बनाये आता है, कोई विशाल श्वेत हाथी पर चढ़ा होता है,उसके मुकुटके रत्नोंसे सूर्य-जैसा प्रकाश छिटकता रहता है। एक चार मुँहवाला, माला फेरता चला आता है। ये सभी कृष्ण का दर्शन करने आते हैं और कृष्ण की कृपा-दृष्टि से प्रसन्न होते हैं। सबके अन्त में बैल पर सवार एक भिखारी आता है, वह बाघंबर पहने होता है, उसकी जटाओं मे जलधारा प्रवाहित होती रहती है। वह तो कृष्ण को देखकर आनंद से नाच उठता है, और कृष्ण उसे दौड़कर अपने आलिंगन में बद्ध कर लेते हैं। कृष्ण कहते हैं—हे स्वामी, तुम देवाधिदेव हो, मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ। तुम्हें मैंने स्वर्ण-कैलास दिया, कुबेर को तुम्हारा खजांची बनाया, पर तुम योगी और विरक्त ही रहे। यों कहकर कृष्ण उनके पैरों में गिर पड़ते हैं। पर वह अपने जटा के जल से उनके पैरों को धोता है और कहता है—"मैं धन्य हूँ—मैं धन्य हूँ।"

उत्तर गोष्ठ में कृष्ण के वन से लौटने की लीला आती है। माँ यशोदा अत्यन्त विकल हैं। उन्हें कितने ही अंदेशे होते हैं, वह 'कृष्ण-कृष्ण' पुकारती हैं—तभी कृष्ण के आगमन की ध्वनि होती है, माँ द्वार की ओर भागती हैं, उधर से कृष्ण मोरपंख धारे, अलक-तिलक शोभित मुख से दौड़कर आते हैं और माँ की गोद में समा जाते हैं।

राधा-कृष्ण के प्रेम का विषय इस पद-साहित्य में सबसे अधिक वर्णित हुआ है। इस प्रेम-वर्णन में कई विशेषताएँ हैं।

जन्म के समय भी राधा की प्रेमगति का वर्णन है। इसका उल्लेख पहले भी हो चुका है कि राधा पैदा होने पर अपनी आँखें नहीं खोलती। कृष्ण भी नवजात बालिका को देखने जाते हैं। वह जब राधा के पास पहुँचते हैं तो झट राधा आँख खोलकर सबसे प्रथम कृष्ण का ही दर्शन करती है।

राधा का विवाह अयन घोष से हो जाता है। एक दिन विशाखा ने राधा को कृष्ण का चित्र दिखा दिया। राधा के हृदय में कृष्ण का प्रेम जागृत हो गया। उसे लगता कि जैसे श्याम-नील आकाश ने मानव शरीर धारण कर लिया है, इन्द्रधनु ने सिर पर मोरपंख के मुकुट की शोभा धारण कर ली है। वनोपवनों ने उसके शरीर के श्रृंगार के लिए पुष्प दान कर दिये हैं। उसकी वंशी से "राधा! राधा!" का निनाद निकलकर उसे बेबस कर देता है। उसने खान-पान छोड़ दिया है, पीत वस्त्रों में वह जैसे योगिनी हो गयी है, वह बादलों को एकटक देखती रहती है, उनसे अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर जैसे वह बात करती रहती है। राधा के विरह का, पूर्वराग के विरह का यह चित्र है। कृष्ण भी कम उद्विग्न नहीं। चम्पक पुष्प को खिलता देख उन्हें भी राधा का स्मरण हो जाता है, और वे वंशी से निरंतर राधा-राधा रटा करते हैं।

तब वह जाति-पाँति, कुल-कानि, गुरुजन-लाज, यश-अपयश की बिना चिन्ता किये वृन्दावन की कुंज में कृष्ण से मिलने जाती है। तब से मिलने के भाँति-भाँति के उपाय किये जाते हैं। कृष्ण कभी वैद्य बनकर राधा से मिलने जाते हैं, कभी योगिनी बनकर उससे मिलते हैं। उधर सुबल के वेष में राधा भी कृष्ण से वन में आ मिलती है।

इस प्रेम में मान का भी स्थान है। इसके लिए एक अत्यन्त अलौकिक कथा प्रस्तुत की गयी है।

"ग्वालों के मन में एक बार समाया कि गायों का श्रृंगार मोतियों से हो तो कितना अच्छा रहे। कृष्ण ने सुदामा को राधा के पास भेजा कि वह उससे एक मोती ले आये। उसे बो देंगे, उसके पेड़ से मन-चाहे जितने मोती ले लेंगे। सुदामा राधा से मोती माँगने गये, राधा ने और उसकी सखियों ने सुदामा को मोती नहीं

दिया साथ ही और मखौल उड़ाया, खरी-खोटी भी सुनायी–'मोती क्या कदंब या चम्पा हैं कि पेड़ में लगेंगे। गँवार ग्वाले! सुदामा अपमानित होकर लौटा। कृष्ण ने यशोदा से मोती माँगा, पहले तो यशोदा भी आनाकानी करने लगीं, पर कृष्ण की उदासी उनसे नहीं देखी गयी। भला मोती क्या कृष्ण की प्रसन्नता से भी अधिक कीमत का है। माता ने मोती दिया। कृष्ण ने बोया, जैसे ही बोया वैसे ही पेड़ निकल आया और तुरंत उसमें मोती के गुच्छे पर गुच्छे लगने लगे। ग्वालों ने माला बना-बनाकर गायों को खूब सजाया। राधा की एक सखी तभी यमुनाजी पर जल भरने आयी और उसने यह तमाशा देखा। उसने राधा को बताया। अब तो राधा के दुःख का ठिकाना न रहा। हाय! यह मैं क्या कर बैठी। एक मोती का अभिमान आ गया। अब कृष्ण कैसे बोलेंगे। वह दौड़ी। जब उस स्थल पर आयी तो वहाँ मोती का पेड़ तो था नहीं, पर एक अद्भुत दिव्य नगर उसे दिखाई पड़ा, जिसमें उससे भी कहीं अधिक सुदरियाँ आती-जाती दिखाई पड़ीं। राधा ने वहाँ किसी से कृष्ण का पता पूछा तो सुना–"भला कृष्ण जो उच्चाति उच्च वैकुण्ठ के निवासी हैं, क्या तुझे मिल सकते हैं।" अबला राधा इधर से उधर दौड़ रही है। "कृष्ण, कृष्ण, कहाँ हो, तुम्हारे बिना क्या मैं रह सकती हूँ। तुम मेरे प्राण हो, क्षमा करो, क्षमा करो।" राधा रुदन करती मूर्छित हो गिर पड़ी। जब होश आया तो न वह दिव्य नगर था, न उसका अपमान करनेवाले प्रहरी ही वहाँ थे। वहाँ थे कृष्ण वंशी हाथ में लिये। उसे सहारा देकर उठाते हुए कह रहे थे––"राधा, प्राणेश्वरी, तुम कहाँ थीं।" राधा कृष्ण के चरणों में गिरकर सिसकने लगी।

इस प्रेम-वर्णन में मिलन के उपरांत "माथुर" के पद आते हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों और राधा का विरह इन पदों में वर्णित है।

"राधा वारिदों को देखती है, उन्हें कृष्ण समझकर अपने पवित्र प्रेम की दुहाई देती है। प्रेमोन्माद में वह मूर्छित हो जाती है। सखियाँ उसे मरणासन्न समझ श्यामकुंड में अन्तर्जली देती हैं और कान में 'कृष्ण-कृष्ण' स्मरण दिलाती हैं, कृष्ण का नाम सुन राधा के प्राण लौटते हैं, वह आँखें खोलती हैं।" आदि।

प्रभास––कृष्ण मथुरा में प्रभास-क्षेत्र में धनुर्यज्ञ कर रहे हैं। सबको निमंत्रण दिया गया है। वृन्दावन के लोगों को नहीं। ये लोग बिना बुलाये ही

कृष्ण के दर्शन के लिए चल पड़ते हैं। यशोदा द्वार-द्वार पर कृष्ण को पूछती हैं, पर द्वारपाल उसे पगली समझ कृष्ण से मिलने नहीं जाने देते। यशोदा अत्यन्त दुखी हो भूमि पर गिर पड़ती हैं। तभी यज्ञकुंड में आहुति देते कृष्ण रो पड़ते हैं, बलदेव को छाती से लगाकर पूछते हैं कि भाई! मेरी अभागी माँ कहाँ है, मेरे सखा कहाँ हैं, कहाँ है मेरी राधा।

इन वर्णनों में यह द्रष्टव्य है कि पदकर्ताओं ने कैसे मार्मिक स्थलों को चुना है और कैसी मार्मिक कथाओं को खड़ा किया है।

यह भी द्रष्टव्य है कि राधा का समस्त विरह-उन्माद चैतन्य महाप्रभु के प्रेमोन्माद के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है। चैतन्य महाप्रभु की तन्मयावस्था के जो लक्षण हमें उनकी जीवनी में मिलते हैं, वे ही सभी पदकर्त्ताओं ने राधा के विरह में राधा में प्रस्फुटित दिखाये हैं। इस प्रकार चैतन्य के अनुभावों के अनुकरण से विरह के यथार्थ अनुभावों का समावेश राधा के वर्णनों में हुआ है। चैतन्यपूर्व के वर्णनों से इन वर्णनों में यह एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण विशिष्टता पैदा हुई है। राधा के रुप में वस्तुतः चैतन्य महाप्रभु का ही वर्णन किया जा रहा है।

प्रेम की इस दिव्यता को शारीरिक सत्ता से संलग्न रखते हुए भी इसके कितने ही भेद-प्रभेद प्रस्तुत किये गये हैं। प्रेम-तत्त्व का अत्यन्त सूक्ष्म रूप में अध्ययन और वर्णन किया गया है। पूर्वराग, मिलन, माथुर या विरह और प्रभास सभी में विविध भावों को नाम देकर उसके अन्तर्गत पद रचे गये या संग्रह किये गये हैं। जैसे पूर्वराग के भेद इस प्रकार किये गये हैं——

वयःसंधि, सख्युक्ति, चित्रपटदर्शन, स्नानकाल-दौत्य, दर्शन आदि, फिर रूपाभिसार, मान, कारणमान, निर्हेतुमान, मिलन, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, आक्षेपानुराग, रूपोल्लास, प्रेमवैचित्र्य, माथुर, सम्भोग, मिलन, वात्सल्य, गोष्ठ, नौका विलास, सौख्य आदि।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, ये सभी प्रेमभाव चैतन्य महाप्रभु के जीवन में घटित देखे या दिखाये गये हैं। इन भावों का संबंध महाप्रभु चैतन्य देव से जुड़ा दिखाने के लिए पद-संग्रहों में एक अनोखी प्रणाली आविष्कृत की गयी। यह प्रणाली है प्रत्येक भाव-विषयक गीतों के पहले 'गौड़चन्द्रिका' नाम की

भूमिका जोड़ देने की। इस विधि से समस्त पद-साहित्य श्री चैतन्य महाप्रभु के भावों की व्याख्या के रूप में राधा-कृष्ण के प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

मुरारि गुप्त के बाद नरहरि सरकार का नाम आता है। इन्होंने भी भाषा मे महाप्रभु पर पद लिखे हैं। संभवतः चैतन्य महाप्रभु पर सबसे प्रथम पद-लिखने वाले यही हैं। इन्होंने बताया है—

गौर लीला दरसने इच्छा बड़ हय मने
भाषाय लिखिया सब राखि।
मुँई तो अति अधम लिखिते ना जानि क्रम
केमन करिया ताहा लिखि।
ए ग्रंथ लिखिवे जे एखन जन्मे नाइ से
जन्मिते विलम्ब आछे बहु।
भाषाय रचना हइले बुझिवे लोक-सकले
कबे वाँछा पुरावेन पहु।
गौर - गदाधर लीला आद्रव करये शिला
कार साध्य करिवे वर्णना।
शारदा लिखेन जदि निरन्तर निरवधि
आर सदाशिव पंचानन।
किछु किछु पद लिखि जदि इहा केह देखि
प्रकाश करये प्रभु लीला।
नरहरि पावे सुख घुचिवे मनेर दुख
ग्रंथ गाने दरविवे शिला।[१]

१ गौर लीला के दरशन की, मन में बड़ी इच्छा है कि
उस सब को भाषा में लिख डालूँ,
मैं तो अत्यन्त अधम हूँ, लिखने का क्रम जानता ही नहीं
तब उसे कैसे लिख सकूँगा।
ऐसा ग्रंथ लिखने वाला, अभी तो पैदा नहीं हुआ,

नरहरि ने कृष्ण-राधा पर ब्रजबुली में केवल कुछ पद ही लिखे हैं, संभवतः एक पद ही। नरहरि सरकार के शिष्य लोचनदास, जो चैतन्य महाप्रभु की जीवनी 'चैतन्य मंगल' के भी लेखक थे, पदकर्ता भी हैं। देशी शब्दों और देशी छंद पर इनका पूरा अधिकार था। लोचनदास तथा नरहरि के कई पद आगे चलकर चंडीदास की छाप से युक्त हो गये।

वासुदेव घोष ने भी नरहरि का पदानुसरण किया है। वासुदेव घोष ने लिखा है—

"श्री सरकार ठाकुरेर पदामृत पाने,
पद्य प्रकाशिव बलि इच्छा कइल मने।"

सरकार ठाकुर से अभिप्राय नरहरि सरकार से है। नरहरि भी चैतन्य के अनुयायी थे और वासुदेव घोष भी। वासुदेव ने कितने ही पद रचे हैं। वासुदेव बहुत समय तक महाप्रभु के साथ रहे। उन्होंने मुख्यतः महाप्रभु पर ही लिखा और उनकी जीवन की घटनाओं से कृष्ण-जीवन की घटनाओं का साम्य दिखाया है।

पैदा होने में समय भी बहुत लगेगा।
भाषा में रचना हो, जिसे सभी लोक समझ सकें,
न जाने प्रभु इस इच्छा को कब पूर्ण करेंगे।
गौर गदाधर की लीला शिला को भी द्रवित करेगी,
ऐसे वर्णन करने की शक्ति अपेक्षित है।
यदि शारदा लिखे, निरंतर निरवधि लिखे
लिखती ही जाय,
और सदाशिव पंचानन भी
कुछ कुछ पदों की रचना कर, यदि इसको देखकर
प्रभु की लीला को प्रकट करें।
तो 'नरहरि' को सुख मिले और मनका दुख दूर हो,
ऐसे ग्रंथ के गान से ही शिला द्रवित होगी।

शचीर आंगिनाय नाचे विश्वम्भर राय,
हासि हासि फिरि फिरि मायेरे लुकाय।
बयने वसन दिया बले लुकाइनु
शची बले विश्वम्भर आमि ना देखिनु।
मायेर अंचल धारि चंचल चरणे
नाचिया नाचिया जाय खंजन-गमने।
वासुदेव - घोष कहे अपरूप शोभा
शिशु-रूप देखि हय जगमन लोभा।[1]

वासुदेव घोष के भाई माधव घोष भी पदकर्त्ता हैं। गायन में तो माधव घोष की समानता करनेवाला दूसरा था ही नहीं। ये भी चैतन्य के सखा थे। इनके तीसरे भाई गोविन्द घोष भी काव्य-रचना में कम नहीं थे। इन्होंने भी चैतन्य तथा राधा-कृष्ण पर पद रचे। माधव और गोविन्द जब साथ गाते थे तो 'सुनि के वा धरये परान' कौन अपने प्राणों को वश में रख सकता था।

श्रीमद्भागवत के अनुवादकर्त्ता 'श्रीकृष्ण विजय' के कवि मालाधार वसु गुणराज खाँ के पुत्र या पौत्र रामानंद वसु भी चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी सखा थे। इन्होंने कितने ही पद लिखे। एक पद ब्रजबुलि में भी लिखा।

वृन्दावनस्थ छः गोस्वामियों में से गोपाल भट्ट ने ब्रजभाषा में रचना की। हाँ, रघुनाथदास ने ब्रजबुलि में भी कुछ पद लिखे। प्रसिद्ध जीवनी-ग्रंथ 'चैतन्य

**१. शची के आँगन में विश्वम्भर राय नाचते हैं,
हँस हँस के बारबार लौट लौट के मा से लुकाछिपी करते हैं,
बदन पर वस्त्र डाल कर कहते हैं छिप गया,
शची कहती है विश्वंभर मैं तो नहीं देख पाती,
तब दौड़कर माँ का अंचल पकड़ लेते हैं,
और नाचते नाचते खंजन की चाल चलते हैं,
वासुदेव घोष कहते हैं यह शोभा अमित हैं,
शिशु के रूप को देख संसार का मन लुब्ध हो रहा है,**

चरितामृत' के कवि कृष्णदास कविराज इन्हीं रघुनाथदास गोस्वामी वे
शिष्य थे।

वंशीवादन दास का चैतन्य महाप्रभु के घराने से घनिष्ठ संबंध था। ये
चैतन्य देव के निकट संपर्क में थे और उनके जीवन की अनेक घटनाएँ प्रत्यक्ष
देख चुके थे। इन्होंने चैतन्य महाप्रभु पर जो पद लिखे है, वे ऐतिहासिक महत्त्व
के माने जा सकते हैं। राधा-कृष्ण पर भी इनके बंगाली गीत प्रसिद्ध हैं।

यहाँ तक नव वैष्णव पद-साहित्य का प्रथम चरण पूर्ण होता है। ये सभी
कवि चैतन्य महाप्रभु के भक्त और सखा थे, समसामयिक। सभी ने चैतन्य
महाप्रभु की लीलाएँ देखी थीं। सभी उनसे प्रभावित थे। सभी के काव्य में
चैतन्य के भावों-अनुभावों की छाप है, वही छाप कृष्ण-राधा के प्रेमवर्णन में
इनके द्वारा उतार दी गयी है।

चैतन्य देव के काव्य प्रसंग में उनके साथी नित्यानंद के अनुयायियों का
भी उल्लेख अपेक्षित है। निताई के अनुयायियों में बलरामदास और ज्ञानदास
का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन दोनों ने बँगला में सुन्दर पद लिखे हैं।
वस्तुत: पद-रचना अब एक अनिवार्य भक्ति-अभिव्यक्ति की पद्धति का रूप ग्रहण
करती जा रही थी। बलरामदास ने यों तो यशोदा के वात्सल्य का अच्छा
वर्णन किया है, पर राधा के प्रेम-वर्णन में उनका कवित्व पूरी तरह चमका है।
नवोढा राधा की कृष्ण-प्रेम के बाणों से क्या दशा हुई है, कवि ने स्वयं राधा से
ही कहलाया है—

> किशोर वयस कत बैदगधि-ठाम
> मूरति मरकत अभिनव-काम
> प्रति अंग कोन विधि निरमिल किसे
> देखिते देखिते कत अमिया बरिषे।
> मलुँ मलुँ किवा रूप देखिलुँ स्वपने
> खाइते शुइते मोर लागियाछे मने।
> अरुण अधर मृदु मंद मंद हासे
> चंचल नयन कोणे जाति - कुल नासे।
> देखिया बिदारे बुक दुटि भुरु - भंगी।

आइ आइ कोथा छिल से नागर रंगी।
मंथर चलन-खानि आध आध जाय
पराण जेमन करे कि कहिब काय।
पाषाण मिलाये जाय गायेर बातासे
बलरामदासे काय अवश परशे।[१]

(पा० क० त० १४६)

ज्ञानदास को नित्यानंद प्रभु का अनुयायी माना जाता है। वास्तव में इन्होंने नित्यानंद प्रभु की एक पत्नी[२] जाह्नवी देवी से दीक्षा ग्रहण की थी। ज्ञानदास एक श्रेष्ठ कवि हैं। बँगला और ब्रजबुलि दोनों पर इन्हें अधिकार है, फिर भी बँगला रचनाएँ ब्रजबुलि से श्रेष्ठतर हैं। ज्ञानदास ने चैतन्य और नित्यानंद पर भी पद लिखे हैं। इनमें भावसंस्पर्श उतना नहीं जितना चमत्कार है। राधा-कृष्ण-विषयक रचनाओं में ये चंडीदास के प्रतिनिधि-जैसे हैं।

१. **किशोर वय, कितनी विदग्धता**
मरकत की मूर्ति अभिनव-कामवती
न जाने विधाता ने किससे कैसे प्रति अंग निर्मित किया है
देखते देखते न जाने कितना अमृत बरसता है
यह प्रत्यक्ष है या यह रूप स्वप्न में देखा है
खाते सोते भी मेरा मन इसी में लगा रहता है
लाल ओठ, मृदु मंद मंद हास
चंचल नेत्रों के कोने, ये जाति-कुल की मर्यादा को नाश करने वाले,
दोनों भौहों की भंगिमा देखते ही हृदय विदीर्ण कर देती है
यह रंगीला नागर कहाँ से आ गया, मंथर गति से चलना देख
प्राण में जैसा कुछ होने लगता है, उसे किससे कैसे कहें
पाषाण मिलाये जाय गायेर बातासे
बलरामदासे काय अवश परशे।

२. **नित्यानंद प्रभु की दो पत्नियाँ थीं।**

इस पद-साहित्य में दूसरा चरण चैतन्य और नित्यानंद के भक्तों की शिष्य परंपरा से आरंभ होता है। इस परंपरा का संबंध नरोत्तमदास और श्रीनिवास के अनुयायियों से विशेष है। इस नये चरण में वस्तुतः नरोत्तम ने प्राण फूँक दिये, एक नवीन संकीर्त्तन-शैली की प्रतिष्ठा की।

नरोत्तम ने अपार संपत्ति त्याग दी[1] और वृन्दावन में जाकर अद्वैताचार्य के शिष्य लोकनाथ से दीक्षा ली। ब्रह्मचारी नरोत्तम १५८१ में वृन्दावन से बंगाल लौटे और अपने मूल स्थान खेतुड़ी में छः प्रतिमाएँ स्थापित करायीं और इस अवसर पर एक बृहत् वैष्णव मेला बुलाया। यह सात दिन चला। इसमें चैतन्य महाप्रभु के निजी भक्त, श्रीनिवासाचार्य तथा श्यामानंद के अतिरिक्त नरोत्तम, श्रीनिवास आदि के शिष्य भी सम्मिलित हुए। १५८४ का यह वैष्णव मेला इस नये चरण के प्रवर्त्तन में ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

नरोत्तम कवि तो थे ही, महान् गायक भी थे। इनमें बँगला की तत्त्वनिष्ठता विद्यमान थी, उस पर वृन्दावन का रस भी थोड़ा चढ़ा था। इस रसायन से इन्होंने रस-कीर्त्तन की नयी शैली को जन्म दिया, जो 'गराणहाटी' शैली कहलाती है। इनकी इस शैली ने सभी को प्रभावित किया। नरोत्तम-विलास में लिखा है —

एथा सर्व महान्त कहये परस्परे
प्रभुर अद्भुत सृष्टि नरोत्तम-द्वारे।
हेन प्रेममय-वाद्य कभु ना शुनिलुँ
एहेन गानेर प्रथा कभु ना देखिलुँ।

१. **नरोत्तमदास राजशाही के राजा कृष्णानंद दत्त के पुत्र थे। ये खेतुड़ी में रहते थे। नरोत्तम की माँ का नाम था नारायणी। नरोतम आजन्म ब्रह्मचारी रहे। बचपन से ही ये धार्मिक प्रवृत्ति के थे। अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त इन्होंने सम्पूर्ण जायदाद अपने चचेरे भाई संतोषदत्त को दे दी और स्वयं वृन्दावन चले गये।**

नरोत्तम - कण्ठ - ध्वनि अमृतेर धार
जे पिये ताहार तृष्णा बाढ़े अनियवार ।[1]

नरोत्तम राधा-कृष्ण विषयक रचनाओं में इतने ऊँचे नहीं उठ सके । इनका अमर काव्य तो इनके प्रार्थना संज्ञक पदों में है । इनमें वैष्णवों का सैद्धान्तिक पक्ष भी है, पर वैष्णव भावना भी सुन्दरता के साथ इनमें ओत-प्रोत है ।

वृन्दावन से लौटने पर नरोत्तम के साथ श्रीनिवास आचार्य तथा श्यामानंद भी बंगाल आये थे । ये दोनों भी अच्छे पदकर्ता थे । इनकी शिष्य-परंपरा ने कितने ही उच्चकोटि के कवि पदकर्ता बँगला-साहित्य को प्रदान किये । पर, यह भी स्पष्ट है कि वृन्दावन का शास्त्रीय प्रभाव बढ़ने लगा था । रूप, सनातन, जीवन आदि षट् गोस्वामियों ने वैष्णवों का भक्ति-शास्त्र प्रस्तुत कर दिया था और अब रचनाएँ उनसे बँधने लगी थीं, फलतः मौलिक स्फूर्ति दबने लगी थी ।

१९वीं शताब्दी से पूर्व १५० से ऊपर पदकर्त्ता हो चुके थे और इनके ३००० से अधिक पद संग्रहों में आ चुके थे । इनमें कुछ प्रमुख कवियों का उल्लेख किया जा चुका है । १७वीं शताब्दी से पूर्व के कवि रंजन (लघु विद्यापति), वसन्तराय तथा गोविंददास कविराज के नाम भी उल्लेखनीय हैं । गोविन्ददास तो पदकर्त्ताओं में सबसे महान् माने जाते हैं । इन्होंने शब्द-विलास में नाद-सौन्दर्य का अद्भुत कृतित्व अपने पदों में सिद्ध किया ।[2]

१. यहाँ सभी महन्त आपस में कह रहे थे कि
नरोत्तम के द्वार पर प्रभु की अद्भुत सृष्टि है
ऐसे प्रेम रसपूर्ण बाजे पहले कभी नहीं सुने
गाने की ऐसी विधि भी कभी नहीं देखी
नरोत्तम के कण्ठ में तो ऐसे अमृत-रस की धारा है
कि जो पीता है उसी की तृष्णा और बढ़ जाती है ।

२. गोविन्ददास कविराज यशोराज खाँ के धेवते थे । इनके बड़े भाई रामचन्द्र भी पदकर्त्ता थे । ये पहले शक्ति के पूजक थे । बाद में श्रीनिवास आचार्य के शिष्य हो गये । ये अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि माने गये । जीव

१७वीं शताब्दी से लकीर की फकीरी का युग प्रबल हुआ; बँधे-सधे लक्षणों के अनुकूल रचना में संतोष माना जाने लगा। तब भी कुछ प्रतिभाएँ चमकीं, जिनमें यदुनंदन, जगदानंद, राधावल्लभ, हरिवल्लभ, रामगोपाल, सैयद मुर्त्तजा (मर्तुजा) तथा अलाओल वरेण्य हैं। मौलिकता तो सिसकने लगी थी, फिर भी भावों और संगीत में अनुकरण के अनुसरण में भी कुछ सौष्ठव ये कवि लाते रहे। पर रही सही कमी १८वीं शती के कवियों में पूरी हो गयी। रूढ़ियों के परिपालन में इनके काव्य लिखे गये। अठारहवीं शती के ये पदकर्ता उल्लेखनीय माने गये हैं—प्रेमदास, शेखरबंधु, अर्थात् चन्द्रशेखर तथा शशिशेखर, राधामोहन ठाकुर, नरहरि चक्रवर्ती, दीनबंधु दास।

इन पदरचनाओं के कितने ही संग्रह समय-समय पर किये गये। १६वीं शती में ही मनोहरदास ने 'पदसमुद्र' नामक संग्रह प्रस्तुत किया, जिसमें १५००० पद बताये जाते हैं। यह अभी तक प्रकाश में नहीं आया।[1] श्रीनिवास आचार्य के नाती राधामोहन ठाकुर ने 'पदामृतसमुद्र' नामक संग्रह तैयार किया। इसमें इन्होंने पदों की संस्कृत टीका भी दी। कुछ अन्य छोटे-मोटे संग्रह और भी बने। किन्तु सबसे अच्छा संग्रह है वैष्णवदास[2] का 'पदकल्पतरु'। यह संग्रह १८वीं

गोस्वामी ने इन्हें 'कविराज' की उपाधि से विभूषित किया। कुछ विद्वानों का मत है कि गोविन्ददास ने पद-काव्य-धारा को भावोन्मुख शब्द के नाद-सौन्दर्य की ओर मोड़ दिया। इसमें इनकी प्रतिभा ने तो अपूर्व सफलता पायी, किन्तु यहीं से पद-काव्य का ह्रास आरम्भ हो गया। क्योंकि अब कवि भाव की अपेक्षा शब्द-सौन्दर्य पर विशेष ध्यान देने लगा। पर वस्तुतः यह तो एक ही कारण था, इस ह्रास के बीज तो गोस्वामियों के रस-शास्त्र में और सम्प्रदाय में बढ़ती हुई साम्प्रदायिक भावना के अनुकूल आचार-व्यवस्था में पहले ही आ चुके थे।

१. सत्रहवीं शती के एक मनोहरदास के कई काव्य-ग्रंथ मिलते हैं। इन्होंने भी कुछ पद रचे थे।

१. वैष्णवदास का मूल नाम गोकुलानन्द सेन था। इनका यह ग्रंथ भी पहले 'गीतकल्पतरु' कहलाता था। यह पदकल्पतरु १७५० ई० के लगभग रचा गया।

शती में किया गया यह सबसे महत्त्वपूर्ण संग्रह है। इसमें ३१०१ पद हैं। ये पद संग्रह में यों ही नहीं रख दिये गये। भावों के उदय और विकास के क्रम से एक विधान में बाँधकर इन्हें संग्रहकर्त्ता ने रखा है। फलतः रस और भाव तत्त्व के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस संग्रह का मूल्य बहुत अधिक है।

पद-साहित्य में बँगला भाषा के अपूर्व काव्य-रत्न गुँथे हुए हैं। चैतन्यपूर्व युग एवं चैतन्योपरान्त युग के उत्कर्ष काल से ह्रास काल की १९वीं शती तक संजीवन और जड़ता में से एक अलौकिक आध्यात्मिक उपलब्धि इनमें मिलती है। चैतन्य, राधा और कृष्ण विविध परिवेशी रूपकों और प्रतीकों से बँधकर भी जितने बँगला के पद-साहित्य में एकमेक मिलते हैं, उतने और किसी साहित्य में नहीं मिलते।

कथात्मक साहित्य

देवी-देवताओं के संबंध में हम मंगल-काव्य का वर्णन पहले कर चुके हैं, वैसी ही मंगल-काव्यरूप कथात्मक रचना कृष्ण के संबंध में भी हुई। इन रचनाओं में किसी न किसी परिमाण में भागवत का आश्रय अवश्य लिया गया। स्वतन्त्र अनुवाद के रूप में हम मालाधार वसु अथवा गुणराज खाँ की कृति का उल्लेख भागवत के अनुवादों में कर चुके हैं। इस शैली के काव्यों में गुणराज खाँ की कृति का बहुत आदर है। इनके उपरान्त १६वीं शती में माधव आचार्य, देवकीनंदन सिंह तथा कृष्णदास सर्वश्रेष्ठ कवि थे। इन्होंने कथात्मक काव्य की रचना कृष्णवार्त्ता पर की।

१७वीं और १८वीं शती के ऐसे प्रमुख काव्यों की यह सूची है—

दुखी श्यामदास	कृत	गोविंदमंगल
कृष्णकिंकर	,,	श्रीकृष्ण विलास
भवानंद	,,	हरिवंश
बलरामदास	,,	कृष्णलीलामृत
कविचन्द्र चक्रवर्ती	,,	गोविंदमंगल

ऐसे ही कुछ काव्य परशुराम चक्रवर्ती, अभिरामदास, द्विज हरिदास तथा गोपालसिंह ने भी रचे।

अध्याय ४

पद कीर्तन

महाप्रभु चैतन्यदेव की साधना में संकीर्तन का बहुत महत्त्व था। प्रेमदास
त चैतन्यचन्द्रोदयकौमुदी में उल्लेख है कि उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र के प्रश्न
उत्तर में गोपीनाथ आचार्य ने बताया था कि कीर्तनों का आरंभ चैतन्यदेव
हुआ। यह ऐतिहासिक सत्य नहीं। चैतन्यदेव के द्वारा कीर्तन का प्रचार
हुत अधिक बढ़ा, इसमें कोई सन्देह नहीं और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि
ीर्तन-प्रणाली को आध्यात्मिक उद्गार का अधिकाधिक सफल साधन बनाने
लिए चैतन्य-संप्रदाय के प्रतिभाशाली कीर्तनियों ने उसे कितनी ही प्रकार
प्रभावशाली बनाया। किन्तु पद-कीर्तन और कीर्तन-मंडलियों का प्रचलन
ौतन्य से पूर्व हो चुका था। पाल राजाओं के समय में महीपाल आदि राजाओं
कीर्तन का संकेत मिलता है। बौद्ध सिद्धों के पदों में गाने-नाचने का उल्लेख
नके कीर्तनों के तथ्य को बताता है। चैतन्य महाप्रभु को कीर्तन की परंपरा
मली थी, वह वैष्णवों के द्वारा विकसित हुई और प्रभावशालिनी बनी।

बंगाल में इस कीर्तन प्रणाली के चार रूप थे--(१) गरनहाटी, (२)
नेती, (३) मन्दरणी और (४) मनोहरशाही। ये नाम विशेष-विशेष
थानों के आधार पर दिये गये हैं। गरनहाटी शैली के संबंध में हमें ऊपर यह
वदित हो चुका है कि उसे नरोत्तमदास ने प्राणवान् बनाया था। इन सभी
ौलियों में 'मनोहरशाही' सबसे अधिक लोकप्रिय हुई। यह मनोहरशाही
ौली कई शैलियों को मिलाकर प्रस्तुत की गयी थी। यह कहा जाता है कि
१५वीं शताब्दी में कीर्तन की कई प्रणालियों को जोड़कर तेउरा के वैष्णव
गानारायण चक्रवर्ती ने यह अद्भुत मनोहरशाही शैली खड़ी की थी। इसे
ौतन्य देव के सखा, गदाधर के शिष्य, मंगल ठाकुर ने और अधिक प्रभावशाली
ना दिया।

कीर्तनों में बँगला काव्य के प्राण बसे हुए हैं। वैष्णव भावना का उच्चतम सौन्दर्य इनमें प्रतिभासित है। यह चैतन्य के प्रभाव की भाँति ही बंगाल पर छा गया।

पर केवल यही अकेली गीत-प्रणाली नहीं, कुछ अन्य लोकगीत-प्रणालियाँ भी बंगाल में प्रचलित थीं। बाउलों का नाम सभी जानते हैं। ये ईश्वरप्रेम के गीत निर्गुणिये विरक्त गाते फिरते थे। भाटियाली गीतों की मुख्य टेक भगवान् को नाविक बताकर जीवन की जर्जरता के सागर से पार करने की प्रार्थना सँजोती है।

इनके अतिरिक्त भी बंगाली गीतों को चार कोटियों में विभाजित किया जाता है—(१) कीर्तन गीत, (२) कविवाल्ला गीत, (३) धार्मिक गीत तथा (४) यात्रा गीत।

कीर्तन गीतों की चर्चा विस्तारपूर्वक हो चुकी है। यों कीर्तन गीतों को दो स्तरों पर रखा जा सकता है। एक विशिष्ट वैष्णव गीत, जिनमें धर्म के उच्च भाव प्रसिद्ध कवियों द्वारा अभिव्यक्त किये गये हैं। दूसरे सामान्य गीत वे जो लोक में सामान्यतः प्रचलित हो गये हैं और कीर्तन में काम आने लगे हैं। पर सामान्य रूप में भी कीर्तन के क्षेत्र में ऊपरी क्षेत्र के वे ही गीत पहुँचे हैं जो लोकभूमि को भी स्पर्श कर लेते हैं।

पर, कविवाल्ला गीत तो सामान्य लोकभूमि के ही गीत हैं। इन गीतों की गायक-मंडली में स्त्री-पुरुष दोनों ही होते हैं। इस मंडली में एक प्रमुख कथन-कर्ता अथवा रचना करनेवाला कवि होता है। ये कृष्ण-राधाविषयक गीत अथवा शिव के गीत गाते हैं। ये खड़े होकर गीत गाने के कारण दंड कवि कहे जाते हैं। इन कविवाल्ला मंडलियों का आरंभ संभवतः अठारहवीं शती के मध्य से हुआ। इसमें समय पाकर प्रतियोगिता का समावेश हुआ। एक से अधिक कविवाल्ला मंडलियाँ जमा होतीं तो एक मंडली का प्रधान कवि आशु कविता करता और उसमें अपने बाद गायन करनेवाली मंडली पर छींटा कसता। दूसरी मंडली अपनी बारी आने पर उस व्यंग्य का उत्तर देती और पहली मंडली पर और करारी फबतियाँ कसती। इस प्रकार परस्पर व्यंग्य, कटूक्तियों, छींटों

की जो बौछारें होतीं उनमें शिष्टता की सीमाओं का उल्लंघन कर फूहड़पन पर और अश्लीलता पर भी ये कवि उतर आते।[1]

इन कविवाल्ला गीतों के पुराने कवि का अभी तक जो पता चला है उसके अनुसार रघु मोची पहला कवि ठहरता है। यह सोलहवीं शती में हुआ था। रसु नरसिंह १६वीं शती के मध्य का माना जाता है। इसके गीतों में आध्यात्मिक तत्त्व भी था। राम वसु कभी बहुत लोकप्रिय था। इसकी कविताओं में घर और गृहिणी के यथार्थ चित्र मिलते हैं। रसु नरसिंह, गोजला गुँइ, लालू नन्दलाल ये तीनों रघु मोची के समकालीन थे। हरु ठाकुर १७३८ में हुए। १६वीं से लेकर १९वीं शती तक के लगभग ३४ ऐसे कवियों के नाम मिलते हैं। इनमें पुर्तगाली एंटनी कविवाल्ला विशेष उल्लेखनीय है। इसने पुर्तगाली होते हुए भी बँगला में कविवाल्ला काव्य के लिए आशु काव्य मंडली बनायी थी और ठेठ बंगाली की तरह वह कविवाल्ला प्रतियोगिता में भाग लेता था।

कविवाल्लों की परंपरा में दो नाम और जोड़ने आवश्यक हैं। ये दोनों ही पूरी तरह कविवाल्ला नहीं हैं, पर इनका संबंध कविवाल्लों से रहा अवश्य। इनमें से एक हैं 'दाशरथी राय'। इनका जन्म १८०४ में हुआ था, इनका प्रेम एक नीच जाति की स्त्री से हो गया था, इस स्त्री ने एक कविवाल्ला मंडली खड़ी की थी। इस मंडली के लिए गीत दाशरथी बनाते थे। बाद में दाशरथी ने माँ आदि के कहने से कविवाल्ला मंडली को छोड़ दिया। इसके उपरान्त इन्होंने एक नयी शैली का गीत निकाला, जो 'पाँचाली' कहा गया। इन कविताओं या गीतों की लोकप्रियता बहुत बढ़ती गयी।[2]

१. इन कविवाल्ला मंडलियों की तुलना हिन्दी के ग्रामीण क्षेत्रों की जिकड़ी के भजनों की मंडलियों से की जा सकती है। इन मंडलियों में आशु कविता से एक दूसरे की काट करते-करते वातावरण गरम हो जाता है और लट्ठ चलने तक के अवसर आ जाते हैं। ये कविवाल्ला केवल दो वाद्योंका उपयोग करते थे, ढोल और काँसी—काँसे की थाली।

२. कहा जाता है कि अपनी पाँचाली गाने के एक रात के १५० रुपये तक ये

दूसरे ईश्वरचन्द्र गुप्त हैं। ये बँगला के प्रथम पत्रकार माने जाते हैं। नयी प्रतिभाओं को नये युग में प्रोत्साहन देने के लिए इनका बहुत यश है। इन्होंने भी कविवाल्लों के लिए कविताएँ या गीत लिखे थे। प्राचीन परिपाटी के ये अन्तिम कवि माने जा सकते हैं।

धार्मिक गीतों में यों तो बाउलों के गीत भी आयेंगे और भाटियाली गीत भी आयेंगे, पर दुर्गा माँ के लिए रामप्रसाद सेन के गीत अद्वितीय हैं। रामप्रसाद के इन गीतों में माँ के प्रति उदित होनेवाले वे सभी भाव प्रकट हुए हैं, जो एक शिशु में हो सकते हैं। रामप्रसाद के हृदय का चीत्कार ही इन गीतों में प्रकट होकर माँ, विश्व-धात्री माँ के कानों तक पहुँचना चाहता है।

धार्मिक गीतों में से कुछ के प्रमुख लेखक हैं महाराज रामकृष्ण, कमलाकान्त भट्टाचार्य, दीवान रघुनाथ राय, दीवान रामदुलाल नन्दी।

यात्रावाले गीत यात्राओं के लिए ही होते हैं। यात्राएँ चैतन्य के समय से तो मिलती ही हैं। ये यात्राएँ बंगाल का लोक-रंगमंच हैं। इसमें समस्त अभिनय का संवाद गीतों में ही होता है।[1] इन यात्राओं के विषयों में से प्रमुख राधा-कृष्ण संबंधी विषय ही हैं। विद्यासुंदर-विषयक यात्राएँ भी कम लोकप्रिय नहीं रहीं। साथ ही साथ राम-यात्रा, मनसा-यात्रा, चंडी-यात्रा भी होती रही है।

लेते थे। इस पर भी इनकी इतनी माँग थी कि बहुतों को इन्हें निराश करना पड़ता था।

१. हिन्दी क्षेत्र में जिस प्रकार भगत या नौटंकी है, उसी प्रकार की ये यात्राएँ हैं। वास्तव में ये यात्राएँ अत्यन्त सीधे-सादे रूप में होती थीं, कोई रंगमंच नहीं, बस जमीन पर एक दरी। वाद्य यंत्रों में खोल और खड़ताल। न पर्दे, न और कुछ। वेशभूषा सामान्य।

'यात्रा' खेल प्रातः ४ बजे से आरम्भ होकर दोपहर तक चलता था। आरम्भ में कभी देर तक केवल वृन्दवाद्य ही बजाये जाते थे। इतनी देर में दर्शक एकत्र हो जाते थे। पुरानी यात्राओं में हास्य के दृश्य भी रहते थे। ये बीच-बीच में दिये जाते थे। इन्हें 'सं' कहा जाता था। १७वीं–१८वीं शती के यात्रा काव्यों में कहीं-कहीं गद्य का भी उपयोग हुआ मिलता है।

ये यात्राएँ अत्यन्त घरेलू और अनाटकीय वातावरण में होती हैं। फिर भी इनके गीतों में हृदयस्पर्शिता की कमी नहीं रही। सामान्य लोगों पर इनका गहरा प्रभाव पड़ता रहा है।

परमानंद अधिकारी संभवतः प्रथम यात्रालेखक माना जा सकता है। इसकी लिखी यात्रा का विषय था 'कालियदमन'। सुदामा सुबल अधिकारी भी कालियदमन के लिए प्रसिद्ध है। लोचन अधिकारी का बहुत नाम रहा। गोविन्द अधिकारी, पीतांबर अधिकारी, कालचंद पाल आदि और भी कई कवि मिलते हैं। इन सबमें शिरोमणि माना जाता है 'कृष्णकमल' को। ये १९वीं शताब्दी के हैं। इनकी दो कृतियाँ सर्वश्रेष्ठ ह—'राइ उन्मादिनी' तथा 'स्वप्न-विलास'। यों तो इन्होंने राम-वार्त्ता संबंधी 'भरत मिलन' भी लिखा और 'निमाई संन्यास' चैतन्य महाप्रभु से संबंधित रचना भी लिखी, पर अधिकांश में इनका विषय कृष्णवार्त्ता ही रहा है।

कुछ यात्रा-काव्यों का उल्लेख कर देना समीचीन होगा।

१—रामवल्लभ कृत दूतीसंवाद।

२—विद्यासुंदर गायन, कवि अज्ञात

३—मनसामंगल गायन।

इन प्रणालियों के अतिरिक्त एक टप्पा प्रणाली का आरंभ १८वीं शती में रामनिधि गुप्त या निधुबाबू ने किया। 'टप्पा' शास्त्रीय संगीत की ही एक किस्म है। रामनिधि गुप्त ने छपरा में एक मुसलमान (शोरी मियाँ गुलाम नवी) से उसे सीखा और उसी शैली में गीत रचे। इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये शुद्ध प्रेम के गीत हैं। इनमें धार्मिक स्पर्श का अभाव है। शुद्ध मानवीय प्रेम का उच्च स्वर इनकी कविताओं में प्रकट हुआ है। यदि इन्हें प्राचीन परंपरा में ही रखा जाय तो बँगला भाषा में शुद्ध प्रेमकाव्य के कवि के रूप में ये अकेले ही मिलेंगे।

यहाँ तक हमने प्राचीन काव्यधारा को आधुनिक युग के कूलों से टकराते देख लिया है। इस प्राचीन काव्यधारा के पोषण में राज्याश्रय का भी हाथ रहा है, मुसलमानों ने भी हाथ बँटाया और स्त्रियाँ भी इसमें पीछे नहीं रहीं। प्राचीन

बँगला साहित्य की विकास-धारा के पूर्ण चित्र को हृदयंगम करने के लिए इनके योग-दान का भी संक्षेप में उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है।

राज्याश्रय

बँगला भाषा ने जब से अपना निजत्व विकसित किया तभी से उसे राज्याश्रय भी मिला।

१५वीं शती से ही गौड़ेश्वर सुलतान रुकनुद्दीन बारबक शाह[१] ने यह परंपरा चलायी। उनके अधीन मालाधार वसु ने भागवत का अनुवाद किया था 'श्रीकृष्ण विजय' नाम से। इन्हें सुलतान ने 'गुणराज खाँ' की उपाधि भी प्रदान की थी। यह परंपरा इन सुलतानों ने स्थिर रखी, जैसा नीचे दी गयी सूची से विदित होता है।

		संरक्षक आश्रयदाता	कवि
१५वीं शती	...	सुलतान हुसेन शाह	विजय गुप्त, विप्रदास पिपलाई, यशोराज खान, कृत्तिवास[२]

१. किसी-किसी के मत से यह सुलतान शम्सुद्दीन यूसुफ शाह थे।

२. कृत्तिवास के काल के संबंध में मतभेद है। इस संबंध में आधुनिक विचार डा० सुकुमार सेन के इतिहास में हैं। वे लिखते हैं—"बहुत ही थोड़ी और अत्यन्त संदिग्ध सामग्री से, जो कृत्तिवास द्वारा लिखी आत्म-परिचयात्मक पंक्तियों से ली गयी है, कुछ विद्वान् कृत्तिवास का जन्म १३९८ में मानना चाहते हैं। यह निष्कर्ष दो अनुमानों पर निर्भर है:—(१) नरसिंह का संरक्षक राजा दनुज वह व्यक्ति है जिसका उल्लेख मुस्लिम इतिहासकारों ने १३वीं शती में 'राय अनुज' के नाम से किया है। तथा (२) कृत्तिवास राजा गणेश (कंस) के दरबार में गये थे। इन अनुमानों पर कई आपत्तियाँ हैं। राजा गणेश राजकीय रूप से (अपने सिक्कों पर) दनुजमर्दन कहा जाता था। इसके संबंध में यह विदित हुआ है कि जब कुछ समय के लिए यह बंगाल का शासक रहा, इसने श्रद्धेय और विद्वान् ब्राह्मणों को गंगा तट पर बसने में सहायता दी थी। कृत्तिवास ने जो वंश-

१६वीं शती	...	सुलतान नसरत शाह	कविरंजन
		अलाउद्दीन फिरोज शाह	श्रीधर[1]

इन गौड़ेश्वर सुलतानों में हुसेन शाह के प्रति हिन्दुओं में बहुत आदर था। हुसेन शाह में भी हमें हिन्दू-मुसलमानों को मिलाकर चलने की भावना मिलती है। 'सत्यपीर' नाम के लोक-प्रिय देवता के नाम में हमें हिन्दू-मुस्लिम संयोग दिखाई पड़ता है। इधर के अनुसंधानों से पता चलता है कि 'सत्यपीर' की पूजा का आरंभ संभवतः हुसेनशाह ने ही सत्यपीर नाम देकर कराया था।[2]

वृक्ष दिया है, उसकी जीवगोस्वामी के दिये वंशवृक्ष से तुलना करने पर पता चलता है कि नरसिंह का संरक्षक यह गणेश दनुजमर्दन था। इसके माने हैं कि कृत्तिवास १५वीं शती के द्वितीयार्ध में थे और वे पठान सुलतान के वह चाहे रुक्नुद्दीन बारबक शाह हो या यूसुफ शाह, हुसैनशाह भी हो सकता है, दरबार में गये थे। कृत्तिवास की आत्मपरिचायिका पुष्पिका में जिन अफसरों के नाम दिये गये हैं, वे हुसैनशाह के दरबार के मंत्री तथा अधिकारी हैं। उदाहरणार्थ केदार राय, नारायण तथा जगदानन्द राय। एक दरबारी का नाम केदार खाँ लिखा है। यह 'खाँ' की उपाधि बंगाल में हिन्दू अधिकारियों को पन्द्रहवीं शती के मध्य से ही दी गयी है, इससे पहले नहीं।

१. श्रीधर ने 'विद्यासुन्दर' या कालिकामंगल फीरोजाशाह के कहने से ही लिखा था।

२. इसे बहुत अधिक ठीक नहीं माना जा सकता। यह युग हिन्दू-मुस्लिम घनिष्ठ संसर्ग का था। लोक-क्षेत्र में इन दोनों का मेल स्वाभाविक रूप में हो रहा था। इसके कितने ही प्रमाण उत्तरी भारत में मिलते हैं। ऐसे कितने ही हिन्दू देवता और महापुरुष 'पीर' बनकर पुजने लगे थे। सत्यपीर बंगाल में, ऐसे ही जाहरपीर राजस्थान, उत्तर प्रदेश, गुजरात तक में। ये पूजाएँ किसी एक व्यक्ति के चलाने से नहीं चलीं, वरन् लोक-प्रवृत्ति की परिणाम थीं।

हुसेन शाह के विश्वस्त सूबेदार परागल खाँ में भी कवियों को आश्रय देने की बान थी। परागल खाँ चटगाँव का सूबेदार था।

संरक्षक	कवि
परागल खाँ	कवीन्द्र या कवीन्द्र परमेश्वर[1]
छूटी खाँ, परागल खाँ का पुत्र	श्रीकरन नंदी (महाभारत के अश्वमेध पर्व का अनुवाद कराया)

अराकान के राजा श्री सुधर्मा के एक सेनाध्यक्ष अशरफ खाँ के आश्रय में दौलत काजी ने लोरचन्द्राणीको हिन्दी-कवि 'साधन' की कृति के अनुकरण पर बंगला में रूपान्तरित किया। पर यह काव्य अधूरा रहा, जिसे बाद में अलाओल ने पूरा किया।

आश्रयदाता	कवि
अराकान के बादशाह के मुसलमान मंत्री मागन ठाकुर[2]	अलाओल[3] : जायसी के पद्मावत का बँगला में अनुवाद किया तथा

१. कवीन्द्र परमेश्वर ने महाभारत का अनुवाद किया और अपने अनुवाद में अपने से पूर्व के अनुवाद का भी उल्लेख किया है। यह पहले का अनुवाद गौड़ के राजा सुलतान नासिर शाह के आदेश से किया गया था। नासिर शाह ने सन् १३२५ ई० तक ४० वर्ष राज्य किया था।

२. मागन ठाकुर नाम से हिन्दू प्रतीत होते हैं, पर ये थे वास्तव में मुसलमान।

३. अलाओल का जीवन दुर्घटनाओं से पूर्ण है। वह बंगाल के एक सूबे के सूबेदार का लड़का था। पिता-पुत्र एक बार नाव से यात्रा कर रहे थे कि पुर्तगाली जलदस्युओं ने आक्रमण किया। पिता मारे गये, पुत्र बंदी बनाकर अराकान में बेच दिया गया। वह सिपाही बनाया गया। पर शीघ्र ही उसकी विद्वत्ता का समाचार फैला। श्रीचन्द्र सुधर्मा के एक मंत्री सुलेमान ने उसे ले लिया। उसके आदेश से अलाओल ने दौलत काजी की लोर-

सैफुल मुल्क और हफ्त
पैकार भी बँगला में लिखे,
'दारासिकंदर' भी लिखा।

हिन्दू आश्रयदाता

१६वीं शती के मध्य से कामता (कूचबिहार) के राजाओं का दरबार कवियों को आश्रय देता रहा है। समरसिंह (विश्वसिंह के पुत्र) ने विश्वसिंह के राज्यकाल में पीतांबर द्वारा मारकंडेय पुराण का बँगला रूपान्तर १५३० में कराया। नरनारायण तथा शुक्लध्वज (नरनारायण का छोटा भाई) दोनों ही बंगाली कवियों के आश्रयदाता थे। पीताम्बर ने दो ग्रंथ और लिखे--

१--नलदमयन्ती चरित और

२--भागवत

आश्रयदाता		कवि
आरा-ब्राह्मण भूमि के राजा बाँकुराराम	...	मुकुन्दराम (चंडीमंगल के कवि)
कर्णगढ़ के राजा यशोवन्तसिंह	...	रामेश्वर (शिवायन के कवि)
वर्दवान के राजा कीर्तिचन्द्र	...	घनराम (धर्ममंगल के कवि)
नवद्वीप के राजा कृष्णचन्द्र	...	रामप्रसाद सेन तथा भारतचन्द्र (कालिकामंगल और अन्नदा के कवि)
टिपरा के राजा जयचन्द्र	...	भवानीदास (रामायण का अनुवाद)

चन्द्राणी का अधूरा अनुकरण काव्य पूरा किया और 'तुहफा' नाम की पुस्तक भी फारसी से लेकर लिखी। तब वह मागन ठाकुर के संरक्षण में गया। वहाँ पद्मावती और 'सैफुल्मुल्क बदीउल्जमाल' लिखे। मागन ठाकुर की मृत्यु हो जाने पर उसके आश्रयदाता हुए सैयद मुहम्मद मूसा। इनके यहाँ अलाओल ने पहला काम पूरा किया और 'हफ्त पैकार' लिखी। तभी भागकर शाह शुजा अराकान आया। शुजा और अलाओल में मैत्री हो गयी।

विष्णुपुर के राजा गोपालचन्द्र	...	१. शंकर चक्रवर्ती (कविचन्द्र) २. एक कवि ने कृष्णमंगल लिखा।
थलभूमि के अनन्त धवल	...	जगन्नाथने बँगलामें हितोपदेश लिखा।

विष्णु पुर के मल्ल राजा वीर हंबीर के यहाँ भी श्रीनिवास आचार्य के समय से वैष्णव कवियों को आश्रय मिलने लगा था। किस प्रकार श्रीनिवासाचार्य ने वीर हंबीर को प्रभावित करके वैष्णव बनाया था, यह घटना ऊपर दी जा चुकी है। यहाँ के आश्रित कवि बहुधा 'कविचन्द्र' की उपाधि से विभूषित होते रहे।

उत्तरी बंगाल में साँतोल (पबना)	...	के रायकृष्ण के (१) राजकवि अद्वैताचार्य या नित्यानंद (रामायण लिखी) (२) श्रीकृष्णजीवनदास (चंडीमंगल लिखा)
ढाका के राजा राजावल्लभ	...	कवि जयनारायण तदा आनंदमयी (जयनारायण की भतीजी) (दोनों ने मिलकर 'हरिलीला' लिखी)[1]

बँगला के प्राचीन काव्य के ह्रास के अनेक कारण हुए। उनमें से कुछ पर ऊपर विचार किया जा चुका है, पर एक कारण राज्याश्रय में पनपनेवाले कवियों का काव्य भी माना जा सकता है। इन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के आदेश से या संकेत से काव्य रचे, बहुधा ये संस्कृत ग्रंथों के आधार पर रचे गये। संस्कृत पौराणिक साहित्य और कालिदास, माघ, दंडी, हर्ष आदि की परंपरा के उदात्त काव्य इनके आदर्श रहे। पर साथ ही आश्रयदाता इनकी दृष्टि में सदा केन्द्रस्थ थे। किसी-किसी कवि ने तो प्रसन्न करने के लिए इन्हें कृष्ण-अवतार तक बताया।[2] अतः अपने आश्रयदाताओं की प्रसन्नता-संपादन

१. कुछ विद्वान् जयनारायण को प्रतिभा में भारतचन्द्र से कम नहीं मानते।

२. परागल खाँ के राजकवि कवीन्द्र परमेश्वर ने महाभारत में परागल खाँ के लिए लिखा—

"कलिकाले हबू जन कृष्ण अवतार।"

इन कवियों का उद्देश्य रहा। संस्कृत के प्रभाव ने तथा संस्कृत कवियों की प्रसिद्धियों ने इन्हें आकर्षित किया। फारसी काव्य का प्रभाव भी पड़ना आरम्भ हो गया था। यों संभवतः आलाओल ही सबसे प्रथम कवि प्रतीत होता है, जिसने फारसी से बँगला में तीन ग्रंथ अनुवाद करके दिये। उसके पद्मावत में फारसी कवियों की नाजुक-बयानी और दूर की उड़ानें मिल जाती हैं। राजकवियों में सबसे प्रमुख स्थान भारतचंद्र का है। उनके विद्या-सुंदर में स्थूल शृंगार कुमार-संभव से प्रभावित प्रतीत होता है। अश्लीलता का अंश भी संस्कृत पुराणों और काव्यों के अनुकरण पर समाविष्ट हुआ। भारतचन्द्र प्रतिभाशाली कवि थे, अन्य सभी कवि उतने प्रतिभाशाली न थे। भारतचन्द्र का अनुकरण बहुत हुआ, और इस अनुकरण में काव्य गिरता गया।

मुसलमान कवि—बंगाल के मुसलमानों ने बहुत शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया कि वे इसी भूमि के पुत्र हैं। इसी कारण उनकी रचनाओं में आरंभ से ही न भाषा-विषयक क्षुद्रता मिलती है, न विषय-संबंधी। उन्हें न संस्कृत से परहेज था, न हिन्दू देवी-देवताओं और शास्त्रीय विषयों से।

संभवतः सबसे प्रथम मुसलमान, जिसने बँगला में लोरचन्द्राणी सतीमयना की रचना की दौलत काजी है। उसका आश्रयदाता अशरफ अराकान के राजा श्री सुधर्मा (१६२२–१६३८) का सेनाध्यक्ष था। उसने हिन्दी कवि साधन की लोरचन्द्राणी के आधार पर अपना ग्रंथ रचा। इसमें उसने कालिदास और जयदेव से भी उपमाएँ तथा छन्द लिये।

इसके अनन्तर अलाओल का नाम उल्लेखनीय है। आलाओल अत्यधिक लोक-प्रिय हुआ। इसमें हमें हिन्दू आत्मा ही प्रतिष्ठित मिलती है। दौलत काजी और आलाओल के द्वारा बँगला में वैष्णव धार्मिक परिपाटी से भिन्न प्रकार की काव्य-रचना का सूत्रपात हुआ।

चटगाँव के सैयद सुलतान ने १६५४ ई० में रसूलविजय (या रसूलवंश)[1] की रचना बँगला में की। इस कवि ने नबियों में कुछ हिन्दू देवताओं और

१. रसूलविजय नाम हिन्दुओं के 'कृष्णविजय' की शैली में है, और नबी-वंश 'हरिवंश' के अनुकरण पर।

अवतारों को भी सम्मिलित किया है। इस कवि ने योग पर भी ग्रंथ लिखा और कुछ वैष्णव पद भी रचे। मुसलमानों में महाभारत के ढंग का 'जंगनामा' काव्य खड़ा हुआ। जंगनामा-विषयक प्रथम काव्य जिसका नाम है 'मतुल होसेन' (हुसेन की मृत्यु) चटगाँव के मुहम्मद खाँ का लिखा मिलता है। जंगनामा-विषयक काव्य-रचयिताओं में चटगाँव के नसरुल्ला खाँ तथा मन्सूर का नाम भी उल्लेखनीय है। १७२३ में हयात महमूद ने इसी विषय पर 'मरहम पर्व'[१] लिखा। इसने १७३२ में फारसी हितोपदेश को बँगला में रूपान्तरित किया। १७५३ में इस्लाम की धार्मिक शिक्षा के लिए 'हित ज्ञानवाणी' लिखी। १७५८ में लिखी आम्बिया वाणी (पैगम्बरों के वचन)।

अब यहाँ मुसलमान कवियों और उनकी कृतियों की एक सूची दी जाती है, जिससे इनके कृतित्व का ज्ञान सहज ही हो सकता है।

१७ वीं शती

नासिर महमूद	पद	राधाकृष्ण-विषयक
सैयद मुर्तजा (मर्तुजा)	पद	राधाकृष्ण-विषयक तथा ज्ञानसागर, ध्यान-माला आदि।
सैयद सुल्तान	पद	ज्ञानप्रदीप, सबे-मेयाराज, नबी-वंश
आली रजा	पद	
आलाओल	पद	भी लिखे। अन्य कृतियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है।
दौलत काजी		कृतियों का उल्लेख हो चुका है।
शेख फैजुल्ला		नाथ-संप्रदाय की कृतियाँ (गोरक्षविनय)
सैयद जाफर		काली-साहित्य लिखा।
शेख चाँद		रसूलविजय
मुहम्मद खाँ		मक़तल हुसेन
शाह मुहम्मद सागिर		युसुफ जुलेखा
अब्दुलनबी		अमीर हमजा

१. स्पष्ट है कि 'पर्व' शब्द महाभारत से लिया गया है।

१८ वीं शती के पूर्वार्ध में

गरीबुल्ला	जंगनामा (अमीर हमजा का रूपान्तर) यूसुफ जुलेखा (जामी की फारसी रचना के आधार पर)
सैयद हमज़ा	१. मधुमालती (एक लोक-कहानी) २. जंगनामा का दूसरा हिस्सा (१७९२–९४) ३. जैगुनेर पुथी (हनीफा के जंगनामा का रूपान्तर) १७९७ ४. हातिमताई किस्सा (१८०४)
अब्दुल मतीन	इस्लाम नबी केच्छा (हरिश्चन्द्र और दाता कर्ण का प्रभाव है)।
अब्दुल रहमान	सुरज्जमाल (बेहुला की लोककथा का प्रभाव है)

प्राचीन बँगला काव्य का यह लेखा-जोखा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अखिल भारतीय साहित्य की परंपरा में बँगला के प्राचीन साहित्य ने अपना गौरवपूर्ण स्थान सुरक्षित रखा है। संस्कृत की उच्चतम उद्भावनाओं का आदर करते हुए भी इसने स्थानीय बंगाली परंपराओं को क्षुब्ध नहीं होने दिया और प्रत्येक धार्मिक प्रवृत्ति के साहित्य पर अपनी अक्षुण्ण छाप डाली है, चाहे वह शैव हो, वैष्णव हो या शाक्त। आधुनिक युग में बँगला साहित्य की उपलब्धि और भी अधिक श्लाघनीय है।

अध्याय ५

आधुनिक युग

आधुनिक युग का आरंभ सन् १८००[1] से माना जा सकता है। नये युग के प्रवर्तन के कारण कई थे। किन्तु इन समस्त कारणों का आधारभूत था पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता के साहित्य से घनिष्ठ संपर्क तथा उसका प्रभाव। यों तो पश्चिम की कितनी ही जातियाँ औद्योगिक क्रान्ति से उत्प्रेरित होकर भारत में आयीं। ये लोग व्यापार करने आये थे, पर धीरे-धीरे भारतीय फूट का लाभ उठाकर यहाँ की राजनीति में पड़ने लगे और यहाँ के राजा बनने का प्रयत्न करने लगे। इन प्रयत्नों में सम्मिलित होनेवाले विविध पाश्चात्य लोगों में से अंग्रेजों का सितारा बुलंद हुआ। वे धीरे-धीरे भारत के राजा बन गये और पाश्चात्य सभ्यता, साहित्य और संस्कृति का प्रभाव एवं प्रसाद अंग्रेज जाति और अंग्रेज जाति की भाषा अंग्रेजी के द्वारा पड़ा।

अंग्रेजों का बंगाल से सीधा सम्पर्क सन् १६९० ई० के लगभग[2] से ही स्थापित हो गया था। १७७० के लगभग तक यह संबंध इतना गहरा हो चला था कि बंगाली भाषा सीखने के प्रयत्न भी अंग्रेजों ने आरम्भ कर दिये थे। १७७८ में हालहैड का बँगला व्याकरण निकला। एक नया युग ही आरंभ हो गया। इन प्रभावों के विस्तार में योग देनेवाले तत्त्व ये थे--

१. अंग्रेजी शिक्षा का आरंभ। अंग्रेजी शासन में स्थान पाने के लिए अंग्रेजी ज्ञान की अनिवार्यता।

१. १८८० में फोर्ट विलियम कालेज स्थापित हुआ, इसी वर्ष श्रीरामपुर में मिशनरी प्रेस स्थापित हुआ।

२. इसी वर्ष ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उस छोटे से गाँव पर अधिकार किया जो बाद में 'कलकत्ता' कहलाया।

२. ईसाई धर्म के प्रचारकों के प्रयत्न ;
३. प्रेस का आरंभ ;
४. पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन।

इन तत्त्वों से एक परिणाम यह निकला कि 'पद्य' का स्थान 'गद्य' ने ले लिया। 'गद्य' के माध्यम से कितने ही नये साहित्य-रूपों का विकास हुआ।

ऊपर के अध्याय में बताया जा चुका है कि पुरानी और नवीन साहित्यिक चेतनाओं के संधि-स्तंभ थे ईश्वर गुप्त। इनमें काव्य की प्रवृत्तियाँ प्राचीन शैली की पोषक थीं, अतः इन्हें प्राचीन परंपरा का अंतिम कवि कहा जा सकता है। उधर पत्रकार-कला का आरंभ इनसे हुआ और बंकिम जैसी नयी प्रतिभाओं को प्रोत्साहन देकर नया युग लाने का आरंभिक प्रबल प्रयत्न इन्हीं ने किया। ईश्वर गुप्त को एक प्रकार से बँगला भाषा का भारतेन्दु कह सकते हैं। कवि से अधिक पत्रकार के रूप में ही इनका महत्व है। ईश्वर गुप्त के उद्योग से नये-नये साहित्य-रूपों के बीज बोये गये और अंकुरित हुए। ये नये साहित्य-रूप थे—

१. नाटक
२. उपन्यास
३. कहानी
४. निबंध
५. जीवनी
६. यात्रा-वर्णन आदि।

इन सभी का इतिहास यहाँ हमें संक्षेप में प्रस्तुत करना है।

अध्याय ६

नाटक

बंगाल में नाटकों के जन्म का सामान्य इतिहास वही है जो संस्कृत भाषा के नाटकों के जन्म का है क्योंकि बंगाल में भी नाटक साहित्य का आरंभ संस्कृत की रचनाओं और उनके अनुवादों से हुआ। विद्वानों का मत है कि बंगाल में सबसे पहला नाटक बंगाल के शासक 'आदिशूर' के राज्यकाल में लिखा गया। आदिशूर ने राजसूय यज्ञ किया था। उस यज्ञ के लिए कन्नौज और भट्ट नारायण से वह पाँच ब्राह्मणों को लाया था। इन्हीं में से एक ने 'वेणीसंहार' नाटक लिखा था। दूसरा नाटक था महाकवि जयदेव का संस्कृत नाटक 'प्रसन्न राघव'। यह भी माना जा सकता है कि जयदेव के गीत-गोविंद, चंडीदास के कृष्णकीर्तन तथा विद्यापति के पदों में गेय तत्त्व के साथ नाटकीय तत्त्व भी विद्यमान था। इस प्रकार जयदेव की संस्कृत भाषागत सांगीत-प्रवृत्ति, चंडीदास और विद्यापति में लोकभाषा के माध्यम से ललित संगीत और नाट्य अथवा नाटकीय तत्त्व को समन्वित कर सकी। यहीं जयदेव के साथ हमें दो नाटकीय प्रवृत्तियों का स्पष्ट पता चल जाता है। एक संस्कृत की शास्त्रीय शैली के नाटकों की परंपरा के 'प्रसन्नराघव' की शैली ; दूसरी 'गीतगोविंद' की 'गेय-नाट्य' शैली।

संस्कृत की शास्त्रीय शैली अवरुद्ध हो चली थी, पर गेय शैली लोक में मान्य हुई। गेय परंपरा का संबंध गीत-गोविंद के समय से पूर्व भी कृष्ण-वृत्त से रहा। गेय शैली के नाटकों का लोक-भाषा-विषयक रूप बंगाल में 'जात्रा' कहलाया। जात्रा के संबंध में ऊपर भी कहा जा चुका है। पर यहाँ इस बात को स्पष्ट करना है कि बँगला जात्रा के इतिहास में यह जात्रा किस प्रकार धर्म का पल्ला पकड़कर चली, बाद में किस प्रकार यह सामान्य भूमि पर आयी, इसमें कितने रूप विकसित हुए और किस प्रकार यह धीरे-धीरे

पाश्चात्य रंगमंच की होड़ के लिए चली और फिर उसी में विलीन होकर आधुनिक नाटकों के विकास को प्रेरणा दे सकी ?

यों तो अनुसंधाताओं को वैदिक संवादों में और उनके गँवारू अश्लील आवरण में जात्रा के बीज दिखाई पड़ते हैं। 'ललित विस्तर' में भगवान् बुद्ध को नाटक देखने का शौकीन बताया गया है। दिये गये विवरण से प्रतीत होता है कि वे शास्त्रीय नाटक नहीं हो सकते ; यात्रा के रूप के ही होंगे। लोक-रंगमंच का अस्तित्व सदा ही रहा है, नाट्य-शास्त्र में जो कितने ही भेदोपभेद दिये गये हैं, वे यह स्पष्ट करते हैं कि स्वयं शास्त्र ने कितने ही रूप लोकरंगमंच से लिये। बंगाल में इसी लोकरंगमंच ने जात्रा नाम धारण किया। यों तो यह यात्रा संबंधी रंगमंच चैतन्य महाप्रभु द्वारा किये गये वैष्णव-नवोत्थान से बहुत पूर्व से ही बंगाल में चला आ रहा होगा, पर महाप्रभु के द्वारा इसे बहुत प्रोत्साहन मिला। उनके समय से जात्रा में कृष्णवृत्त प्रधान हो गया। किन्तु विदित होता है कि 'कृष्णवृत्त' के अतिरिक्त अन्य लोकदेवी-देवताओं से संबंधित वृत्त भी चैतन्य से पूर्व जात्राओं के विषय होते थे। चैतन्यपूर्व नवद्वीप में किन वृत्तों की प्रधानता थी, इसका उल्लेख वृन्दावनदास ने 'चैतन्य भागवत' में किया है—

दंभ करि **विषहरि** पूजे कोन जन।
वासुलि पूजये केह नाना उपहारे,
मद्यमांस दिया केह यज्ञ पूजा करे।
निरवधि नृत्य गीत वाद्य कोलाहल,
ना सुने कृष्णेर नाम परम मंगल।[१]

१. कोई कोई जन विषहरि (मनसा) की पूजा दंभ पूर्वक करते हैं
कोई कोई नाना उपहारों से वासुली (चंडी) देवी की पूजा करते हैं
कोई कोई मद्य मांस द्वारा यक्ष की पूजा करते हैं
निरतंर नृत्य गान और बाजों का कोलाहल होता है
परम मंगल कृष्ण का नाम कहीं नहीं सुनाई पड़ता ।

मनसा (विषहरि) या वासुलि (चंडी) के नृत्य-गीत प्रचलित थे। अतः अनुमान किया जा सकता है कि चैतन्य-पूर्व यात्राओं के मुख्य विषय भी 'चंडी' और 'मनसा' के वृत्त ही होंगे। किन्तु ऊपर जयदेव, चंडीदास और विद्यापति की परंपरा से यह भी संकेत किया जा चुका है कि कृष्णवृत्त की यात्रा-परंपरा भी चैतन्य से पूर्व ही आरंभ हुई। चैतन्य महाप्रभु के कारण और उनके व्यक्तित्व की दिव्यता से कृष्ण-यात्राएँ प्रमुख हो चलीं, उनमें एक नवोन्मेष आ गया। चैतन्य महाप्रभु के भावोन्माद के भावों और अनुभावों की प्रत्यक्ष अनुभूतियों को राधा-कृष्ण में उतार दिया गया।

चैतन्य महाप्रभु स्वयं भी हरिलीला-विषयक 'यात्रा' किया करते थे, इसका रोचक विस्तृत वृत्तान्त 'चैतन्य भागवत' में ही मिलता है। एक कृष्णलीला में चैतन्य महाप्रभु स्वयं रुक्मिणी बने थे। हरिदास बने थे कोतवाल, श्रीवश पंडित बने थे नारद, नित्यानंद बने बरई या दूती। यह यात्रा चन्द्रशेखर के घर में हुई थी और समस्त प्रबंध किया था बुद्धिमंत खाँ ने। यह १५०७ ई० की बात है।

विदित होता है कि आगे चलकर महाप्रभु ने 'लीला' खेलना बंद कर दिया था। जो भी हो, चैतन्य महाप्रभु के समय में कृष्ण-यात्रा में नये प्राण आ गये। ये यात्राएँ और भी अधिक लोकप्रिय हो गयीं।

हमें यात्राओं के विकास की स्थितियों के अनुसार यात्राओं के कई प्रकार देखने को मिलते हैं। जैसे—

यात्रा-प्रकार

(१)	(२)	(३)	(४)
यात्रा (चंडी, मनसा या शिवविषयक)	कालियदमन या कृष्णयात्रा	सखेर यात्रा (विद्यासुंदर-विषयक)	अपाया

हम देखते हैं कि यात्रा और कालियदमन तक यात्राओं के विषय थे धार्मिक। इन यात्राओं में खोल, नूपुर और करताल का उपयोग किया जाता था। महाजनी (वैष्णव) पद गाये जाते थे, जो टप्पा राग में होते थे।

सखेर यात्राओं से इन सबमें परिवर्तन आ गया। विषय धार्मिक नहीं रहे। विद्या-सुंदर[1] या नल-दमयंती की प्रेमगाथाएँ इनका मुख्य विषय था और भावना थी लोकरंजन की। ढोलक, तबला और घुँघरू उपयोग में आने लगे थे। नये-नये गीत, नये राग के साथ इनमें दिये गये। स्पष्ट है कि इन पर कविवाल्ला वर्ग के कवियों का भी प्रभाव पड़ा।

अब अंग्रेज लोग कलकत्ते में जम गये थे। कलकत्ता पनपने लगा था। अंग्रेजी थियेटर कलकत्ते में स्थापित हो चुका था। उसका प्रभाव इन यात्राओं पर पड़ने लगा। इन यात्राओं में थियेटर की शैली की नकल की जाने लगी और अन्त में ये नये रंगमंच के लिए लिखे गये नाटकों के समक्ष हारकर समाप्त हो गयीं।

कलकत्ता में पहला अंग्रेजी रंगमंच १७५६ में स्थापित हुआ। १७७५ में 'कलकत्ता थियेटर' बना। १७८० के बाद से इसमें कई अंग्रेजी खेल खेले गये। १७९५ का वर्ष बँगला नाटकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस वर्ष हेरासीम लेबेडफ नाम के एक रूसी व्यक्ति ने एक अंग्रेजी ढंग का रंगमंच स्थापित किया, जिसपर बंगला में लिखा 'छद्मवेश' नामक नाटक खेला गया। यह नाटक अंग्रेजी के 'डिसगाइज़' नामक नाटक का बँगला रूपान्तर था। यह २७ नवम्बर, १७९५ को खेला गया। एक और अंग्रेजी नाटक के बँगला अनुवाद के अभिनय के बाद यह प्रयत्न समाप्त हो गया। १८३३ में शाम-

१. हम यह पहले ही देख चुके हैं कि 'विद्या-सुन्दर' का संबंध भी 'कालिका' देवी से कर दिया गया था। 'सुन्दर' देवी की कृपा से ही भूमिगर्भस्थ गुफा विद्या के महल तक खोद सका था। श्मशान में फाँसी के समय देवी की कृपा से ही सुन्दर मृत्यु से बचा और देवी के कहने से ही विद्या का उसके साथ विवाह किया गया। इस प्रकार कालिका का संबंध स्थापित किया गया है। फिर भी विद्या-सुन्दर की प्रेमकथा ने देवीकथा को गौण कर दिया और यात्राओं में शुद्ध मानवीय प्रेम के रोमांस की ही प्रधानता हो गयी। इस प्रकार धर्म के अत्यन्त सूक्ष्म सूत्र को लेकर विद्यासुन्दर चला और बाद में वह सूत्र भी उससे विच्छिन्न हो गया।

बाजार में नवीनचन्द्र वसु के भवन में उन्हीं के प्रयत्न और व्यय से 'विद्यासुंदर' नाटक खेला गया। यह भारतचन्द्र के अन्नदामंगल के 'विद्यासुंदर' से लिया गया था, उसे नाटकीय रूप दे दिया गया था। यह बँगला भाषा का पहला नाटक था जो बंगाली स्त्री-पुरुष पात्रों द्वारा खेला गया। किन्तु इसे बँगला का मौलिक प्रथम नाटक नहीं माना गया, क्योंकि यह भारतचन्द्र के विद्यासुंदर पर निर्भर था। इसमें नाटक के नवोन्मेषों का पता नहीं था। इस दृष्टि से बाबू ताराचरण सीकदार का नाटक 'भद्रार्जुन' उल्लेखनीय है। यह महाभारत के सुभद्राहरण की घटना पर रचा गया था। यह सन् १८५२ में प्रकाशित हुआ। इसकी विशेषता इसके लेखक की भूमिका से विदित होती है। उसने बताया है—

"यह नाटक नयी शैली में लिखा गया है। यह यूरोपियन नाटकों के अनुकरण पर लिखा गया है। मैंने नांदी, सूत्रधार, नटी, विदूषक जैसे पात्रों को स्थान नहीं दिया।"

इसमें कथोपकथन गद्य में हैं, जिसके बीच-बीच में तुक-युक्त शेर जहाँ-तहाँ दिये गये हैं। इस प्रकार नयी शैली में लिखा जानेवाला यह पहला बँगला नाटक है और नयी शैली की प्रवृत्ति की दृष्टि से माइकेल मधुसूदन दत्त का यथार्थ पूर्वगामी है। इस नव क्रम के प्रवर्त्तन का श्रेय दत्त को नहीं; इन्हीं सीकदार को देना होगा। किन्तु इसे भी बँगला का यथार्थ प्रथम नाटक नहीं माना जाता। यह भाव और विषय की दृष्टि से नवोन्मेष से युक्त नहीं था,[1] यह संभवतः कभी खेला भी नहीं गया।

१. एक विद्वान् का कहना है कि इसे 'नाटक' नाम देना भी क्या उपयुक्त है? नाटकीय कर्म की अपेक्षा कथा-तत्त्व और काव्य की इसमें प्रमुखता है। स्वयं ताराचंद ने इसी नाटक की भूमिका में ऐसी प्रमुखता की निन्दा की है। पर स्वयं उनका ही नाटक कथात्मकता और काव्यत्व से आदि से अन्त तक ओत-प्रोत है। इसके पात्र पयार और त्रिपदी छंदों में कविता में बातें करते हैं। गद्य में बातचीत का अभाव है। चरित्रांकन में भी ये दक्ष नहीं, आदि। (द बंगाली ड्रामा, पृ० ५२-५३)

प्रथम आधुनिक मौलिक बँगला नाटक होने का श्रेय दिया गया है पंडित रामनारायण तर्करत्न लिखित नाटक 'कुलीन-कुलसर्वस्व' को। इसका कथानक नितान्त मौलिक है, किसी प्रचलित कहानी या कथा से नहीं लिया गया। विषय नितान्त आधुनिक, यथार्थ स्थिति का दिग्दर्शक, मानवी सहानुभूति से ओत-प्रोत तथा चरित्र-चित्रण के प्रयास से युक्त है। यह १८५६ में खेला गया था। यह प्रथम मौलिक बँगला नाटक है जो रंगमंच पर खेला गया। इस दृष्टि से यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाटक है। 'कुलीन-कुलसर्वस्व' नाटक में कुलीनता की सामयिक समस्या[1] का दिग्दर्शन कराया गया था। इन सब दृष्टियों से 'कुलीन-कुलसर्वस्व' को ही बँगला नाटक का यथार्थ अग्रगामी माना जाता है।

वस्तुतः 'कुलीन कुलसर्वस्व' के द्वारा पं० रामनारायण तर्करत्न का उदय हुआ, और इनके उदय से रंगमंचीय बँगला नाटकों की एक परंपरा चल पड़ी, जिसके फलस्वरूप यथार्थ आधुनिक युगीन बँगला नाटकों में उच्च प्रतिभाएँ प्रकट हुई, और बँगला भाषा का रंगमंच भी अस्थायी मनोरंजनकारी व्यसन मात्र से ऊपर उठकर व्यवसायी और स्थायी होता चला गया।

तर्करत्न महोदय ने 'कुलीन-कुलसर्वस्व' नाटक श्रीयुत कालीचरण राय चौधरी नाम के जमींदार द्वारा घोषित पचास रुपये के पुरस्कार की प्रेरणा से लिखा था। यह नाटक सन् १८५४ में प्रकाशित हुआ था। उक्त पुरस्कार श्रीयुत कालीचरण राय चौधरी द्वारा दिया गया था। इसी वर्ष २३ दिसंबर के 'भास्कर' नामक पत्र के अंक में लिखा था कि हमें 'कुलीन-कुलसर्वस्व'

१. बंगाल के एक शासक बल्लाल सेन ने कुलीन प्रथा को जन्म दिया था। यह कुलीन प्रथा बंगाली समाज के लिए एक विकराल दानवी बन गयी। कुलीनत्व के कारण कभी-कभी एक आदमी, बहुधा वृद्ध पचास-साठ क्या सौ तक विवाह कर लेता था, और इन पत्नियों की उम्र दस वर्ष से ६० वर्ष तक की हो सकती थी। इन सभी की एक ही लग्न में शादी होती थी। कुलीन पति को दहेज से मतलब रहता था। प्रत्येक पत्नी से दहेज प्राप्त कर लेने के उपरान्त जीवन में वह दुबारा अपनी पत्नी के पास नहीं आता था।

ो एक प्रति मिली है। यह नया नाटक हिन्दू मैट्रोपोलिटन कॉलेज के वरिष्ठ ोफेसर पं० रामनारायण तर्करत्न ने लिखा है। पाठकों को स्मरण होगा क तर्करत्न महोदय को इस नाटक की रचना करने के उपलक्ष्य में उदार मीदार श्रील श्रीयुत कालीचरण राय चौधरी द्वारा ५० रु० का पुरस्कार मला था। राय चौधरी महोदय ने यह नाटक तर्करत्न को ही दे दिया, ही प्रकाशित हुआ है। यह नाटक मार्च १८५७ में चुर्रक डाँगा स्ट्रीट लकत्ता के बाबू जयराम व्यसक के प्रयत्नों से उन्हीं के घर में खेला गया ा। इनका दूसरा नाटक पाँच सौ रुपये के पुरस्कार के लिए लिखा गया ा, इसका नाम था 'नव नाटक'। किन्तु इन दोनों नाटकों से अधिक महत्त्व ेना होगा इनके नाटक 'रत्नावली' को। 'नव नाटक' और 'रत्नावली' े पूर्व 'विद्यातोषिणी रंगमंच' का उल्लेख करना आवश्यक है। इस रंगमंच ी स्थापना काली प्रसन्न ने की। इस पर प्रथम नाटक 'वेणीसंहार' खेला गया ११ अप्रैल, १८५७ शनिवार को। भट्ट नारायण के संस्कृत नाटक वेणीसंहार से यह अनुवाद उन्हीं तर्करत्न महोदय ने किया था। यह सफल तो हुआ, पर कुछ दोष रह गये। तब कालीप्रसन्न सिंह ने स्वयं संस्कृत नाटक 'विक्रमोर्वशी' का स्वतंत्र रूपांतर किया और उसे खेला। इसे अद्वितीय सफलता मिली। इसके अनंतर कालीप्रसन्न सिंह ने 'सावित्री-सत्यवान्' नाम का नाटक लिखा १८५८ में। फिर १८५९ में लिखा 'मालतीमाधव'। ये सभी नाटक नये रंगमंच की दृष्टि से लिखे गये थे, अतः स्थायी रंगमंच से पूर्व की एक कड़ी के रूप में कालीप्रसन्न सिंह को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ३ दिसम्बर १८५७ को 'हिन्दू पैट्रियट' पत्र ने कालीप्रसन्न सिंह के नाटक विक्रमोर्वशी के अभिनय की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए अन्त में लिखा था कि "समस्त उत्कृष्टताओं के रहते हुए भी विद्योत्साहिनी थियेटर एक व्यक्तिगत संस्थान है, इसका अस्तित्व भी समय का संकेत करता है। नाटक का अभ्यास निश्चय ही प्रशंसनीय है। किन्तु हम जो चाहते हैं वह यह है स्थायी रूप की सार्वजनिक संस्था हो। इस पत्र ने ऐसे एक रंगमंच की स्थापना के लिए अपना पूर्ण सहयोग देने का वचन दिया था।

१० जनवरी १८५७ को आशुतोष देव के मकान पर 'शकुन्तला' नाटक

का अभिनय हुआ। इस अभिनय की समाप्ति पर महाराजा यतीन्द्रमोहन ने राजा ईश्वरचन्द्र सिंह से कहा कि अस्थायी रंगमंच पर एक-दो दिन के लिए बहुत रुपया व्यय करना पड़ता है। अतः एक स्थायी रंगमंच बन जाना चाहिए। पायकपाड़ा के राजा ईश्वरचन्द्र सिंह ने अपने बड़े भाई राजा प्रतापचन्द्र से सलाह करके बेलगाछिया में एक स्थायी रंगमंच बनवा दिया। इस रंगमंच पर खेलने के लिए प्रथम नाटक लिखने का आग्रह पं० रामनारायण तर्करत्न से किया गया। तर्करत्न महोदय ने इसके लिए नये विषय को नहीं चुना, श्रीहर्ष की 'रत्नावली' को बँगला में प्रस्तुत किया। यह नाटक ३१ जुलाई, १८५८ को 'बेलगाछिया थियेटर' नाम के इस स्थायी रंगमंच पर खेला गया। इसे अभूतपूर्व सफलता मिली। तीसरे-चौथे दिन के अभिनयों में राजाओं ने अंग्रेज अफसरों को भी निमंत्रित किया। इनके लिए 'रत्नावली' का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कराया गया। यह अनुवाद मधुसूदन दत्त से कराया गया। इस अनुवाद की प्रशंसा से मधुसूदन दत्त को बहुत प्रोत्साहन मिला।

इस प्रकार पं० रामनारायण तर्करत्न ने न केवल बँगला का प्रथम रंगमंचीय नाटक ही लिखा, वरन् इनका संबंध प्रथम स्थायी रंगमंच पर खेले जानेवाले प्रथम नाटक से भी हुआ। पं० रामनारायण और इनके प्रशंसक पायकपाड़ा के राजाओं को प्रथम बँगला नाटक और स्थायी रंगमंच देने का श्रेय है। माइकेल मधुसूदन दत्त ने एक स्थान पर लिखा है कि "भारत में यदि नाटक की पुनः प्रतिष्ठा होती है तो आगामी संतति इन दो भले सज्जनों (पायकपाड़ा के राजाओं)को कभी नहीं भूलेगी। ये हमारे उदीयमान राष्ट्रीय रंगमंच के सबसे आरंभिक मित्रों में से हैं।"

रामनारायण तर्करत्न की 'रत्नावली' के प्रभाव से और साथ ही उसकी प्रतिक्रिया में और भी अच्छा नाटक देने की दृष्टि से माइकेल मधुसूदन दत्त ने 'शर्मिष्ठा' नाम का नाटक लिखा। यह नाटक ३ सितम्बर, १८५९ को 'बेलगाछिया' रंगमंच पर खेला गया। यह अत्यन्त सफल रहा। 'शर्मिष्ठा' नाटक ने माइकेल को बँगला में साहित्य-रचना करने की ओर प्रवृत्त कर दिया और उनकी प्रतिभा को चमकने का अवसर दिया। शर्मिष्ठा के

उपरांत मधुसूदन दत्त ने 'पद्मावती' और 'कृष्णकुमारी नाटक' भी लिखे। दो 'परिहास' नाटक भी इन्होंने लिखे। ये थे 'एकेइ कि बले सभ्यता!' तथा 'बड़ो शालिकेर घाड़े रोम'।

मधुसूदन दत्त को पश्चिमी साहित्य पर अतुल श्रद्धा थी। शर्मिष्ठा नाटक में उन्होंने कुछ विदेशी वातावरण की संभावना बतायी थी। श्री गौरदास बासक को एक पत्र में इन्होंने लिखा था—"फिर भी स्मरण रहे कि मैं अपने देश के उस भाग के लिए लिख रहा हूँ, जो उसी तरह सोचता है जिस प्रकार कि मैं, जिसका मस्तिष्क कम-बढ़ पाश्चात्य विचारों और विचार प्रणाली में रँग चुका है।" वस्तुत: केवल कुछ शास्त्रीय विधानों को छोड़ शर्मिष्ठा में श्री हर्ष की रत्नावली का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। शर्मिष्ठा की वस्तु भी पौराणिक है, और स्त्री-चरित्र भारतीय भावना से दूर नहीं। कथा-विधान और परिणाम श्रीहर्ष की रत्नावली के समान है। 'शर्मिष्ठा' से मधुसूदन दत्त बँगला के प्रथम कोटि के लेखक माने गये।[१] पद्मावती नाटक में नाटककार ने स्वयं बताया कि प्रथम अंक में उसने 'सुवर्ण सेव' वाली यूनानी कथा को भारतीय बनाकर प्रस्तुत किया है। सचमुच कुछ पात्रों और उनके संबंध-विधान में यूनानी झलक मिल जाती है, पर यह साम्य बहुत ऊपरी है। इस नाटक की आत्मा पूर्णत: भारतीय है और संपूर्ण नाट्य-परिपाक 'शकुन्तला' से और लौकिक देवताओं की मंगल-परंपरा में वर्णित विधियों से प्रभावित है। रतिदेवी धर्मठाकुर की तरह अपने कृपा-पात्र की सहायता हर संकट के समय करती है। पद्मावती में स्त्री के भारतीय आदर्श का पूर्ण चित्रण हुआ है। 'शर्मिष्ठा' की भाषा को ऊँची भाषा कहकर सर्वसाधारण के लिए अग्राह्य बताया गया था। 'पद्मावती' में लेखक ने सामान्य भूमि पर आना चाहा तो महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने लिखा कि 'शैली स्वच्छ और ग्राम्य

१. स्वयं मधुसूदन दत्त ने लिखा है—"This Sarmistha has very nearly put me at the head of all Bengali writers. People talk of its poetry with rapture."

—माइकेल मधुसूदन दत्तेर जीवनचरित—पृष्ठ १६।

(संभवतः कहीं-कहीं कुछ विशेष अधिक) है।' 'कृष्णकुमारी' ऐतिहासिक विषादान्त नाटक है, जो चित्तौड़ की राजकुमारी कृष्णा के विषपान से संबंधित है। बाद के दो नाटकों में अतुकान्त कविता का आग्रह विशेष दिखाई पड़ता है।

मधुसूदन दत्त के परिहास-नाटकों में भी भारतीय जीवन की आत्मा प्रतिध्वनित हुई है। दोनों में जीवन के यथार्थ चित्र दिये गये हैं। एक में तो पाश्चात्य सभ्यता के बुरे अनुकरण पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे में भारतीय पाखंडियों का पर्दाफाश किया गया है। स्पष्ट है कि पाश्चात्य प्रकाश में भारतीय समाज के प्रति जो सुधारवादी दृष्टिकोण उदित हुआ था, मधुसूदन दत्त में उसी दृष्टिकोण की बौद्धिकता की प्रबल अभिव्यक्ति है।

किसी-किसी विद्वान् ने मधुसूदन दत्त को बंगाली परिहास-नाटकों का प्रथम उच्च लेखक माना है। मधुसूदन दत्त मुख्यतः कवि हैं, पर उनके काव्य का विकास नाटक-विषयक इन सफलताओं के उपरांत ही हुआ। नाटकरचना में भी देश के गौरव का ध्यान मधुसूदन दत्त में हमें विद्यमान मिलता है। वे आधुनिक भारतीय नाटक का स्तर भी ऊँचा देखना चाहते थे। 'शर्मिष्ठा' के प्रास्ताविक गीत की रचना मधुसूदन ने ही की थी, उसमें भारत माँ से 'प्रार्थना' की गयी है कि वह बँगला में उच्च नाटकों के लिए श्रेष्ठ रुचि उत्पन्न करे।[1]

१. वह गीत यों है—

मरि हाय कोथा से सुखेर समय।
जे समय देशमय नाट्यरस
सविशेष छिल रसमय।
सोन गो भारत भूमि
कत निद्रा जावे तुमि।
आर निद्रा उचित ना हय।
उठ त्यज घूमघोर, हइला हइला भोर,
दिनकर प्राचीते उदय।

बेलगाछिया रंगमंच की सफलता ने और स्थानों के लोगों को भी उत्साहित किया और कई जगहों पर नये-नये रंगमंच खड़े हुए। इनमें से एक पर बंगाल के प्रसिद्ध समाज-सुधारक नेता केशवचन्द्र सेन के संचालन में 'विधवा-विवाह' नाटक खेला गया। इसे उस समय बहुत प्रशंसा मिली। यह बाबू उमेशचन्द्र मित्र का लिखा हुआ था। किन्तु 'पूर्ववंग रंगभूमि' ढाका ने एक और युगप्रवर्त्तक नाटककार दिया। इनका नाम था दीनबंधु मित्र। इनका

कोथाय वाल्मीकि व्यास, कोथा तब कालिदास।
कोथा भवभूति महोदय।
अलीक कुनाटच रंगे, मजे लोक राढे वंगे।
निरखिया प्राणे नाहि सय।
सुधारस अनादरे, विषवारी पाण करे
ताहे हय तनु, मन क्षय।
मधु कहे जागो मा गो, विभुस्थाने एइ मागो।
सुरसे प्रवृत्त हाक तब तनयनिचय।

वह सुख का समय कहाँ खो गया ? जिस समय सारा देश नाट्यरस में रसमग्न था। हे भारत भूमि! सुनो—तुम कब तक सोती रहोगी ? और न सोओ। और अधिक सोना उचित न होगा। उठो और नींद को त्याग दो क्योंकि सुबह हो रहा है, सूर्योदय हो गया है।

वाल्मीकि, व्यास कहाँ हैं ? तुम्हारे कालिदास कहाँ हैं ? भवभूति महाशय कहाँ गये ? राढ और वंग देश के लोग लोक-विरुद्ध और कुनाटच के रंग में रँग चुके हैं। यह अवस्था देखकर मन को सहन नहीं होता। यहाँ सुधारस का अनादर होता है और मनुष्य विष का पान करते हैं, जिससे मन और शरीर दोनों का क्षय हो रहा है। कविवर मधुसूदन कहते हैं कि हे माँ, तुम जाग जाओ। मैं तो तुमसे यही वर माँगूंगा कि तुम्हारी संतान सुरस में प्रवृत्त हो।

पहला नाटक था 'नीलदर्पण'। १८६० में प्रकाशित यह राष्ट्रीय नाटक था। इस नाटक ने बंगाल में तो तूफान खड़ा कर ही दिया था, भारत के अन्य भाग भी इससे प्रभावित हुए बिना न रहे। इसमें नील बनाने की कोठियों के अंगरेजी बाबुओं के अत्याचारों के रोमांचक चित्रण थे। बंकिमचन्द्र चटर्जी ने 'नीलदर्पण' के संबंध में लिखा था--"नीलदर्पण में लेखक के अनुभव और सहानुभूति पूरी तरह एक-दूसरे में मिल गये हैं, और इनके सभी नाटकों में यही सबसे अधिक शक्तिशाली था।" इस नये प्रयोग ने बँगला नाटक को सामाजिक भूमि से उठाकर राजनीतिक भूमि पर पहुँचा दिया। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से भी यह नाटक निम्न कोटि का नहीं था। इसके उपरांत इस महान् नाटककार की लेखनी से ये नाटक और प्रसूत हुए—

'सधवार एकादशी,' 'नवीन तपस्विनी,' 'कमले कामिनी' (१८७३), 'बिए पागला बुड़ो' (विवाह के लिए पागल वृद्ध, १८६६) तथा 'जामाई बारिक' (१८७२)।

वस्तुतः बेलगाछिया थियेटर के पिछड़ जाने पर महात्मा यतीन्द्रमोहन टैगोर ने 'पथुरियाघाट रंगमंच' अपने यहाँ स्थापित किया। इस रंगमंच पर इन्होंने अपना ही अनूदित नाटक 'मालविकाग्निमित्र' खेला १८६५ में। इसी रंगमंच पर विद्यासुंदर नाटक नये रूप में प्रस्तुत किया गया। महाराज के लिए 'येमन कर्म तेमनि फल' '(१८६५)' बूझले कि ना (१८६६ दिसंबर) तथा 'उभय संकट' नाटक तथा परिहास खेले गये। इनके यहाँ प्रवेश में पूरी कड़ाई बरती जाती थी।

जोरासाँको में टैगोर घराने ने भी एक नाटक-संस्था स्थापित की। रवीन्द्रनाथ के बड़े भाई ज्योतिरीन्द्रनाथ ने २०० रुपये का एक पुरस्कार घोषित किया बहु विवाह विषयक नाटक पर। इन्हीं के लिए पं० रामनारायण तर्करत्न ने 'नव नाटक' लिखा। पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने भी इस नाटक की प्रशंसा की। यह नाटक टैगोर घराने के जोरासाँको रंगमंच पर ५ जनवरी, १८६७ को अत्यन्त सफलतापूर्वक खेला गया। तर्करत्न के नाटक पर पुरस्कार बढ़ाकर ५०० रुपये कर दिया गया था।

बऊ बाजार में पथुरियाघाट के रंगमंच के कुछ अनुभवी अभिनेताओं ने एक रंगमंच स्थापित किया। इस रंगमंच ने हमें नाटककार बाबू मनोमोहन बोस दिया। मनोमोहन बोस कविवाल्ला और अर्ध अखाड़ियों के लिए कविता या गीत लिखा करते थे। इनका प्रथम नाटक 'रामाभिषेक नाटक' १८६८ ई० के आरंभ में बऊ बाजार रंगमंच पर खेला गया।[१] मनोमोहन का दूसरा नाटक 'सती नाटक' १८७२ में खेला गया। १८७४ दिसम्बर में इन्होंने 'हरिश्चन्द्र' नामक नाटक लिखा। १८७० में इनका एक नाटक 'प्रणय परीक्षा' प्रकाशित हुआ। मनोमोहन पौराणिक नाटक लिखने में दक्ष थे। 'पार्थ विजय' तथा 'आनंदमय' नामक इनके दो और नाटक १८८५ तथा १८८६ में निकले। एक संगीत नाटक 'रासलीला' भी इन्होंने १८८९ में लिखा।

अब तक के इन सब नाटकीय प्रदर्शनों का संबंध निजी रंगमंचों से रहा था। इनमें से अधिकांश रंगमंच राजाओं और अमीर घरानों के थे। इन रंगमंचों के मालिक प्रवेश-टिकट बहुधा अपने वर्ग के लोगों और इष्ट-मित्रों को देते थे। ये निःशुल्क होते थे। सार्वजनिक रंगमंच की आवश्यकता लोग अनुभव कर रहे थे। इन बड़े आदमियों के रंगमंच के दरबान या प्रहरी नाटक के दर्शकों के साथ दुर्व्यवहार भी कर बैठते थे। ऐसे ही दुर्व्यवहार के शिकार बने एक गिरीशचन्द्र घोष नाम के व्यक्ति। ये सामान्य व्यक्ति नहीं थे, ये एक होनहार युवक थे। इस युवक ने संकल्प किया कि वह एक सार्वजनिक रंगमंच स्थापित करेगा और टैगोरों को पछाड़ेगा। गिरीशचन्द्र घोष से बंगाली नाटक साहित्य में एक नये युग का आरंभ हुआ। गिरीशचन्द्र के पास धनाभाव था। उन्होंने प्रयास का आरंभ एक छोटी 'यात्रा' जैसी मंडली से किया जो बागबाजार में स्थापित की गयी। इसमें सबसे पहले १८६७ में मधुसूदन दत्त का 'शर्मिष्ठा' नाटक खेला गया। इसका संगीत स्वयं गिरीशचन्द्र

१. **मनोमोहन बोस ने यह नाटक १८६७ में अपनी एक नवीन 'यात्रा-मंडली' के लिए लिखा था। १८६७ में यह नाटक ऐसी ही यात्रा-मंडलियों द्वारा खेला भी गया था।**

न बनाया था। यह बहुत सफल रहा। गिरीशचन्द्र को इससे बहुत प्रोत्साहन मिला। गिरीशचन्द्र अब एक स्थायी रंगमंच बनाने की फिक्र में लगे। इन्होंने 'नीलदर्पण' के यशस्वी नाटककार दीनबन्धु के एक नये नाटक 'सधवार एकादशी' को खेलने के लिए चुना और इसके लिए बागबाजार अमेच्योर थियेटर की स्थापना १८६८ में की।

'सधवार एकादशी' में दीनबंधु महोदय ने संस्कृत नाट्यशास्त्र की भाँति प्रस्तावना का अथवा सूत्रधार और नटी का समावेश नहीं किया। न यात्राओं की तरह इसमें संगीत की ही प्रधानता थी। गिरीश बाबू ने अपनी ओर से नटी और सूत्रधार का अंश बनाकर जोड़ा तथा कई गीत भी बनाकर जोड़े। इस प्रकार इस नाटक को सब दृष्टियों से लोक-प्रिय बनाया गया। यह पहले-पहल १८६८ ई० में दुर्गापूजा के अवसर पर खेला गया। गिरीशचन्द्र की इस मंडली ने बड़े परिश्रम से एक स्थायी रंगमंच बनवाया और इसका नाम रखा गया 'नेशनल थियेटर'। इसमें १८७१ में दीनबंधु रचित 'लीलावती' नाटक खेला गया। नेशनल थियेटर का यश बढ़ा। अब गिरीश के अन्य साथियों ने निश्चय किया कि शुल्क लेकर दर्शकों को नाटक दिखाया जाय। गिरीश अभी शुल्क लेने के पक्ष में नहीं थे। इस मतभेद के कारण गिरीश 'नेशनल थियेटर' से अलग हो गये। शुल्क लेकर नेशनल थियेटर ने 'नील दर्पण' दिखाया। इस प्रकार यह नेशनल थियेटर पहला थियेटर है जो एक प्रकार से व्यावसायिक रंगमंच के रूप में पनपने लगा। गिरीशचन्द्र घोष के युग में अनेक रंगमंच खड़े हुए। इन रंगमंचों के लिए नाटक लिखने वाले नये-नये नाटककार भी सामने आये। पर इन सबमें सबसे अधिक देन गिरीश बाबू की ही थी। अब तक वे अन्य नाटककारों के नाटकों में कुछ गीत लिखकर जोड़ देते थे, अभिनय की दृष्टि से कुछ परिवर्तन कर देते थे, पर अब वे स्वयं भी नाटक लिखने में प्रवृत्त हुए। नाटक लिखने का नियमित क्रम उस समय से चला, जिस समय से कि ये 'ग्रेट नेशनल थियेटर' के वैतनिक प्रबंधक नियुक्त हुए। इन्होंने सभी शैलियों में लगभग ८० नाटक लिखे।

गिरीशचन्द्र का महत्त्व बँगला रंगमंच तथा बँगला नाटक साहित्य में अद्वितीय है। इन्होंने ही रंगमंच को उच्च धनिक वर्ग के क्षेत्र से निकाल-

कर सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाया।[१] स्त्री पात्रों को भी रंगमंच पर स्थायी स्थान इन्हींके द्वारा दिलाया गया। इन्होंने अपने अभिनय के द्वारा रंगमंच की कला को बहुत ऊँचे स्थान पर पहुँचा दिया। अभिनेता और नाटककार का व्यक्तित्व भी इन्होंने एक कर दिया।

नाटक साहित्य की दृष्टि से इनकी देन का महत्त्व और भी अधिक है। सभी क्षेत्रों से इन्होंने अपने विषय लिये, यहाँ तक कि आधुनिकतम या सम-सामयिक घटनाओं को भी लेने में हिचक नहीं की। भारत गौरव, राष्ट्रीय भावना, चरित्र-निर्माण तथा धार्मिकता से इनके नाटक ओत-प्रोत हैं। यथार्थ और कल्पना की रंगीनियों तथा आदर्श-प्रतिष्ठा का संगम इनकी कृतियों में हुआ है। उच्च भावों के परिपाक में इनकी भाषा और शैली समर्थ है।

इसमें सन्देह नहीं कि इनके नाटकों में यात्रा-परंपरा के अवशेष के रूप में संगीत की प्रमुखता भी मिलती है। संगीत में ही नहीं, कहीं-कहीं पात्रों के सवादों में भी नीचे स्तर की झलक मिल जाती है।

गिरीश निस्संदेह एक महान् नाटककार हैं। इनके नाटक हृदय को स्पर्श करनेवाले हैं। इन सब कारणों से गिरीशचन्द्र स्वयं एक युग बन गये, केवल युग-निर्माता ही नहीं रहे।

इनके युग के कुछ और नाटककार भी उल्लेखनीय हैं। इनमें से एक तो इन्हीं की निजी मंडली के थे। इनका नाम है अमृतलाल वसु। अमृतलाल वसु को बँगला रंगमंच का अद्वितीय परिहास-अभिनेता माना जाता है, पर ये अच्छे नाटककार भी थे। इनके ये नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं—

'बाबू,' 'विवाह-विभ्राट,' 'खास दखल,' 'नब यौवन,' 'शाबास बंगाली,' 'बाहबा बोतिक,' 'विलाप' (ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की मृत्यु पर)।

उपेन्द्रनाथ दास निर्देशक ही नहीं नाटककार भी थे। इनके 'शरत-सरोजिनी' नामक नाटक की प्रशंसा बहुत रही।। गिरीशचन्द्र के युग तक हमें यात्रा का सूत्र आता मिलता है। स्वयं गिरीश ने पहले यात्रा-मंडली

१. इनके युग में कुछ यश-प्राप्त अभिनेत्रियों के नाम ये हैं—
सुकुमारी दत्त तथा तारा सुन्दरी।

बनायी, तदनंतर रंगमंच पर आये। यात्रा और कविवाल्ला मंडलों की सी रुचि भी रचनाओं में दीख जाती है। बहुधा परिहास नाटक तो यात्रा या कविवाल्ला के स्तर तक उतर जाते थे। हाँ, गिरीश तथा अर्धेन्दुशेखर मुस्तफी जैसी प्रतिभाओं के अभिनय के कारण वे परिहास इतने अखरते नहीं थे।

बँगला नाटक-साहित्य की दृढ़ नींव डालनेवाले गिरीश घोष के युग के उपरांत नया युग आया, उसे 'द्विजेन्द्रलाल राय का युग' कह सकते हैं।

गिरीशचन्द्र घोष का युग पाश्चात्य संस्कृति तथा भाषाओं के प्रभाव के आरंभ का युग था। अंग्रेजी संस्कृति और अंग्रेजी भाषा का प्रभाव विशेष पड़ रहा था। मधुसूदन दत्त में पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण करने का आग्रह था। पर बंगाल किसी भी प्रभाव को अंध बनकर नहीं ग्रहण करता। इस प्रभाव के हामी होते हुए भी स्वयं मधुसूदन दत्त ने अंधानुकरण का तीव्र मजाक उड़ाया था। फिर भी अंग्रेजी प्रभाव और पाश्चात्य राजनीतिक तथा ऐतिहासिक घटनाएँ भारत पर गहरे से गहरा प्रभाव डाल रहे थे। इस प्रभाव का एक परिणाम तो यह था कि हम पाश्चात्य साहित्य से आये नये रूपों, नये भावों और नये जीवनादर्शों को ग्रहण कर रहे थे। उनसे उत्प्रेरित हो हम अपने प्राचीन संकुचित सामाजिक तत्त्वों और परंपराओं से संघर्ष कर रहे थे, उन्हें त्याग रहे थे, और नयी जीवन-पद्धतियों को ग्रहण करते जा रहे थे। किन्तु इस समस्त नवचेतना के द्वारा हम अपने स्वरूप को उज्ज्वल बनाने के प्रयत्न में ही संलग्न थे। फलतः भारतीय साहित्य और भारतीय संस्कृति के गौरव को भी उसी मनोयोग से समझने के प्रयत्न कर रहे थे। गिरीश घोष के युग में भी इस प्रकार की नव व्याख्या के उद्योग पूरी तरह हुए। उसी युग में १८५७ का विद्रोह हुआ। वह दबा दिया गया। तब उसके उपरांत भारत की मेधाएँ और गहरी तैयारी से उठने के उद्योग में लगीं। इस उद्योग का परिणाम था 'स्वदेशी आन्दोलन'।

इस युग के जन-नेताओं में राजा राममोहन राय ने भारतीय आत्मा के स्वरूप को समझा, पाश्चात्य प्रवृत्तियों के साथ उस आत्मा का सामंजस्य करके उन्होंने 'ब्राह्म सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया। इस सामंजस्य का सिद्धान्त यही था कि भारतीय उच्च अध्यात्म को क्षुब्ध नहीं होने देना चाहिए। केशव-

चन्द्र सेन सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के नेता थे। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने शिक्षा और समाज के क्षेत्र में नेतृत्व ग्रहण किया। इन नेताओं के द्वारा शिक्षा, समाज, धर्म, अध्यात्म आदि भूमियों पर नयी चेतना जगायी गयी। इस चेतना ने बार-बार लौट-लौटकर भारतीय मेधावियों (Indian intellectuals) को यह आस्था दी कि भारत वस्तुतः महान् है। भारतीयता के प्रति अनुराग बढ़ा। बंकिमचन्द्र चटर्जी तथा भूदेव मुखर्जी का प्रबल साहित्य भाव और विचारों में उत्क्रान्ति कर रहा था।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी सामाजिक तथा धार्मिक आचारों के संस्कार में लगे हुए थे। वे भी जीवन को भारतीय अध्यात्म की उच्च पवित्रता से परिपूर्ण करना चाहते थे। उन्हींकी सहायता से नवगोपाल ने 'नेशनल पेपर' भी निकाला और इन्हीं नवगोपाल ने १८६५ में 'स्वदेशी मेला' लगवाया। कुछ आगे चलकर राजनारायण वसु ने 'जातीय गौरव संचारिणी सभा' की स्थापना करायी। राजनारायण जी के 'हिन्दू धर्मी श्रेष्ठता' विषयक व्याख्यान की उस काल में बहुत धूम रही। १८८१ ई० में इन समस्त बिखरे हुए राष्ट्रीय प्रयत्नों का फल यह हुआ कि प्रमुख शिक्षित बंगालियों ने कलकत्ते में 'इंडियन एसोशियन' स्थापित किया। इसी संस्था के नेताओं ने एक 'नेशनल कांग्रेस' की स्थापना का सुझाव दिया। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने २७ मई १८८२ के 'बंगाली' के अंक में इस सुझाव की पुष्टि की। १८८३ में कलकत्ते में भारत भर के प्रमुख नेताओं का सम्मेलन हुआ और फलतः 'नेशनल कांग्रेस' का जन्म हो ही गया। इस प्रकार भारत के बुद्धिजीवी भारत, भारतीयता और स्वदेशी के पोषक बन रहे थे। उधर पत्रों ने भी इनकी सहायता की और इनके संदेशों को जनता में अधिकाधिक फैलाया। भारतीयता की भावना ने विदेशी और देशी के बीच की खाई को और चौड़ा कर दिया। विदेशीपन बहुत अधिक खलने लगा।

इस समय दो ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ और घटीं। एक थी रूस-जापान के युद्ध में जापान की विजय। दूसरी थी बंगाल का विभाजन। जापान की विजय भारत को हीनता-भाव को दूर करने में सहायक हुई। उसे नैराश्य में आशा की प्रबल झलक दिखाई पड़ने लगी। इन भावनाओं

को और अधिक प्रबल करने और भड़काने में १९०४ के बंगाल-विभाजन के प्रस्ताव ने अद्भुत काम किया। बंगाली जन-जन के हृदय में आग धधक उठी। इससे स्वदेशी आन्दोलन की लहर एक ओर से दूसरे छोर तक फैल गयी।

इस राष्ट्रीय चेतना को जागरित करने में नाटक और रंगमंच का भाग भी अभूतपूर्व था। 'नील दर्पण' से बंगला रंगमंच पर राष्ट्रीय नाटकों का आरंभ माना जा सकता है। 'नील दर्पण' में निलहे गोरों का अत्याचार दिखाया गया था। नील-कोठी के साहब मिस्टर रोग (Rogue) की एक भारतीय बालिका पर बलात्कार की चेष्टा का दृश्य अत्यन्त लोमहर्षक था। इस नाटक का प्रभाव जनता पर पड़ रहा था। लखनऊ में उक्त बलात्कार का दृश्य दिखाने के समय झगड़ा तक हो गया था। कुछ यूरोपियन दर्शक अत्यन्त क्रुद्ध होकर उस 'तोराप' बने अभिनेता पर झपटे थे, जिसने मिस्टर रोग के घूँसा और लात मारा था। इस घटना के बाद 'द ग्रेट नेशनल थियेटर' को मजिस्ट्रेट ने कलकत्ते लौट जाने का आदेश दिया। यह सन् १८७५ की बात है।[1] १८७३ में 'भारतमातार विलाप' 'हिन्दू मेला' में खेला गया था। इसमें भारत की दुर्दशा का चित्र अंकित किया गया था। उसका भाग्य उसे छोड़कर समुद्रतट की रानी के पास चला गया था। उसकी संतान भूखी-प्यासी तड़प रही थी और अंग्रेज उसे विद्रोही बता रहे थे।

भारत की इस दुर्दशा ने दर्शकों को रुला दिया था। इसके उपरांत 'पुरु विक्रम' (लेखक ज्योतिरीन्द्रनाथ), 'भारते यवन' तथा 'वंगेर सुखवासन' देश-प्रेम की भावना से ओतप्रोत नाटक बने। 'पुरु विक्रम' में पुरु और सिकंदर के युद्ध का वर्णन था। 'पुरु विक्रम' में भारत के गौरव का स्मरण था, भार-

१. 'नील दर्पण' का उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह दीनबन्धु का लिखा हुआ था और १८७२ में बंगाल में पहले-पहल खेला गया था। इसके उपरान्त बंगाल में यह नाटक और भी कई बार खेला गया। तब १८७५ में 'द ग्रेट नेशनल थियटर' देहली, मथुरा, वृन्दावन, लखनऊ आदि स्थानों पर नाटक दिखाने के लिए गया था।

तीयों को एक हो जाने का आह्वान था, शत्रुओं से निर्भय होने की प्रेरणा थी और स्वतंत्रता को जीवन-सार समझने का संदेश था। 'भारते यवन' में पृथ्वीराज के पराक्रम का और 'बंगेर सुखवासन' में बख्त्यार खिलजी के आक्रमण का वर्णन था। 'नील दर्पण' में विदेशियों के द्वारा देश-निवासियों के सुख, संपत्ति और इज्जत-आबरू पर हमला दिखाया गया था। 'पुरु विक्रम' आदि में 'भारत' की कल्पना से संपूर्ण राष्ट्र को संबोधन किया गया था। 'हीरक चूर्ण नाटक' अमृतलाल वसु का लिखा हुआ था, यह मल्हार राव गायकवाड़ के राज्य-निष्कासन से संबंधित था। 'सरोजनी नाटक' ज्योतिरीन्द्रनाथ की लेखनी का था और चित्तौड़ पर अलाउद्दीन के आक्रमण की वटना पर आधारित था। ऐसे नाटकों से विदेशी आक्रामकों के प्रति ही नहीं विदेशियों के प्रति भी भावनाएँ उभरने लगी थीं। नाटकों का प्रभाव बहुत गहरा होता जा रहा था।

१८७६ में प्रिंस आफ वेल्स (सप्तम एडवर्ड) बंगाल में आये और एक प्रतिष्ठित रईस जगदानंद मुखर्जी के घर के जनानखाने में उनकी स्त्रियों द्वारा भी उनका स्वागत-सत्कार किया गया। इससे बंगाली समाज में तहलका मच गया। पत्रों में जगदानंद पर व्यंग्य लिखे गये और इसी घटना को लेकर उपेन्द्रनाथ ने एक परिहास नाटक 'गजदानंद' लिखा। यह सरोजनी नाटक के साथ १८७६ में खेला गया। यह परिहास नाटक नाम बदल-बदलकर कई बार खेला गया। गजदानंद के इस खेल ने जगदानंद को समाज में मुख दिखाने लायक नहीं रखा। तब सरकार ने एक आर्डिनेंस या अध्यादेश से इन नाटकों को रोका। यह सरकारी हस्तक्षेप पहले-पहल नाटकों के लिए ही हुआ। फिर तो सरकार ने एक रंगमंच विषयक कानून ही बना डालने का निश्चय कर लिया। रंगमंच के द्वारा बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना को रोकने के लिए ही यह कानून बनाया गया था और इस कानन का पहला शिकार था 'सुरेन्द्र-विनोदिनी' नाटक। यह १ मार्च १८७६ को खेला गया था। इसके संचालक आदि गिरफ्तार कर लिये गये। 'नील दर्पण', 'चाकर दर्पण नाटक' तथा 'सुरेन्द्र-विनोदिनी' जैसे नाटकों में किसी न किसी अंग्रेज या यूरोपियन पदाधिकारी के द्वारा किसी भारतीय सुन्दरी के प्रति कामुक बलात्कार का दृश्य दिखाया गया था।

कानून ने 'सुरेन्द्रविनोदिनी' को अश्लीलता के अपराध पर कानून का शिकार बनाया था। किन्तु यह स्पष्ट था कि यह समस्त कुचक्र था राष्ट्रीयता को रोकने के लिए ही। पर रंगमंच, इन बाधाओं के रहते भी गिरीश के 'शिराजुद्दौला' तथा 'मीरकासिम' जैसे राष्ट्रीय भावों से ओतप्रोत नाटकों को दिखाने से नहीं हिचका। इसी प्रकार गिरीश का 'छत्रपति शिवाजी' तथा पं० क्षीरोदप्रसाद विद्या-विनोद के 'पलासीर प्रायश्चित्त' तथा 'नन्द-कुमार' भी खेले गये। इस अपूर्ण तथा अत्यंत संक्षिप्त विवरण से भी यह समझा जा सकता है कि बंगाल में राष्ट्रीय नाटकों से एक अनोखी राष्ट्रीय भावना तीव्र रूप में उद्दीप्त हो उठी थी, इससे सरकार भी अत्यन्त परेशान हो रही थी। उसे कानून की शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार नाटकीय क्षेत्र ने १९०५ के 'स्वदेशी आन्दोलन' के लिए प्रत्येक बंगाली को मन से पूर्णतः तैयार कर दिया था। बस, सुरेन्द्रनाथ का प्रस्ताव विदेशी वस्त्र बहिष्कारार्थ रखा गया कि वह आन्दोलन के रूप में उग्रतापूर्वक चल पड़ा।

इसी स्वदेशी और भारतीय राष्ट्रीयता की भावना के परिपाक के अवसर पर द्विजेन्द्रलाल राय अवतीर्ण हुए। 'नील दर्पण' और 'भारतमातार विलाप' से प्रकट होनेवाली स्फुट-अस्फुट पीड़न, दासत्व, विवशता की भावनाएँ इस युग में अब एक उद्देश्य से युक्त हो उठी थीं। फलतः द्विजेन्द्र के नाटकों में ऐति-हासिक पात्र अपने युग की घटनाओं के द्वारा इस युग की भारतीय समस्याओं के समाधान में व्यस्त प्रतीत होते हैं। उनके इतिहास के अतीत में भारत का वर्तमान मूर्तिमान् हो उठा है।

द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक बंगाल की सीमाओं को पार कर अन्य क्षेत्रों में भी प्रिय हुए और उन्हें अपने युग का आदर्श नाटककार माना गया। हिन्दी क्षेत्र पर तो राय के नाटकों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

नाटक-क्षेत्र में राय का प्रथम प्रयोग 'कल्कि-अवतार'[1] शीर्षक एक परिहास (फार्स) नाटक था। यह वस्तुतः हिन्दुओं पर और उनके देवी-देवताओं पर

१. प्रकाशन काल १८९५।

करारा व्यंग्य था। १९०१ तक प्रकाशित उनके 'विरह'[1] तथा 'त्र्यह्य स्पर्श'[2] भी परिहासात्मक थे। 'पाषाणी' १९०१ में प्रकाशित हुआ। ये खेले नहीं गये। इनका पहला नाटक जो खेला गया वह 'प्रायश्चित्त'[3] था।

इनका प्रथम गंभीर नाटक था 'राणा प्रताप'। इसमें इनके देश-प्रेम और राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति हुई। यह स्वदेशी आन्दोलन के समय में ही लिखा गया था। यों यह गिरीश घोष के ऐतिहासिक नाटकों की परंपरा में था, पर नाटक-साहित्य की दृष्टि से उस परंपरा में एक महत्त्वपूर्ण उच्च स्थान उपलब्ध करनेवाला था।

द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में विकास की दृष्टि से हमें चार मंजिलें दिखाई पड़ती हैं——

१. आरंभिक	१९०१ तक सामाजिक परिहास।		
२. द्वितीय	१९१० तक	ऐतिहासिक	१९०६ तक राष्ट्रीय,
		मुगलकालीन	१९१०तक राष्ट्रीय मनो-वैज्ञानिक।
३. तृतीय	१९११ तक	बौद्ध युगीन	व्यक्तित्व प्रधान।
४. चतुर्थ	१९१२	सामाजिक	समस्या प्रधान।

द्वितीय स्थिति के नाटकों में 'राणा प्रताप' तथा 'वीर दुर्गादास' है। इन में भावानुप्राणित वीर पुरुष हैं जो परतंत्रता से उबरने के लिए जूझते हैं। इन्हींमें यह प्रकट होता है कि भारत की स्वतंत्रता तभी आ सकती है, जब उसका सामाजिक सुधार हो जायगा और उसमें ऐक्य होगा। तृतीय स्थिति में 'नूरजहाँ,' 'मेवाड़पतन' तथा 'शाहजहाँ' आते हैं।

'नरजहाँ' से नाटककार नाटक की कला की ओर विशेष उन्मुख हुआ है। इसके लिए उसने मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की प्रणाली अपनायी। यह प्रणाली 'शाहजहाँ' में पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँची। शाहजहाँ में हमें मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण का ही पूर्ण विकास नहीं मिलता, यहाँ 'व्यक्तित्व' का दर्शन भी झलक उठता है। 'शाहजहाँ' में एक हलकी झलक व्यक्तित्व की भी मिलती है।

१. रचनाकाल १८९७ ई०।

२. प्रकाशन काल १९००।

३. यह 'बहुत अच्छा' नाम से खेला गया था।

इस मंजिल में नाटककार राष्ट्रीय भावना के साथ मानवता को गूँथता मिलता है और इसे ही अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि द्विजेन्द्र की दृष्टि में हिन्दुत्व की निर्मल और उदार भूमि पर ही मानवता के विकास की संभावना है।

तृतीय मंजिल में एक ही नाटक है, 'चन्द्रगुप्त'। यह व्यक्तित्व प्रधान हो उठा है। चाणक्य का व्यक्तित्व मनोविज्ञान की सामान्य नहीं, विशिष्ट भूमि से व्युत्पन्न होता है। चाणक्य सामान्य मानव नहीं, वह परा-मानव है। वस्तुत: द्विजेन्द्र की कला का चरमोत्कर्ष इसी नाटक में मिलता है।

अंतिम मंजिल में द्विजेन्द्र का अंतिम नाटक 'पर पारे' (उस पार), आता है। यह सामाजिक नाटक है, जिसमें भारतीय समाज की विविध समस्याओं को, विविध क्षेत्रीय प्रेम के संघर्षों को तथा कर्तव्य और प्रेमके संघर्ष को नाटककार ने उभारकर रखा है। यथार्थ की भूमि पर चरित्र और घटनाओं को प्रस्तुत कर इस जीवन की सीमा के 'उस पार' किसी विराट मातृत्व के दर्शन में नाटक का पर्यवसान नाटककार ने किया है।

द्विजेन्द्रलाल राय की नाटक-कला ने इतिहास के अतीत को पुनरुज्जीवन दिया और उसमें अपने वर्तमान को गूँथ दिया एक ऐतिहासिक तारतम्य दिखाने के लिए नहीं, वरन् संस्कृति के पावन उपादानों में से आध्यात्मिक ऐक्य को दिखाने के लिए। इस भूमि पर पुरुष और नारी के विविध धर्मों का विकास भी उन्होंने दिखाया, और उन मलिन संकुचित सामाजिक बंधनों की कदर्थता सिद्ध की जो मानवता के विकास में बाधा डालते हैं।

द्विजेन्द्र के उपरांत क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद का यशस्वी नाटककारों में नाम लिया जा सकता है। क्षीरोद प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों में द्विजेन्द्र-लाल की परंपरा को आगे बढ़ाया। पौराणिक नाटकों में भी इन्हें पूर्ण सफलता मिली। इनके नाटक चार कोटियों में रखे जा सकते हैं--

नाटक

रोमांचक	ऐतिहासिक	पौराणिक	धार्मिक
विनोद	१. फूलशय्या (पृथ्वीराज राठौर संबंधी)	१. सावित्री	१. दौलते दुनिया
अलीबाबा		२. भीष्म	२. प्रमोद रंजन

२. आहेरिया (राजपूतों
के आखेट पर)
३. बाँगलार मसनद–
(मुर्शिदाबाद के नवाब के
सिंहासन-च्युत होने पर)
४. आलमगीर (औरंगजेब
के अन्तिम दिन)
५. पद्मिनी—(चित्तौड़ की)
६. चाँद बीबी (दक्षिण की)
७. बंगे राठौर (राठौरों द्वारा
बंगाल पर आक्रमण विषयक)

इस संक्षिप्त विवरण से एक बात तो यह स्पष्ट विदित होती है कि नाटक का संबंध यात्रा के सूत्र से नितान्त विच्छिन्न हो गया। द्विजेन्द्र राय का यात्रा-वालों से कोई भी कैसा भी संबंध नहीं रहा था। दूसरी बात यह भी विदित होती है कि द्विजेन्द्र–पूर्व के नाटक सामयिक घटनाओं का भी सीधा आधार ग्रहण कर लेते थे और ऐतिहासिक हों या सामाजिक, किसी न किसी युग की विशेषता की ओर काफी स्थूल रूप में संकेत करते थे। भावुकता का अंश बहुत था। द्विजेन्द्र बाबू के नाटक समय की घटनाओं के आधार पर नहीं, समय की आत्मा के आधार पर रचे गये थे। अधिकांश का संबंध किसी न किसी प्रकार के शौर्य और वीरत्व से था। मानवता का हलका सौन्दर्य इनमें झलका। द्विजेन्द्र का संबंध व्यावसायिक रंगमंच से पूरी तरह रहा।

रवीन्द्र-युग–

किन्तु बँगला नाटक ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के हाथों एक नया मोड़ ग्रहण किया। रवीन्द्र का संबंध आदि से अन्त तक कभी व्यावसायिक रंगमंच से नहीं रहा। इनके नाटक खेले सभी गये, पर इनके दर्शक सामान्य जन नहीं हो सकते थे। एक विशेष मानसिक संस्कृतिवाले ही इनका वास्तविक आनन्द ले सकते थे। इनके नाटक द्विजेन्द्र से भी अधिक मानवता के सौन्दर्य की अनुभूति से

मुखारित होने लगे। एक जीवन-दर्शन और जीवन-देवता की प्रतिष्ठा इनमें रहने लगी। एक काव्यात्मकता और रहस्य से ये अनुप्राणित हो उठे।

इनके नाटकों के विकास में हमें ये भूमियाँ मिलती हैं—

आरंभिक	वाल्मीकि-प्रतिमा	संगीत नाटक	वाल्मीकि विषयक
	काल-मृगया	,,	महाभारत से (धृतराष्ट्रके अंधे होने के शाप-विषयक
आरंभिक का प्रथम विकास	मायार खेला	नाटक सूत्री संगीतिका	कल्पना प्रसूत (प्रेम कथा)
	प्रकृतिर प्रतिशोध (१८८३)	नाटकीय काव्य (अतुकान्त)	कल्पना प्रसूत (साधु वैराग्यसे वह वस्तु न पा सका जो प्रेम की एक झलक से पा सका।[१])
	राजा ओ रानी (१८९०)		संभवतः राजतरंगिणी से।
	विसर्जन		काली पर बलिदान करने का विरोधी[२]।
	मालिनी		प्रेम और क्षमा की मूर्ति मालिनी।

१. **स्वयम् कवीन्द्र ने इस नाटक के संबंध में कहा था**—"He has discovered that" the great is to be found in the small, the infinite within the bounds of form and the enternal freedom of the soul in love. It is only in the light of love that all limits are merged in the limitless. (My Reminiscence pp. 238-239)

२. **श्री ई० जे० टामसन् का मत है कि यह बँगला साहित्य का सबसे महान् नाटक है। (रवीन्द्रनाथ, पृष्ठ २५)**

	चित्रा (१८९२)	गीतिनाट्य (अतुकान्त)	महाभारत से (अर्जुन चित्रांगदा विषयक[1])
आरंभिक का द्वितीय विकास (१८९३–१९०४)	विदाय विलाप	तुकयुक्त संवाद एकांकी	महाभारत से, कच-देवयानी का कथानक।
	गांधारीर प्रार्थना	,,	महाभारत से।
	लक्ष्मीर परीक्षा	,,	लक्ष्मी की कृपा से एक दासी रानी बनी, फिर मद से दासी बन गयी।
	कर्ण ओ कुन्ती	,,	महाभारत से।
परिपाक (रहस्यवादी दर्शन)—			
(१९०५)	शारदोत्सव (१९०८)	प्रतीक नाटक	शरत के रूपक से। जीवन में पीड़ा-भोग का सौन्दर्य।
	राजा (१९१०)	रहस्यवादी नाटक, उच्च दार्शनिकता	एक ऐसा राजा जो अपने को एक अँधेरे कक्ष में गुप्त रखता है।
	अचलायतन	—	नयी आत्मा का प्राचीन रूढियों से विद्रोह।
	डाकघर	—	एक रुग्ण और गृह-सीमाबद्ध बालक द्वारा राजा से पत्र पाने की कल्पना विषयक उड़ान।

१. पी० गुहा ठाकुर्ता महोदय ने लिखा है कि "यदि टैगोर की सौन्दर्य-भावना की आत्मा किसी नाटक में है, तो वह इसी चित्र में है।"

(The Bengali Drama. पृ० १९१)

		रहस्यमय अज्ञात के पाने के लिए तड़प ।
फाल्गुणी (१९१६)	संगीत–ऊहानाटक (Phantasy)	यौवन वृद्ध पुरुष को खोजता है । वृद्धता तो-अस्तित्वहीन है । अनन्त यौवन का संदेश ।
रक्त करबी[1] (१९२४)	संगीत ऊहानाटक	अचलायतन और राजा की परंपरा का आगे का चरण । मशीनवाद द्वारा यौवन की हत्या का रूपक ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नाटकीय प्रतिभा के कुछ नाटकों के आधार पर ऊपर उनकी नाटकीय कला के विकास का जो संकेत मिलता है, उससे स्पष्ट है कि रवीन्द्र प्रथमतः महान् कवि हैं। उन्होंने मानव जीवन के अन्तराल का दर्शन किया और एक रहस्य के पर्दे के पीछे के सत्य को पकड़कर खुले जगत के मूर्त अस्तित्व में प्रवेश पा, उसे यथार्थ सौन्दर्य, यौवन और प्रेम के जीवन-देवता के रूप में उद्घाटित कर दिया है । उच्चाति-उच्च काव्यात्मक ऊहा को जिस कला से दृश्य बनाया गया है और अनोखे मनोजगत् के उस सत्य को जिस कला से सौन्दर्याभिमंडित किया गया है, वह विश्व-साहित्य में भी अभिनंदनीय मानी गयी है। बँगला नाटक का विष्णु त्रिविक्रम ही रहा है। प्रथम डग भूमि पर रहा ।

गिरीशचन्द्र तक यह प्रथम डग था । दूसरा अन्तरिक्ष में, द्विजेन्द्र राय में और तीसरा रहस्य में। रवीन्द्र ही वह तीसरे विकास हैं ।

1. "Rakta Karabi (Red Orbander) represents more than any of his symbolical plays, Ravindra Nath's dramatic genius is in its fullest maturity (The Bengali Drama P. 209)

अध्याय ७

काव्य

नाटक की भाँति काव्य भी बंगला साहित्य का वह रूप है जो एक दीर्घ प्राचीन परंपरा से जुड़ा हुआ है। यह प्राचीन परंपरा नयी काव्यधारा में पर्यवसित हुई। प्राचीन युग और आधुनिक युग की संधि पर काव्य की दृष्टि से हम ईश्वरचन्द्र गुप्त को पाते हैं। ईश्वरचन्द्र गुप्त जिस समय (१८१२–१८५९) हुए थे, उस समय की कुछ झलक पहले दी जा चुकी है। साहित्य के क्षेत्र में एक ओर प्राचीन लौकिक देवी-देवता अब भी अपना आधिपत्य बनाये हुए थे। काली, चंडी, मनसा आदि पर कुछ-न-कुछ जहाँ-तहाँ लिखा ही जाता था। राधा-कृष्ण में मौलिकता का भले ही अभाव हो गया हो, कीर्तनों की रचना और उनके गायन में उत्साह की कमी नहीं थी। प्राचीन वैष्णवों की पद-प्रणाली का अनुकरण भी जहाँ-तहाँ होता ही था। निधु बाबू ने ख्याल—टप्पे की जो प्रणाली चलायी थी, उसके अपनानेवालों का भी अभाव नहीं था। कवि-वाल्लाओं की प्रतिद्वन्द्विताओं के दंगलों में लोगों को आज भी आनंद आता था। दाशरथी राय के पाँचाली शैली के गीत भी अपनी लोकप्रियता पर चढ़े हुए थे। 'विद्यासुंदर' में भारतचन्द्र ने जिस शैली और शिल्प को अपनाया था, इस युग के अधिकांश कवि उसी के भक्त थे। यात्राओं का प्रचार भी पूरा था, उसके लिए भी कविता बनानेवाले विद्यमान थे। आधुनिक युग के आरंभिक चरण (१८००–१८५०) में इन परंपराओं में जिन कवियों का कुछ विशिष्ट स्थान था वे तीन ही हैं—एक रघुनन्दन गोस्वामी जो रामरसायण[1] तथा राधामाधवोदय के रचयिता हैं। दूसरे हैं मदनमोहन तर्कालंकार, रसतरंगिणी तथा वासवदत्ता के कवि। इनकी कविताओं में शास्त्रीय संपूर्णता मिलती है, मानो कविताएँ साँचे में ढालकर रची गयी हों।

१. यह रामरसायण रामायण का स्वतन्त्र अनुकरण है।

किन्तु इन दोनों से भी महत्त्वपूर्ण है वह कवि, जिसे हमने अभी ऊपर सन्धि-काल का कवि कहा है—ईश्वरचन्द्र गुप्त[1]। संधिकाल के कारण हमें इनमें आधुनिकता का भी पुट मिलता है, पर इनकी रचनाओं में प्राधान्य प्राचीनता का ही है। भारतचन्द्र की शैली के अनुकरण में ही इनकी कविताएँ लिखी गयी हैं, पर इन्होंने सामयिक बातों और प्रश्नों को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। कविवाल्लाओं से संबंध रहने के कारण इनके बौद्धिक तत्त्वों की भूमि लोक-भूमि ही रही। पढ़ा-लिखा वर्ग नहीं, इस लोकभूमि के कारण साधारण जन भी इन्हें अपना समझते थे। इसी कारण ही ये सबसे अधिक लोकप्रिय हो गये। काव्य-रचना में भले ही इन्हें बहुत ऊँचा स्थान न दिया जाय, पर लोक-सृष्टि से अनुप्राणित इनकी रचनाएँ अपने युग के भावों को प्रतिस्पंदित करनेमें अत्यंत सफल रहीं। यही वह कवि है जिसने प्राचीन परिपाटी के भक्तिपरक और श्रृंगार-प्रधान गीत लिखने में ही लेखनी को धन्य नहीं माना, सामयिक बातों को भी कविता का विषय बनाया। समाज पर पाश्चात्य प्रभाव के रूप को देखकर उसका परिहास भी इन्हीं की कविताओं में है। इन दोनों बातों से यह स्वयमेव प्रतीत होता है कि ईश्वरचन्द्र को अपने देश के गौरव का ध्यान था। तभी पाश्चात्य को वे यों सहज ही सहन नहीं कर सके। इसी भावना का परिणाम का देशभक्ति या राष्ट्रीयता की भावना का समावेश। यह देश-प्रेम की नयी प्रेरणाप्रद भावधारा पहले ईश्वर गुप्त की कविताओं में ही झलकी। ईश्वर गुप्त ने प्राचीन के गौरव की रक्षा करते हुए, उसी दृष्टि से संशोधित नये प्रकाश की ही प्रेरणा आनेवाली पीढ़ी को भी प्रदान की। अतः वे कवि ही नहीं थे, कविनिर्माता भी थे।

इस पीढ़ी में रंगलाल वंद्योपाध्याय का नाम भी आता है। इन्होंने चार कथा-काव्य लिखे—पद्मिनी उपाख्यान, कर्मदेवी, सुर-सुंदरी तथा कांची कावेरी। इनके कथा-काव्यों के अधिकांश विषय राजपूतों के इतिहास से लिये गये हैं।

१. ऊपर हम देख चुके हैं कि ईश्वरचन्द्र प्रधानतः एक पत्रकार थे। पर इन्हें परिस्थितियों के कारण अन्य साहित्य-रूपों के भी प्रयोग करने पड़े थे।

और तब बँगला साहित्य के क्षितिज पर आधुनिक युग के एक महान् कवि का उदय हुआ। यह थे मधुसूदन दत्त। मधुसूदन दत्त महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति थे। पाश्चात्य से इन्हें बहुत प्रेम था। ये अंग्रेजी के कवि बनने की महत्त्वाकांक्षा से अभिभत थे। आरंभ में इन्होंने अंग्रेजी में ही रचनाएँ कीं, इंग्लैंड भी गये, अंग्रेज स्त्रियों से एक के बाद एक—दो विवाह भी किये। पर इनकी काव्य-प्रतिभा का आदर अंग्रेजी में हो सका। तभी, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, एक बॅगला नाटक का अंग्रेजी अनुवाद करते-करते इन्हें बँगला में ही एक अच्छा नाटक लिखने की प्रेरणा मिली। इन्होंने 'शर्मिष्ठा' लिखी, और शर्मिष्ठा के प्रकाशित होते-होते ये बँगला के हो गये। अंग्रेजी की धुन में ये बँगला प्रायः भूल ही बैठे थे, पर सरस्वती तो इनसे बँगला की ही सेवा कराना चाहती थी। तभी अनायास ही ये उस भाषा ऐसे लिखते गये जैसे उसके पूर्ण अधिकारी हों। नाटक रचना ने इन्हें बँगला का स्वाद चखाया। पर ये कवि थे और अन्त में यह समझकर कि बॅगला भाषा में महान् संभावनाएँ हैं, ये उसमें ही काव्य-रचना करने लगे। इनकी 'तिलोत्तमा' १८५९ में प्रकाशित हुई। यह इनकी प्रथम बँगला कविता है। तिलोत्तमा का संबंध प्रसिद्ध देवी-उपाख्यान से है। यह भारतीय शाक्त कथा है। स्पष्ट है कि बंगाली भावनाओं के पूर्णतः अनुकूल कथाएँ मधुसूदन ने चुनीं। सुंद-उपसुंद नाम के दो दानव भाइयों ने देवताओं को परास्त कर दिया, तब अद्वितीय सुंदरी तिलोत्तमा की सृष्टि हुई और उस पर मुग्ध सुद-उपसुंद परस्पर ईर्ष्या में कट मरे। इस भारतीय उपाख्यान में मधसूदन ने अपने पाश्चात्य पुराण-गाथा-ज्ञान का भी पूरा उपयोग किया। इस प्रकार बॅगला में सर्वथैव एक नया प्रयोग नयी प्रतिभा द्वारा संपन्न हुआ।

बँगला भाषा ने जिस चमत्कारिक ढंग से मधुसूदन दत्त को वरण किया, उससे मधुसूदन दत्त को अपनी मातृभाषा और उसकी शक्ति में आस्था हो गयी। वह अब उनकी दृष्टि में केवल गँवारू और असमर्थ भाषा थी। तभी उन्होंने लिखा था कि "मातृभाषा को सीखने और समृद्ध करने से बढ़कर कोई और बात नहीं। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि मिल्टन की वह नेक भावना कि 'वह अपनी मातृभाषा तथा निवास-भूमि के लिए कुछ कर सके,' हममें से प्रत्येक मेधावी को अनुप्राणित कर सके। यदि हममें से कोई यह चाहता हो कि

वह अपने पीछे अपना नाम छोड़ जाय और जंगली की भाँति विस्मृति के गर्भ में यों ही विलीन न हो जाय, तो उसे मातृभाषा की लगन लग जानी चाहिए । यही उसका वैध क्षेत्र है, यही उसका निजी तत्त्व है ।··· जो यह समझते हैं कि उनमें नये विचारों का स्रोत है, उन्हें उड़कर अपनी मातृभाषा के पास पहुँचना चाहिए ।···हमारी बँगला भाषा अत्यंत ही सुंदर है, यह केवल प्रतिभाओं की बाट जोह रही है, जो आकर इसे चमका दें । हममें से वे, जो बाल्यकालीन सदोष शिक्षा के कारण इसे बिल्कुल नहीं जानते और इससे घृणा करना ही जिन्होंने सीखा है, वे भयानक भूल में हैं । यह है, या और कहें तो, इसमें हैं एक महान् भाषा के तत्त्व ![1]" ये शब्द वस्तुतः स्वयंम् लेखक के ही परिताप को प्रकट करते हैं ।

माइकेल मधुसूदन दत्त को जो दूसरी बात अत्यन्त प्रिय थी, वह थी भारतीय पुराण गाथा ।[2] इसे वे विस्मृत नहीं कर सके । 'तिलोत्तमा' में भी इसी पुराण-गाथा से ली गयी सामग्री थी, और तिलोत्तमा के उपरांत उनका जो महाकाव्य अवतीर्ण हुआ, उसने न केवल इनकी काव्य-प्रतिभा की महत्ता का सिक्का ही बैठाया, वरन् भारतीय पुराण गाथा में निहित संभावनाओं का भी एक स्वरूप दिखाया । यह काव्य था 'मेघनादवध' जो इनकी सर्वश्रेष्ठ काव्य-कृति है । यों तो 'तिलोत्तमा' में भी कवि ने पाश्चात्य पुराण-गाथा की कुछ बातें समाविष्ट की थी, पर 'मेघनादवध' में उसने उन्हें प्रयत्नपूर्वक उतारा है । 'मेघनादवध' के संबंध में स्वय लेखक ने एक पत्र[3] में यह उल्लेख किया था—

"यह मेरी तीव्र इच्छा है कि यूनानी पुराण-गाथा की अनोखी सुष्ठुताओं की कलम अपनी निजी पुराण-गाथाओं में लगा दूँ । इस वर्तमान काव्य (मेघनादवध) में मैं अपनी विधायक नव निर्माण करनेवाली शक्तियों के लिए खुला क्षेत्र छोड़ दूँ और वाल्मीकि से कम से कम काम लूँ । इससे आप चौंकिए

१. गुरुदास बासक को लिखे एक पत्र से ।
२. इंडियन माइथोलोजी ।
३. यह पत्र मधुसूदन ने राजनारायण वसु नाम के अपने एक मित्र को लिखा था ।

मत। आपको काव्य के अ-हिन्दू होने की शिकायत फिर भी नहीं करनी पड़ेगी। मैं यूनानी कहानियाँ तो लूँगा नहीं, किन्तु लिखूँगा, या और कहें तो कह सकते हैं कि लिखने का प्रयत्न करूँगा, वैसे ही-जैसे कि (हमारी भारतीय गाथाओं को) यूनानियों ने लिखा होता।"

स्पष्ट है कि 'मेघनादवध' में यूनानी पुराण-गाथा की शैली का प्रभाव ग्रहण किया गया है।

कवि ने यह एक नया प्रयोग किया। पर 'मेघनाद-वध' शैली और भाव में सचमुच क्रान्तिकारी रचना सिद्ध हुई। काव्य में अमित्राक्षर छन्द का प्रचलन इसके द्वारा प्रतिष्ठित हुआ। भाव-दृष्टि से भारतीय काव्य-परंपरा जिन चरित्रों के प्रति सहानुभूति रखती आयी थी, और जिन चरित्रों को वह निंदनीय मानती आयी थी, मधुसूदन दत्त ने उनमें परिवर्तन कर दिया। कुछ भारतीय आदर्श चरित्रों के प्रति हीनता के भाव भरे तो कुछ राक्षसों के प्रति उन्नत भाव दिखाये। न कोई चरित्र देवता या अवतार रहा, न कोई चरित्र राक्षस या बन्दर-रीछ। सभी को मानवीय भूमि पर खड़ा किया और उनके कर्मों से उनके चरित्र को विकसित किया। यह सब कुछ बँगला काव्य के लिए एक दम क्रान्तिकारी था। पाश्चात्य पुराण-गाथा पूर्ण शक्ति के साथ भारतीय पुराण-गाथा में घुसी और भारतीय होकर नये रूप और नयी व्याख्या से जगमगाकर नवीन भावोन्मेष के आधुनिक युग की सर्वोच्च कृति हो बैठी। कुछ अनुदारों द्वारा 'मेघनादवध' की भारी भर्त्सना भी की गयी। पर काव्य की सशक्तता ऐसे सभी आक्रमणों को पछाड़ दिया। 'मेघनाद-वध' अपने युग का सर्वश्रेष्ठ काव्यग्रंथ ठहराया गया। इसने पारंपरिक भारत के समस्त साहित्यिक मनोभावों को नया मोड़ दे दिया।

'मेघनादवध' को लक्ष्य करके उसके विरोधियों से परमहंस रामकृष्ण देव ने कहा था —

"तुम्हारे देश में यह एक अद्भुत प्रतिभाशाली पुरुष (माइकेल मधुसूदन दत्त) उत्पन्न हुआ था। मेघनादवध-जैसा काव्य तुम्हारी वंगभाषा में तो है ही नहीं, भारतवर्ष में भी इस समय ऐसा काव्य दुर्लभ है! तुम्हारे देश में—इसी मेघनादवध काव्य को, जो वंगभाषा का मुकुटमणि है, अपदस्थ कराने के लिए

'छछूंदर-वध' काव्य लिखा गया ! ···· इस समय यही मेघनादवध काव्य हिमालय पर्वत की तरह आकाश भेद कर खड़ा है । जो लोग इसके दोष दिखाने में ही व्यस्त थे, उनके आक्षेप कहाँ उड़ गये ? जिस नूतन छन्द में और जिस ओजस्विनी भाषा में मधुसूदन अपना काव्य लिख गये हैं, उसे साधारण जन क्या समझेंगे ![1]"

मेघनादवध के उपरांत मधुसूदन का 'व्रजांगना' काव्य प्रकाश में आया । व्रजांगना शृंगार-रसपूर्ण राधा-कृष्ण विषयक एक गीत काव्य है । यह पूर्णतः भारतीय परंपरा का काव्य है ।

इसी के साथ 'वीरांगना' नामक काव्य ग्रंथ भी प्रकाश में आया । पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसका परिचय यों दिया है[2] —

'वीरांगना' काव्य को यद्यपि मधुसूदन ने 'मेघनाद-वध' इत्यादि पहले के ग्रंथों के साथ ही लिखना आरम्भ किया था, परन्तु उसकी समाप्ति उन्होंने १८६२ ई० में की । 'वीरांगना' गीति-काव्य है । प्रसिद्ध रोमन कवि ओविद (Ovid) रचित वीरपत्रावली (Heroic Epistles) को आदर्श मानकर मधुसूदन ने यह काव्य लिखा है । इसमें प्रसिद्ध पौराणिक महिलाओं के पत्र ह, अर्थात् यह पुस्तक मधुसूदन की पत्राकार काव्यरचना है । इसमें इतने पत्र अथवा विषय हैं—

१—दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला ।

२—चन्द्र के प्रति तारा ।

३—कृष्ण के प्रति रुक्मिणी ।

४—दशरथ के प्रति कैकेयी ।

५—लक्ष्मण के प्रति शूर्पणखा ।

६—अर्जुन के प्रति द्रौपदी ।

१. मेघनाद-वध, प्रकाशक साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), द्वितीया वृत्ति के निवेदन से, पृ० १३

२. मेघनाथ-वध, मू० ले० स्व० माइकेल मधुसूदनदत्त, अनु० 'मधुप', पृष्ठ ५८–५९ ।

७—दुर्योधन के प्रति भानुमती।

८—जयद्रथ के प्रति दुःशला।

९—शान्तनु के प्रति जाह्नवी।

१०—पुरूरवा के प्रति उर्वशी।

११—नीलध्वज के प्रति जना।

यही इस काव्य के ग्यारह सर्ग हैं। इनमें से कोई सर्ग प्रेमपत्रिका मय है, कोई प्रत्याख्यान-पत्रिकामय है, कोई स्मरणार्थ-पत्रिकामय है और कोई अनुयोग-पत्रिकामय है। इस पुस्तक में तारा और शूर्पणखा आदि की प्रेम-भिक्षा जैसी हृदयद्रावक है, जाह्नवी की प्रत्याख्यान-पत्रिका भी वैसी ही कठोर है। 'वीरांगना' में भी मधुसूदन की प्रतिभा का पूर्ण विकास देखा जाता है, यह काव्य भी उनके उत्कृष्ट ग्रंथों में है।

कुछ विद्वानों की राय में काव्यकला की दृष्टि से यह इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है।

सन् १८६० से १८६२ के दो वर्ष माइकेल मधुसुदन दत्त की काव्य-प्रतिभा के चरम उत्कर्ष के वर्ष थे। इस काल के चार ग्रंथों, मेघनाद-वध, व्रजांगना, कृष्ण कुमारी नाटक,[1] तथा वीरांगना में दत्त की प्रतिभा का उच्चतम उत्कर्ष समाया हुआ है।

मधुसूदन अमित्राक्षर या अतुकान्त रचना का प्रयोग अपने पद्मावती नाटक में कर चुके थे। पर इस पर लोगों का ध्यान नहीं गया। किंतु मधुसूदन दत्त "ब्लैंक वर्स" या अतुकान्त कविता के प्रबल पोषक थे। इस संबंध में महाराज यतीन्द्र मोहन ठाकुर से इनकी कुछ बहस हो गयी, जिसे आचार्य म० प्र० द्विवेदी ने इनके "जीवन चरित्र" में यों दिया है—

मधुसूदन—जब तक बँगला में अमित्राक्षर छन्दों का प्रयोग न होगा, तब तक काव्य और नाटक-ग्रन्थों की विशेष उन्नति न होगी।

महाराज—बँगला की जैसी अवस्था है उसे देखने से उसमें ऐसे छन्दों के होने की बहुत कम सम्भावना है।

१. 'कृष्णकुमारी' पर आवश्यक प्रकाश नाटकों के अन्तर्गत डाला जा चुका है।

मधुसूदन—हमारा मत आपके मत से नहीं मिलता। चेष्टा करने से हमारी भाषा में भी अमित्राक्षर छन्द लाये जा सकते हैं।

महाराज—फ्रेंच भाषा बँगला की अपेक्षा अधिक उन्नत है, उसमें ही जब ऐसे छन्द नहीं हैं, तब बंगला में उनका होना प्रायः असम्भव है।

मधुसूदन—यह सत्य है, परन्तु बँगला भाषा संस्कृत से उत्पन्न हुई है, संस्कृत में अमित्राक्षर छन्द हैं, तब वे बँगला में भी हो सकते हैं।

इस प्रकार कुछ देर तक वाद-विवाद हुआ। अन्त में मधुसूदन ने कहा—"यदि हम स्वयं एक ग्रन्थ अमित्राक्षर छन्दों में लिखकर आपको बतलायें तो आप क्या करेंगे?" इस पर महाराज ने उत्तर दिया—"यदि ऐसा होगा तो हम पराजय स्वीकार करेंगे और अमित्राक्षर छन्दों में रचित आपके ग्रन्थ को हम अपने व्यय से छपवायेंगे।" यह बात मधुसूदन ने स्वीकार की और वे अपने घर आये।"

माइकेल मधुसूदन दत्त बंगाल के ही नहीं भारत भर के एक महान् कवि हैं, प्राच्य और पाश्चात्य के संयोग से भारतीय प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट फल माइकेल मधुसूदन के काव्य में प्राप्त हुआ है।

माइकेल मधुसूदन दत्त के अतिरिक्त आधुनिक युग के इस चरण में कृष्णचन्द्र मजुमदार, विहारीलाल चक्रवर्ती, सुरेन्द्रनाथ मजुमदार, हेमचन्द्र वंद्योपाध्याय, नवीनचन्द्र सेन आदि उल्लेखनीय हैं।

इनमें से विहारीलाल चक्रवर्ती 'गीतकाव्य' लिखने में अत्यन्त दक्ष थे। इसी कारण इन्हें आधुनिक बँगला गीति-काव्य का प्रवर्तक माना जाता है। कहा जाता है कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ इन्हीं चक्रवर्ती महोदय की प्रणाली से प्रभावित थे। अपने गीतों के नये प्रयोग में इन्होंने कितने ही काव्यग्रंथ लिखे—जैसे, वंगसुन्दरी, साधेर आसन, शारदा-मंगल।

इन सबमें श्रेष्ठ हैं हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय। इनका महाकाव्य 'वृत्रसंहार' मेघनाद-वध के उपरान्त दूसरा श्रेष्ठ महाकाव्य है। इन्होंने गीतिकाव्य भी प्रचुर लिखे। ये हास-परिहास लिखने में भी सिद्धहस्त थे। हेमचन्द्र के देश-प्रेम-परिपूरित राष्ट्रीय काव्य की भी धूम रहती थी।

नवीनचन्द्र सेन के काव्य कथात्मक तत्त्व में श्रेष्ठ हैं। 'पलासीर युद्ध' इनकी कृतियों में शिरोमणि है। इन्होंने भगवान् बुद्ध पर काव्य लिखा 'अमृताभ', कृष्णाख्यान पर 'रैवतक', 'कुरुक्षेत्र' तथा 'प्रभास' लिखे। ईसा मसीह पर 'ख्रिस्ट' काव्य लिखा था।

इस युग में स्त्रियाँ भी काव्य-क्षेत्र में पीछे नहीं रहीं। तीन कवियित्रियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—'आलो ओ छाया' की लेखिका हैं 'कामिनी राय', 'कुसुमाञ्जली' की लेखिका मानकुमारी तथा 'अश्रुकण' की गिरीन्द्र-मोहिनी।

युग के सामान्य पर्यवेक्षण से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि प्राच्य-पाश्चात्य की पुराण-कथाओं के ताने-बाने मिलाकर काव्य-रचना का प्रयत्न माइकेल के उपरान्त कोई और नहीं कर सका। माइकेल को भी पाश्चात्य कथाओं को भारतीय रस में डुबाकर ही रखना पड़ा था। अमित्राक्षर या अतुकान्त काव्य के प्रयोगों को पूर्ण प्रोत्साहन मिला, और उसने पूर्ण विकास प्राप्त किया। पाश्चात्य काव्यों के आधार पर छाया-काव्य लिखे अवश्य गये, पर वे उतने लोकप्रिय न हो सके। बँगला को मौलिक प्रतिभा के आस्वादन का चस्का लग चुका था। इन प्रयत्नों से भारतीय केन्द्र में अवस्थित दृष्टि का क्षितिज विश्व-परिधि तक फैलने लगा, मानवीय उदारता, करुणा, मानवीय ढाल और मानवीय भूमि में आस्था का आरम्भ हो गया था। अंग्रेजी कवि बायरन तथा शेक्सपियर से यह युग मुग्ध हो चला था। मिल्टन को इनसे भी ऊँचा स्थान दिया जाने लगा था। इस काव्य-दृष्टि ने विश्व के स्थूल तत्त्व को तो ग्रहण कर लिया, मानवीय भावनाओं को भी प्रतिष्ठा दी, देवत्व को मानवीय भी कर दिया, पर विश्व-रूप और 'जगत्यां जगत्' को देखकर भी उसमें स्थित 'जीवन-देवता' को देखने में वह असमर्थ रही।

यहीं विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर अवतीर्ण हुए।

रवीन्द्रनाथ जिस युग की सन्तान थे वह युग उनके यशस्वी पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ, ब्राह्म धर्मप्रवर्तक राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, केशवचन्द्र सेन, माइकेल मधुसूदन दत्त, गिरीशचन्द्र घोष, रमेशचन्द्र दत्त का युग था। वह युग एक साथ भारतीय सामाजिक

विधान के प्रति श्रद्धा का और भारतीय सामाजिक विधान के प्रति अश्रद्धा-प्रेरित विद्रोह का भी था; अंग्रेजी शासन के प्रति घोर विद्रोह या गदर का तथा साथ ही अंग्रजी शासन के प्रति अटल भक्ति का भी युग था; भारतीय साहित्य की परम्परा के प्रति गौरव भावना का, साथ ही उसी परम्परा के प्रति हीनता-भावना का भी युग था। पाश्चात्य साहित्य के प्रति विगर्हणा का और उसीके प्रति श्लाघा का भी युग था। युद्ध के उभार का ही युग नहीं था, अहिंसा और करुणा के प्रसार का भी युग था। प्राचीन लोक-परम्पराओं में आस्था और अनास्था दोनों साथ-साथ इस युग में थी। यह जयदेव और कबीर को साथ ले चलनेवाला युग था, यह शंकराचार्य और वात्स्यायन को हाथ में हाथ देकर ले चलना चाहता था, ऐसे असंभव युग से संभव हुए रवीन्द्रनाथ। पूर्व और पश्चिम को स्थूल भूमि पर मिलाने का प्रयत्न इस युग का प्रधान धर्म था। दोनों के कथा-तत्त्वों को जोड़ना, मानवीय और मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करना, विवेकशील (Rational) प्रवृत्ति को प्रश्रय देना; ये सब इस युग में प्रतिफलित हो रहे थे।

रवीन्द्रनाथ ने पूर्व और पश्चिम को मिलाने की चेष्टा नहीं की; पूर्व में ही पश्चिम को पाने का प्रयत्न किया, और आध्यात्मिक भूमि पर पश्चिम को ऊपर उठाकर पूर्व की गरिमा का संदेश दिया। यह विश्व-साहित्य के लिए अनुपम देन थी। नोबुल पुरस्कार के रूप में विश्व ने इसे स्वीकार भी किया और श्रद्धा के जो पुष्प रवीन्द्रनाथ को, विश्वकवि हो जाने के उपरान्त, उनके द्वारा की गयी विश्व-यात्राओं में चढ़ाये गये, वे इस स्वीकृति का स्पष्ट प्रमाण हैं।

रवीन्द्र में प्राचीन ऋषियों-जैसी मुमुक्षुता थी; ज्ञात से अज्ञात सत्ता को जानने की प्रबल हूक। 'डाकघर' नाम के नाटक में बालक की जिस बालोचित प्रबल उत्कंठा का निरूपण किया गया है, वह कवि के अपने बालपन की ही उत्कण्ठा हो सकती है, पर वह उत्कण्ठा उनमें निरन्तर रही। घर में बंद बालक ने खिड़की से बाहर के विस्तीर्ण विराट् को देखकर, अपनी उत्कण्ठा को दूर दीखनेवाले डाकघर पर केन्द्रित किया। उसने समझा कि उस डाकघर के द्वारा उसके राजा का पत्र उसके पास आयेगा और वह राजा का डाकिया बनकर

राजा की चिट्ठियाँ लाने-ले जाने का काम करेगा। यह प्रतीकात्मक नाटक 'बालक-डाकघर-राजा' की त्रयी से 'जीव-गुरु-ब्रह्म' की कल्पना प्रस्तुत करता है। किन्तु इसमें प्रमुख उपलब्धि बालक में जागृत उत्कण्ठा संबंधी है। उस उत्कण्ठा का आधार है आस्तिक आस्था। राजा है, वह उसके पास जाना चाहता है। उत्कण्ठा की परिणति 'कामना'—प्रबल कामना में होती है। यह कामना इस अटल विश्वास के कारण है कि एक दिन राजा का संदेश या पत्र उसके पास आयेगा, अवश्य आयेगा। इसके कारण वह कामना धार्मिक श्रद्धा का रूप ग्रहण कर लेती है।

पर कवि में ऋषियों-जैसी उत्कण्ठा या जिज्ञासा या मुमुक्षता ही न थी, उसमें ऋषियों-जैसी दार्शनिक अनुभूति; यथार्थ-दर्शन अथवा साक्षात् अनुभव से हुई अनुभूति भी थी। 'प्रकृतिर प्रतिशोध' के संन्यासी में वह अपने अध्यात्म के विकास की इस उपलब्धि को प्रकट करता है। वैराग्य में प्रवृत्त संन्यासी के अंदर सुन्दरी ग्रामबाला के सौन्दर्य से यह सत्य उद्घाटित होता है कि वह अनन्त (Infinite) सान्त (Finite) में ही मिलता है और तब उनके समस्त काव्य और कृतित्व में इस उपलब्धि से प्रक्षेपित वह हृष्ट उल्लासमय आनन्द व्याप्त मिलता है, जिससे विश्व का कण-कण कवि को आनन्दित प्रतीत होता है। पीड़ा भी जहाँ आनन्द का ही रूप है। कवि ने अपनी आत्मकथा 'माई रेमिनिसेंसेज' में स्वयं 'प्रकृतिर प्रतिशोध' के सम्बन्ध में लिखा है—

"नायक एक संन्यासी था जो समस्त इच्छाओं और मोहों के बंधनों को तोड़कर प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है और इस प्रकार अपनी आत्मा के सच्चे और ठोस ज्ञान तक पहुँचना चाहता है। कथंचित्, एक छोटी लड़की उसे अनन्त के साक्षात्कार से लौटाकर इस जगत में और मानवीय प्रेम के बंधन में ले आयी। यों लौट आने पर संन्यासी ने अनुभव किया कि महान् को लघु में, अनन्त को रूपाकार (Form) के बंधनों में, और आत्मा की शाश्वत मुक्ति को प्रेम में ही पाया जा सकता है। 'प्रकृतिर प्रतिशोध' को मेरे समस्त भावी साहित्यिक कृतित्व की भूमिका माना जा सकता है, या यदि कहें तो, यही वह विषय रहा है जिस पर मेरा समस्त लेखन निर्भर रहता आया है,—सान्त में अनन्त को पाने का उल्लास।"

कवि ने 'गीतांजलि' के एक गीत में कुछ ऐसे भाव का एक गीत लिखा था—

"मेरी धमनियों में रात-दिन जीवन की जो धारा प्रवाहित होती रहती है, वही जगत भर में प्रवाहित है और संगीत के ताल पर नृत्य करती रहती है। यही तो वह जीवन है जो पृथ्वी की धूल में से घास के अगणित अँखुओं में उल्लास से फूट पड़ता है और पत्तियों तथा फूलों की हो-हल्ला मचाती लहरियों में परिणत हो जाता है।"

विश्व के सान्त कण-कण में अनन्त की उपलब्धि के आनन्दोल्लास के दर्शन से कवि का समस्त काव्य ओत-प्रोत है। इसी भावना के विविध रूपान्तर और विविध व्याख्याएँ कवि की वाणी से काव्य बनकर फूटे हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रवीन्द्र की वाणी त्रिविक्रम की भाँति भू-अन्तरिक्ष से आकाश के रहस्य में विसर्जित होती मिलती है। यह रहस्यमयता अथवा अस्पष्टता काव्य में क्यों आती है, इसके संबंध में विश्वकवि ने "काव्य; स्पष्ट एवं अस्पष्ट[1]" में बताया है—

"काव्ये अनेक समये देखा जाय, भाषा भावके व्यक्त करिते पारेना, केवल लक्ष्य करिया निर्देश करिया दिवार चेष्टा करे। से स्थले सेइ अनतिव्यक्त भाषाइ एकमात्र भाषा। एइ प्रकार भाषा के केह बलेन "धूँया", केह बलेन छाया, केह बलेन भांगा भांगि, एवं किछु दिन हइल नवजीवनेर श्रद्धास्पद संपादक महाशय किंचित् हास्य रसावतारणार चेष्टा करिते गिया ताहाके "काव्यि" नाम दियाछेन।[2]"

१. भारती-ओ-बालक, चैत्र, १२९३।

२. 'काव्य में अनेक स्थलों पर यह देखा जाता है कि भाषा भाव को व्यक्त नहीं कर पाती, केवल वह उस अर्थ को लक्ष्य कराने का निर्देश करने की ही चेष्टा करती है। उस स्थल पर वही (अनति व्यक्त) अस्पष्ट भाषा ही एक मात्र भाषा है। इस प्रकार की भाषा को कोई कहता है 'धुआँ', कोई कहता है 'छाया', कोई कहता है 'भांगा भांगि', और कुछ दिन हुए 'नव जीवन' के श्रद्धास्पद संपादक महाशय ने किंचित् हास्यरस का पुट देने की चेष्टा करते हुए उसे 'काव्यि' नाम दिया है।'

इसमें कवि ने बताया है कि भाषा की प्रकृत असमर्थता के कारण भी अस्पष्टता आती है। वे आगे कहते हैं—

"प्रकृतिर नियम अनुसारे कविता कोथाओ स्पष्ट कोथाओ अस्पष्ट, सम्पादक एवं समालोचकेरा ताहार विरुद्धे दरखास्त एवं आन्दोलन करिलेओ ताहार व्यतिक्रम हइबार जो नाइ। चित्रे ओ जेमन काव्ये ओ तेमाने, दूर अस्पष्ट निकट स्पष्ट, वेग अस्पष्ट अचलता स्पष्ट, मिश्रण अस्पष्ट स्वातन्त्र्य स्पष्ट। आगागोड़ा समस्तइ स्पष्ट समस्तइ परिष्कार से केवल व्याकरणेर नियमेर मध्ये थाकिते पारे किन्तु प्रकृतितेओ नाइ, काव्ये ओ नाइ।.........."[१]

प्रकृति में जैसे अस्पष्ट तथा स्पष्ट साथ हैं, वैसे ही काव्य में भी हैं। यह प्रकृति के कारण अस्पष्टता दूसरा तर्क है। वह और आगे कहते हैं—

"जाँहारा मनोवृत्तिर सम्यक अनुशीलन करियाछेन ताँहाराइ जानेन जेमन जगत आछे तेमनि अतिजगत आछे। सेइ अतिजगत जाना एवं ना-जानार मध्ये, आलोक एवं अन्धकारेर माझखाने विराज करितेछे। मानव एइ जगत एवं जगद्तीत राज्ये बास करे। ताइ ताहार सकल कथा जगतेर संगे मेले ना। एइजन्य मानवेर मुख हइते एमन अनेक कथा बाहिर हय जाहा आलोके अन्धकारे मिश्रित, जाहा बूझा जाय ना अथच बूझा जाय। जाहाके छायार मत अनुभव करि अथच प्रत्यक्षेर अधिक सत्य बलिया विश्वास करि, सेइ सर्वत्र व्यापी असीम अतिजगतेर रहस्य-काव्य जखन कौन कवि प्रकाश करिते चेष्टा करेन, तखन ताहार भाषा सहजे रहस्यमय हइया उठे।"[२]

१. प्रकृति के नियम के अनुसार कविता कहीं स्पष्ट, कहीं अस्पष्ट होती है। संपादक एवं समालोचक इसके विरुद्ध कितना ही आन्दोलन करें, इसमें कोई व्यतिक्रम नहीं होने का। जैसे चित्र में, वैसे ही काव्य में दूर अस्पष्ट होता है और निकट स्पष्ट, गति अस्पष्ट होती है, अचलता स्पष्ट, मिश्रण अस्पष्ट होता है, स्वतंत्रता स्पष्ट। जो कुछ स्पष्टता और परिष्कार है वह केवल व्याकरण के नियमों में ही स्थित है। वह न प्रकृति में है, न काव्य में है।

२. जिन्होंने मनोवृत्ति का सम्यक् अनुशीलन किया है वे जानते हैं कि जिस प्रकार जगत है उसी प्रकार अतिजगत भी है। वह अतिजगत ज्ञात और अज्ञात,

यह तर्क मनोभूमि-विषयक अनुभूति से संबंधित है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भाषा, प्रकृति और मनोनुभूति तीनों ही रहस्य-काव्य की सृष्टि में सहायक होते हैं।

किन्तु विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने देश-प्रेम की कविताएँ भी लिखीं। इन्हींमें से 'जनगणमन' वाली कविता आज राष्ट्रगीत के स्थान पर प्रतिष्ठित है। यही नहीं, इन्होंने वैष्णव भक्तों की परिपाटी में ब्रजबुलि में भी काव्य-रचना की। इसका नाम रखा था 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली'[1]। इन पदों में रवीन्द्र ने अपना नाम भानुसिंह रखा था।

आलोक और अंधकार के मध्य में स्थित है। मानव इस जगत और जगदतीत राज्य दोनों में निवास करता है। उसकी पूरी कथा जगत से मेल नहीं खाती। इसी कारण मनुष्य के मुख से ऐसी अनेक बातें निकलती हैं जिनमें आलोक और अन्धकार मिला रहता है, जिन्हें समझा नहीं जा सकता और समझा भी जा सकता है। इसको छाया के समान अनुभव करके अथवा प्रत्यक्ष ही, अधिक सत्य के रूप में विश्वासपूर्वक ग्रहण करके, इसी सर्वत्र व्यापी असीम अतिजगत के रहस्य—काव्य को जिस समय कोई कवि अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है, उस समय उसकी भाषा सहज ही रहस्यमय हो उठती है।

१. भानुसिंह अथवा रवीन्द्रनाथ रचित ब्रजबुलि का एक पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है—

(क) 'गहन कुसुम-कुंज माझे
मृदुल-मधुर वंशी बाजे
विसरि त्रास लोक-लाजे
सजनी आओ आओ लो!
अंगे चारु नील-बास
हृदये प्रणय-कुसुम रास
हरिण-नेत्रे विमल हास
कुंज बन-में आओ लो।
ढाले कुसुम सुरभि-भार

इन्हें 'गीतांजली' नामक काव्य-संग्रह पर १९१३ में नोबुल पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसीसे ये विश्व-कवियों की कोटि में आ गये।

ढाले विहग सुख-सार
ढाले इंदु अमृत-धार
विमल रजत-भाति रे।
मंद - मंद भ्रमर गुंजे
अयुत कुसुम कुंजे कुंजे
फुटल सजनी पुंजे पुंजे
बकुल जूथि जाति रे।
देख सजनी श्याम-राय
नयने प्रेम उथल जाये
मधुर बदन अमृत-सदन
चन्द्रमाइ निन्दिचे।
आओ आओ सजनी-वृन्द
हेरब सखी श्री गोविन्द
श्याम को पदारविंद
भानुसिंह बंदिचे।

(ख) गहन कुसुम कुंज में मृदुल मधुर वंशी बजती है,
(त्रास विसर गया, लोक-लाज जाती रही, सजनी आओ)
भय और लोक-लाज को दूर करके सजनी आओ,
सुंदर शरीर पर नील वस्त्र
हृदय में प्रणय का पुष्प विकसित,
हरिण के से नेत्रों में हास युक्त
कुंज वन में-आओ।
कुसुम अपने सौरभ का भार उँड़ेल रहा है,
पक्षी अपने सुख युक्त स्वर को उँड़ेल रहे हैं,
चंद्रमा अमृत धारा उँड़ेल रहा है,

'कड़ी ओ कोमल' तथा 'मानसी' में कवि का गीतिकाव्यत्व प्रथम झलका। इसने 'चित्रा' (चित्रांगदा नाटक नहीं) में परिपाक प्राप्त किया। इसमें 'उर्वशी' काव्य श्रेष्ठतम कृति है।

रहस्यात्मकता की दृष्टि से 'सोनार तरी' प्रथम कृति मानी जा सकती है। यह भावना शनैः-शनैः नैवेद्य, खेया, तथा गीतांजली में परिपूर्णता को प्राप्त हुई। दार्शनिक अनुभूतियों का परिपाक 'बलाका' नामक संग्रह में मिलता है।

देश-प्रेम अथवा राष्ट्रीय भावनाओं से युक्त कविताओं के अतिरिक्त इनके सामाजिक व्यंग्य भी कम प्रसिद्ध नहीं। इनमें इन्होंने दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति तथा अत्याचारियों के प्रति भर्त्सना का भाव प्रकट किया है। इन सामाजिक व्यंग्य काव्यों में 'दुरन्त आशा', 'नववंग-वीर', 'हिं टिं छट', 'जूतार आविष्कार' विशेष उल्लेखनीय हैं।

महाकवि रवीन्द्र की प्रत्येक कविता, सामाजिक हो, चाहे राष्ट्रीय, चाहे दार्शनिक, चाहे रोमांटिक रहस्यवादी, सभी में दृष्टिकोण अत्यन्त उदार और व्यापक है। ऋषियुगीन महान कल्पना से इस विशद दृष्टिकोण को प्रेरणा मिली है। आपकी अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रीयता के बंधनों के ऊपर से विस्तृत हुई है, 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' से नहीं, 'ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत्किंच जगत्यां

विमल रजत चन्द्रिका है रे!
मंद मंद भौंरे गुंजार कर रहे हैं,
कुंज कुंज में खिले कुसुम हैं,
हे सखी समूह के समूह प्रस्फुटित हो उठे हैं,
बकुल और यूथिका और जाती रे!
देख सजनी श्याम राय
नयनों से प्रेम छलका रहे हैं,
मधुर मुख अमृत-सदन है
जो चन्द्रमा को निन्दित करता है।
आओ, आओ सखियो
श्री गोविंद श्याम के पदारविंद की भानुसिंह वंदना करें।

जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा' इस आदर्श से इनके काव्य की प्रत्येक पंक्ति अनुप्राणित है। पाश्चात्य प्रभाव ने उनके काव्य को केवल प्रभविष्णुता अथवा एक व्यक्तित्व-वैशिष्टच ही प्रदान किया है। इनके रहस्य का रहस्य वह गायत्री रही है जिसमें प्रार्थना है कि 'ॐ भूर्भुव: स्व: तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न: प्रचोदयात्'। विश्वराष्ट्र या अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का मूल मंत्र था वह भारतीय मंत्र जो यह कहता था कि "वसुधैव कुटुम्बकम्"।

फलत: रवीन्द्रनाथ का काव्य उपनिषद और संतों की परम्परा में उतरा है, पर उसमें पाश्चात्य से प्रसरित नव्य मानसिकता के लिए नयी व्याख्या के साथ उसीकी प्रभविष्णुता और व्यक्तित्व-वैशिष्टच से परिपूर्णता आ गयी है। इनके काव्य में बंगाल देश की क्षेत्रीयता की भी उपेक्षा नहीं। रवीन्द्रनाथ भारत की प्राचीन शास्त्रीय संगीत पद्धति के भी ज्ञाता थे, उसी ज्ञान से नव-सर्जना एवं नव भावना के लिए उहोंने नये संगीत को भी जन्म दिया।

बँगला भाषा की जिस सामर्थ्य की ओर माइकेल मधुसूदन दत्त ने संकेत किया था, रवीन्द्रनाथ ने उस सामर्थ्य की महत्ता सिद्ध करके दिखा दी।

रवीन्द्र ने अपनी प्रतिभा से बँगला काव्य को जिस स्पृहणीय महत्ता से अभिमंडित कर दिया उसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उनकी परिपाटी पर अनेक कवि लिखने लगे। रवीन्द्रनाथ नयी प्रतिभाओं को प्रोत्साहित भी करते रहते थे।

रवीन्द्र युग में द्विजेन्द्रलाल राय ने भी गीत लिखे।

इन लोगों से प्रेरणा ग्रहण करके रजनीकान्त सेन ने भी गीत लिखे। ये द्विजेन्द्रलाल राय से भी परिचित थे। स्वदेशी आन्दोलन के समय इनके सामयिक गीत बहुत लोकप्रिय हुए। यह गीत जिसकी टेक थी 'मायेर देओया मोटा कापड़ माथाय तुले ने रे भाइ", जन-जन के कण्ठ पर विराज रहा था।

रवीन्द्र संगीत और गीत प्रणाली से प्रेरित होकर अतुल प्रसाद सेन काव्य-रचयिता से गीतकार बन गये थे। सामयिकता की दृष्टि से इनके राष्ट्रीय गीतों की भी बहुत धूम रही।

रवीन्द्रनाथ के परिवार में भी बालक बलेन्द्रनाथ ठाकुर को पारिवारिक वातावरण से काव्य-रचना की प्रेरणा मिली। इनकी अकाल मृत्यु हो गयी थी। इनके केवल दो कविता संग्रह हैं—पहला 'माधविका' दूसरी 'श्रावणी'। नारी के सौन्दर्य और नारी प्रेम की बसन्त और वर्षा के व्याज से अभिव्यक्त हुई अनुभूतियाँ इन कविताओं में हैं। इनके विकास में रवीन्द्रनाथ का भी कम हाथ न था।

इसी समय के लगभग प्रियंवदा देवी ने भी काव्य-रचना आरम्भ की। इस काल के गीतकार कवियों को पाश्चात्य शैली का सानेटवाला काव्य-रूप विशेष प्रिय था। प्रियंवदा देवी ने वही चतुष्पदी सानेट रूप अपनाया। इन पर भी रवीन्द्र का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इनकी कृति 'रेणु' प्रकाशित हुई और सबने उसकी प्रशंसा की।

सतीशचन्द्र राय नाम के व्यक्ति की उन्नीस वर्ष से पूर्व की लिखी कुछ कविताओं को देखकर रवीन्द्र प्रभावित हुए थे। सतीशचन्द्र रवीन्द्र के 'शान्ति-निकेतन' में पहुँचे और एक अच्छे कवि हो गये। प्रकृति के रोमांस के कवि थे ये। इन्होंने कहानी-गर्भित कविता या कथागीत (Ballad) भी लिखे। इनकी 'ताजमहल' नाम की रचना पर्याप्त प्रसिद्ध हुई।

अंजलि (१९०१), तपोवन (१९१२) तथा ध्यान लोक (१९१९) के कवि जीवेन्द्रकुमार दत्त देश-प्रेम से युक्त तथा प्राचीन भारतीय आदर्श के अनुरागी थे। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं का भी बँगला में इन्होंने अनुवाद किया था।

कथा-काव्य के कवि सुखरंजन राय की 'शुक्ला' में एक स्वप्न-कहानी गूँथी गयी है। इसके पात्र अमा, शुक्ला, पूर्णेन्दु, उदयन, यूथी, कूर्चिका नाम के हैं। समस्त कहानी एक रूपक-काव्य (Allegory) प्रतीत होती है।

रमणी मोहन घोष तथा भुजंगधर चौधरी की कविता पर रवीन्द्र का प्रभाव विशेषतः स्पष्ट दिखाई पड़ता है। दोनों ही रवीन्द्र के भक्त थे।

प्रमथनाथ चौधरी के, १८९८ से १९२४ के बीच, लगभग ६ काव्य ग्रंथ प्रकाशित हुए। गिरिजानाथ मुखोपाध्याय के १९०० से १९३० के बीच चार काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हुए।

इस काल में विजयकृष्ण घोष का नाम इसलिए विशेष उल्लेखनीय है कि इन्होंने उमरखय्याम की रुबाइयों का अनुवाद अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर बँगला में किय। जेबुन्निसा की कविता का अनुवाद भी इन्होंने किया। इनका निजी काव्य-संग्रह 'अश्रु' नाम से था।

एक अन्य कवि रसमय लाहा इस युग में हास्य कविता तथा पैरोडी अर्थात् परिहास-अनुकरण-काव्य के रचयिता होने के नाते उल्लेखनीय हैं, छाइ भस्म, आराम, आमोद, परिहास नाम के हास्य-ग्रंथ १९०० से १९२८ के बीच प्रकाशित हुए।

इस काल में महिलाओं में सुरमा सुन्दरी घोष, अनंगमोहिनी देवी, अंबुजा-सुन्दरी दासगुप्ता, नगेन्द्रबाला वसु सरस्वती की काव्य कृतियों का अच्छा आदर हुआ।

मुसलमान भी काव्य-रचना में पीछे नहीं थे। इनमें दौलत अहमद, सय्यद इमदादअली तथा काजी इमदादुल हक विशेष उल्लेखनीय हैं।

रवीन्द्र-परिकर में रवीन्द्र के अनुयायी और भक्त सत्येन्द्रनाथ दत्त का नाम चमकता हुआ प्रतीत होता है। यही नहीं कि इनमें रवीन्द्र का प्रभाव परिस्फुटित मिलता है, यही नहीं कि इन्हें रवीन्द्र के साथ रहने का भी पर्याप्त सुयोग मिला था, यही नहीं कि इन्होंने रवीन्द्र पर कई कविताएँ श्रद्धांजलि और अभिनन्दन-रूप में प्रस्तुत कीं, वरन् यह कि रवीन्द्र-प्रभाव की परम्परा बहुधा इनके प्रभाव के कारण ही परिपुष्ट हुई। सत्येन्द्रनाथ दत्त अक्षयकुमार दत्त के पौत्र थे। इन्होंने अपने बाबा की प्रतिभा प्राप्त की थी। इन्होंने कितने ही काव्य-ग्रंथ लिखे, जिनमें से निम्नलिखित तो इनके जीवन-काल में ही प्रकाशित हो चुके थे—

१—सविता (१९००)
२—संधिक्षण (१९०५)
३—बेणु ओ वीणा (१९०६)
४—होमशिखा (१९०७)
५—तीर्थसलिल* (१९०८)
६—तीर्थ रेणु* (१९१०)
७—फूलेर फसल (१९११)

८—कुहू ओ केका (१९१२)

९—जन्मदुःखी (१९१२)

१०—चीनेर धूप (१९१२)

११—रंगमल्ली (१९१३)

१२—तूलिर लिखन (१९१४)

१३—मणिमंजूषा* (१९१५)

१४—अभ्र आवीर (१९१६)

१५—हसन्तिका (१९१७)

और तीन ग्रंथ ऐसे हैं जो इनकी मृत्यु के उपरांत प्रकाश में आये—

१६—बेला शेषेर गान (१९२३)

१७—विदाय आरति (१९२४) तथा

१८—धूपेर धोंयाय (१९२९)

इनमें से रेखांकित चार ग्रंथ काव्य नहीं। ९ संख्यक ग्रंथ एक अनुवादित उपन्यास है, १० संख्यक अनुवादित प्रबन्ध है, ११ संख्यक छोटे नाटकों का संग्रह है और १८ संख्यक एक नाटिका है। पुष्पांकित संग्रह अनूदित कविताओं के संग्रह हैं।

आरम्भिक कविताओं में सत्येन्द्रनाथ दत्त पर माइकेल मधुसूदन दत्त, देवेन्द्रनाथ, अक्षयकुमार (कवि के पितामह), सतीशचन्द्र, रवीन्द्रनाथ आदि कई कवियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। पर धीरे-धीरे रवीन्द्रनाथ का प्रभाव गहरा और व्यापक होता गया।

सत्येन्द्रनाथ की कविताओं में कई प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक प्रवृत्ति तो रूपक-काव्य (Allegory) विषयक है। 'वेणु ओ वीणा' में यह रूपकत्व कुछ मंद है, पर 'कुहू ओ केका' में प्रबल तर।

'वेणु' के लिए कवि ने लिखा—

वातासे जे व्यथा जेते छिल भेसे-भेसे,
जे वेदना छिल वनेर बुकेरि माझे,
लुकानो जा छिल अगाध अतल देशे,
तारे भाषा दिते 'वेणु' से फुकारि बाजे,

'वेणु' को 'फू' कार द्वारा बजाया जाता है, तो उससे जो स्वर निकलते हैं वे बन के हृदय में छिपी वेदना के द्योतक होते हैं––वेणु विश्ववेदना का प्रतीक, बाह्य जगत के दुःख और दैन्य की वेदना का प्रतीक है।

'वीणा' क्या है––

हृदये जे सुर गुमरि मरिते छिल,
जे रागिनी कभू फूटेनि कण्ठे-गाने,
शिहरि, मुरछि–से कि आज धरा दिल––
काँपिया, दुलिया, झंकारे–वीणा ताने।

मानव हृदय की दमित भावनाओं को झंकृत करती है वीणा।

कुहू और केका में––'कुहू' में है "रंग का, सुर का, रसावेश का रूपक", केका है रूप का, गंध का, सुख-उल्लास का रूपक।

इन्हीं कविताओं में कवि हमें 'रूप-स्वर' के संयोग से विमुक्त हो रूप को पीछे छोड़ स्वर की ओर अग्रसर होता मिलता है। एक इतिहासकार आलोचक का मत है कि "ध्वनि ओ रूपेर सहयोगिता कयेकटि कविताके असाधारण चित्र सौन्दर्य दियाछे, एवं एइखानेइ सत्येन्द्रनाथेर काव्य शिल्पेर चरम विकाश।"[1]

कवि में एक दूसरी भावधारा वैदिक प्रकृति-देवताओं को लक्ष्य कर, काव्य-रचना करके उन्हें आधुनिक मनसानुकूल रससिक्त करने की मिलती है। यह प्रवृत्ति आरम्भ में तो बहुत ही प्रबल थी, सविता, संधिक्षण तथा होमशिखा में इसी प्रवृत्ति की द्योतक कविताएँ हैं। सविता में तो गायत्री मंत्र की ही कहीं-कहीं व्याख्या कर दी गयी है। यथा––

"धेयाइ वरेण्य सविताय
रमणीय दीप्ति देवताय
आमादेर बुद्धि-विधाताय"

यहाँ भी रूपकत्व का अभाव नहीं, क्योंकि प्रत्येक वर्ण्य देवता को किसी विशिष्ट गुण-तत्त्व का प्रतीक मानकर कवि ने काव्य प्रस्तुत किया है।

१. बाँगाला साहित्येर इतिहास, चतुर्थ भाग––पृष्ठ १०६।

जैसे सविता=ज्ञान का देवता
सोम = प्रेम का देवता
पृथिवी = सर्वंसहा शौर्य की देवता
समीर = प्राण का देवता
सिन्धु = दुःख का देवता
स्वर्ण गर्भ= (हिरण्यगर्भ) आकाश का, आनन्द का, देवता या ब्रह्म
अग्नि = तपस्या का रूप

इसी प्रकार कवि ने औपनिषदिक और पौराणिक आख्यानों को रूपकतत्त्व युक्त कर आधुनिकयुगीन सहानुभति के लिए माध्यम बनाया है।

कवि की कुछ रचनाओं में तत्कालीन समाज के अनादृत अथवा पीड़ित वर्ग की चीत्कार या पुकार समाविष्ट है। कवि सौन्दर्यदर्शी है, उसीके आधार पर उसने आचारादि का भी दर्शन प्रस्तुत किया है।

गाँवों की ओर भी कभी-कभी कवि की दृष्टि गयी है, उन्हींके अनुकरण पर और कवियों ने भी काव्य-रचना की।

पर कवि 'व्यंग्य काव्य' का रचयिता भी है। व्यंग्य रचना उसने विशेष उद्देश्य से की है। उसने सामयिक विवादों[1] के प्रसंग में रवीन्द्रनाथ के पक्ष को पुष्ट करने और परपक्ष को विद्रूप करने के लिए कटाक्ष, व्यंग्य, हास्य, आक्षेप का संयोजन किया है। इन व्यंग्य रचनाओं में भी काव्य-सौष्ठव की कोटि उच्च रही। एक व्यंग्य कविता उदाहरणार्थ देना समीचीन प्रतीत होता है—

मराल ओ पेचक[2]

"वासरे हेंयालि" कहिल पेचक सकौतुके,

१. यह विवाद द्विजेन्द्रलाल राय तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर के बीच था। इसकी भूमि साहित्यिक सैद्धान्तिक थी। रवीन्द्र-पक्ष से यतीन्द्रमोहन बागची, सत्येन्द्रनाथ दत्त, द्विजेन्द्रनारायण बागची तथा विपिनविहारी गुप्त-जैसे तरुणों ने रवीन्द्र के पक्ष के समर्थन का बीड़ा उठाया।

२. वसुमती नामक पत्रिका का 'पूजा' के पर्व पर जो अंक निकला उसमें एक व्यंग्य चित्र प्रकाशित हुआ था, इसमें दिखाया गया था कि रवीन्द्र तो

"झाला पाला ! बलि, कवितार पाला गेल कि चूके ?"
आसल कथाटा बल देखि मोरे, घुचुक धाँधा ।
तुषारेर माझे खाद्य कि पाओ मराल दादा ?"
कहिछे मराल "रयेछे मृणाल शुभ्र शुचि"
क्षुधा निवारण ताते हय ? वो का बुझाओ बूझि
कवित्व भूलि वल देखि खुले, आमार काछे
इन्दीवरेते काज नाइ—बलि इंदुर आछे ?"[1]

कुछ समय तो इन्होंने 'श्री नवकुमार कविरत्न' के छद्म नाम से भी व्यंग्य कविताएँ लिखी थीं। 'हसन्तिका' इनकी व्यंग्य कविताओं का संग्रह है।

इनके अतिरिक्त सत्येन्द्रनाथ दत्त का एक प्रयोग अत्यन्त श्लाघ्य माना जाता है वह है अनुवाद कार्य। सत्येन्द्रनाथ ने देश-विदेश की विविध भाषाओं के नूतन और पुरातन कवियों की कविताओं का अनुवाद करके बँगला भाषा को समृद्ध किया। इन अनुवादों से इन्होंने केवल काव्य की भाव-संपत्ति और विषय-प्रवृत्ति को ही सुलभ नहीं बनाया, मूल के छंदों का अनुकरण भी किया। इस प्रकार कई विदेशी छंद-शैलियों का प्रयोग बँगला में किया।

हंस है, उस पर द्विजेन्द्रलाल राय बाज पक्षी के रूप में पंख फैलाकर झपट रहे हैं और कहते जाते हैं : 'साहित्य दुर्नीति'। इसी चित्र को लक्ष्य करके सत्येन्द्रनाथ दत्त ने ये व्यंग्य लिखे।

१. हंस और उल्लू
'दिन हो गया' उल्लू ने सकौतुक कहा,
पाला छाया हुआ है ; बोलो, कविता का पाला गया या नहीं
आसल कथाटा बल देखि भोरे, घुचुक धांधा।
हे मराल दादा ! तुषार में खाने के लिए क्या मिलेगा ?
मराल कहता है—मृणाल तो शुभ्र और शुचि विद्यमान है।
उससे भूख दूर हो जायगी—बौका बुझाओ बूझि
कवित्व भूलकर देखो हमारे लिए तो
चूहा (इंदुर) है। कमल से हमें क्या मतलब ?

सत्येन्द्रनाथ दत्त के संगी-साथी के रूप में द्विजेन्द्रनारायण हमारे समक्ष आते हैं। इनकी एक कविता पुस्तक 'एकतारा' नाम से प्रकाशित हुई। अन्य कई कविताएँ किसी संग्रह में नहीं आ पायीं।

करुणानिधान वन्द्योपाध्याय का प्रथम काव्य-संग्रह 'बंगमंगल' १९०१ में प्रकाशित हुआ। यह स्वदेशी आन्दोलन के युग के आरम्भ की रचनाएँ थी। इनमें देश-प्रेम के भाव थे। ये कविताएँ लोकप्रिय हुईं। इनके निम्न काव्य-संग्रह और प्रकाश में आये--प्रसादी, झराफूल, शान्ति जल, धान दूर्वा और रवीन्द्र आरति। इनकी कविताओं की पृष्ठभूमि वैष्णव भक्ति के हलके रंग से रंजित है। सरल भाषा में सुन्दर दृश्यविधान है, जिसे एक आवेग आस्वाद्य बना देता है। विषयों में अवश्य ही विशेष वैविध्य नहीं।

यतीन्द्रमोहन बागची की कविताएँ यों तो पहले से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं, पर इनका प्रथम काव्य-संग्रह था 'लेखा' जो १९०३ में प्रकाशित हुआ। इसके बाद रेखा, अपराजिता, नागकेशर, बन्धुरदान, जागरणी, नीहारिका, महाभारती, आदि संग्रह प्रकाश में आये। ये छंद और शब्दों के चित्रशिल्पी थे। विषय में वैविध्य और वैचित्र्य विद्यमान है। ग्राम-प्रेम और युग-युगावहेलित नारी के प्रति करुणा इनके काव्य में है।

श्री कुमुदरंजन मल्लिक में ग्रामश्री ही जैसे मुखर हो उठी है। इनके काव्य हैं--

उजानी (१९११), बनतुलसी (१९११), शतदल (१९११), एकतारा (१९१४), बीथी (१९१५), बनमल्लिका (१९१८), नूपुर (१९२०), रजनीगंधा (१९२१), अजय (१९२७), तूणीर (१९२८), स्वर्णसंध्या (१९४८) आदि।

इनका काव्य सरल है, अपने कलाचातुर्य को दिखाने की चेष्टा इनमें नहीं मिलती। प्रकृति-श्री का यथार्थ सौन्दर्य सरलरूपेण इन्होंने चित्रित किया है। वैशाख के प्रातः का वर्णन देखिए--

वैशाखी प्राते। चंपक हासे
उजलिया दश दिशि
वकुल बालिका। खेले कत खेला

धूलि-पाता सने मिशि
आवछाये बसि। यूथी जाति गुलि
कत उपकथा बले
सुन्दरी उषा पराइया देय
नीहार मालिका गले।

श्री कालिदास राय के काव्य में ग्राम्य श्री रोमाण्टिक रंग से रंजित हो उठी है। सहृदयता का पुट भी इनकी कविताओं में विद्यमान है। इनके भी लगभग ११ काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। प्रथम 'कुन्द' १९०८ में और 'वैकाली' १९४० में।

श्री यतीन्द्रप्रसाद भट्टाचार्य में हम पुनः हास्य रस भी पाते हैं, और गंभीर-परम्परा का काव्य भी पाते हैं। इनका 'मर्म गाथा' नाम का संग्रह १९.१४ में प्रकाशित हुआ था। द्विजेन्द्रलाल राय के काव्य की पैरोडियाँ भी इन्होंने काफी लिखीं।

अन्य कवि

कवि नाम	कविता पुस्तक	भाव सामग्री	विशेष
देवेन्द्रनाथ सेन			
अक्षयकुमार बड़ाल			
सरोजकुमारी देवी			
प्रमीला नाग			
विनयकुमारी वसु			
सरलाबाला दासी			
रमणीमोहन घोष			
बनवारीलाल गोस्वामी	खिचुड़ी, पुलाव, वेणुवन		
मुनीन्द्रनाथ घोष			
भुजंगधरराय चौधरी			
नगेन्द्रनाथ सोम			
ज्ञानेन्द्रनाथ गुप्त			

कवि नाम	कविता पुस्तक	भाव सामग्री	विशेष
हेमेन्द्रप्रसाद घोष			
प्रकाशचन्द्र दत्त			
गिरिजाकुमार वसु	धूलि (१९१०)	प्रेम काव्य	
किरणचाँद दरवेश	गानेर खाता (१९१८) मन्दिर (१९२५) सुसोमा (१९२०) रेवा (१९२८)		
महाराजा जगदिन्द्रनाथ राय	सन्ध्यातारा		
वसन्त कुमार चट्टोपाध्याय	मन्दिरा (१९१४), खंजनी (१९१४), सप्तस्वरा (१९१४), पत्रचित्र (१९२२), चित्र ओ चित्र (१९३१), हवित्री (१९३१), रूप ओ धूप (१९३८), सुरधुनी (१९४१)		गल्प, उपन्यास, नाटक, तथा आत्मकहानी लेखक
निरुपमा देवी	धूप (१९१८), गोधूलि (१९२८)		
हेमलता देवी	ज्योति (१९११), अकल्पिता		गल्प तथा नाटक भी
दिनेन्द्रनाथ ठाकुर			बहुत कम कविताएँ लिखीं।
कुमुदनाथ लाहिड़ी	बिल्वदल (१९१३)		
सुधाकृष्ण बागची	ज्योत्स्ना		
देवकण्ठ बागची	देव वीणा (१९११), खयाल (१९१३)		
हेमचन्द्र मुखोपाध्याय	कणा (१९११), उत्सव (१९१२)		
मुनीन्द्रप्रसाद सर्वा-	मानसकुंज (१९१२),		गल्प तथा उपन्यास

कवि नाम	कविता पुस्तक	भाव सामग्री	विशेष
सर्वाधिकारी देवेन्द्रनाथ महिन्ता	कविता-राधना (१९१७)		शेखसादी की कुछ कविताओं का अनुवाद ।
सतीशचन्द्र पाठक	झलक (१९२३), लालिकागुच्छ (१९३०)	सरस	गल्प, नाटक, सरस प्रबंध भी
अवनीन्द्रनाथ	आलोर फुलकि १९४१	काव्य-गल्प	पशु पक्षी मानव रूप में ।
हेमेन्द्रकुमार राय	यौवनेर गान (१९२४)		१. उमरखय्याम की कविताओं का अंग्रेजी माध्यम से बंगाली में अनुवाद २. प्रधानतः गल्प तथा उपन्यास लेखक नाटक तथा प्रहसन भी ।
हेमेन्द्रलाल राय	फूलेर व्यथा मणिदीपा (१९३२)		यह अन्य भारतीय भाषाओं की कविताओं का अनुवाद संग्रह है ।
दक्षिणा रंजन			

यहाँ तक बँगला की कविता-धारा प्रायः तीन मोड़ ले चुकी थी । एक मोड़ तो ईश्वरचन्द्र गुप्त के द्वारा मिला था, जिसमें प्राचीन धारा की परम्पराओं में नये युग का कुछ-कुछ रस समाविष्ट हुआ था । पत्रकारिता का यह आरम्भिक युग था । अंग्रेजी शासन और पाश्चात्य संस्कृति का प्रथम संपर्क और संसर्ग । एक हलका नवोन्मेष दिखाई पड़ा । तभी दूसरा मोड़ दिया माइकेल मधुसूदन दत्त ने । पत्रकारिता की माँग के परिणाम-स्वरूप काव्यधारा लौकिक प्रपंचों और समस्याओं की ओर उन्मुख होनेवाली थी कि पाश्चात्य साहित्य की उच्च मनीषिता से प्रभावित माइकेल ने आग्रहपूर्वक भारतीय पुराण-गाथा को यूनानी

गाथाओं की परम्परा में ढालना चाहा, इससे नये युग में नयी भावनाओं और नयी कल्पनाओं के संघात से महाकाव्यत्व को एक उच्च भूमि मिल गयी। बंगला काव्य की धारा अनायास ही लोक-भमि छोड़ देवभूमि की नवीन सृष्टि से प्रोत्साहित हो उठी। काव्यभावों का नागराज खड़ा हो गया और पाठक चमत्कृत और रोमांचित होता हुआ अपनी समभूमि से चलकर ऊपर और ऊपर चढ़ने लगा।

पर, इतिहास का यहाँ नया निर्माण हो रहा था। अंग्रेजी और भारतीय शक्तियों में घोर संघर्ष चल रहा था, यह घनीभूत होकर सन् सत्तावन के विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ। भारत में एक झंझावात आ गया। यह झंझावात दबा भी दिया गया, पर भारतीय मानस एक प्रकार से अन्तर्मुख हो गया। वह अपने में निहित हो अपने को और अधिक प्रेम करने लगा, साथ ही अन्तरंग के रस और रहस्य का भी आनन्द लेने लगा। नये सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक संघर्षों से कितनी ही सुधार-धाराएँ चल पड़ी थीं, जो बंगाल को विवश कर रही थीं यह सोचने के लिए कि हममें क्या बुरा और क्या अच्छा है ? नवीन को ग्रहण करना सामयिकता का तकाजा था, और प्राचीन के महान् को न त्यागना निजस्व की माँग थी। साहित्य में इसी संघर्ष ने नवीन-प्रवीन के द्वन्द्व का रूप ग्रहण कर लिया था। स्वदेशी आन्दोलन भी छिड़ चुका था, जिसने भटकती प्रतिभाओं को 'स्व' के साथ देश की वस्तु के लिए पुनः आग्रहशील बना दिया और तभी समस्त बंगाली सागर में भयंकर तूफान उठा दिया 'बंग-भंग' ने। जन-जन बंग-भंग के प्रहार से उत्पीड़ित हो उठा था। शीघ्र ही बंग-उद्धार हो गया, उधर अंग्रेजी साहित्य का प्रसार गहरे से गहरा और विस्तृत से विस्तृत होता चला। अंग्रेजी शासक का पंजा भी कठोर होता चला।

तब तीसरा मोड़ दिया रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने। अन्तर्मुख भारतीय मानस ने अपने समस्त पुरातन संचय के रत्नों में एक नया प्रकाश देखा, और उस नये प्रकाश के साथ वह आगे बढ़ा। पुराण-कथा का सूत्र शिथिल हो गया, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' से विश्वसूत्र को ग्रहण करके पुराण की सीमाओं का उतना मोह नहीं रह सकता था, विश्व की आत्मा से तादात्म्य उपनिषदों और संतों-बाउलों के दर्शन से हो सकता था। वह उस नवप्रकाश से नवकिरणों पर चढ़ चला, पर

भाव जगत् के नगराज के शिखर से ऊपर जाने में तो एक रहस्य-जगत् मिलता था। कवि उस रहस्य-जगत् को भी भेदने लगा। बंग भूमि का स्थूल आकर्षण भी कम न था, वह भूमि ही तो आधार-भूमि थी, उस पर से ही तो विश्व-मानवता प्राप्त की जा सकती थी क्योंकि उसके रजकण में प्राचीनों के विश्व-मानवत्व की भावना उद्भासित थी। विद्रोह यहाँ भी था कृत्रिम सीमाओं के प्रति, कृत्रिम संस्कारों के प्रति, कृत्रिम मानव-बंधनों और प्रपंचों के प्रति, अंधकार के प्रति और भावों के उत्कर्ष के ज्योति-स्तूपों में आनन्दोन्माद था। पर इसी बीच प्रथम महान् विश्व-युद्ध छिड़ा और समाप्त हो गया। समस्त विश्व में एक ऐंठन पैदा हो गयी। एक नयी विचार-क्रान्ति पैदा हो गयी। भारत की विचारधारा फिर भूमि की ओर लौटती प्रतीत हुई और इस स्थल पर बँगला काव्य को चौथा मोड़ मिला। रवीन्द्रधारा से यह मोड़ पृथक् हो गया। इस उत्क्रमण की प्रतिक्रिया ने इस समय 'आधुनिक-अति आधुनिक' के विवाद का रूप ग्रहण किया। रवीन्द्र के प्रभाव के अवसान को लक्ष्य करके कवि लिखने लगे—

तोमार प्रखर तापे काननेर जत वैतालिक
निरुद्देश; दुइ चारि हेखा होखा पल्लवेर छाय
करिछे कूजन बढ़े—दुःसाहसी कल कण्ठ पिक!—
के शोने तादेर गान?—माछिदेर कल्लोले हाराय!
एमनि दुर्भाग्य देश!—तुमि रवि, तबुओ हा धिक!
तोमार आलोके हेर, पाखी मूक, कीट नाचे गाय!

और उनके काव्य की प्रवृत्ति का यों उपहास किया जाने लगा—

ऊर्ध्वमुखे धेराइया रजोहीन रजनीर मल्लिका-माधवी
नेहारिया नीहारिका-छवि,—
कल्पनार द्राक्षावने मधु चुषि, नीरक्त अधरे,
उपहासि दुग्धधारा धरित्री पूर्ण पयोधरे,
बुभुक्षु मानव लागि रचि इन्द्र जाल,
आपना वंचित करि चिर इहकाल,
कत दिन भुलाइबे मर्त्यजने विलाइया मोहन आसव,
हे कवि-वासव?

स्पष्ट है कि यह तो चौथे मोड़ की सूचनामात्र है। अन्तरंग में ऊर्ध्वमुखी मानव को झटककर देहस्थ करके 'धरित्रीर पूर्ण पयोधर' के दूध के प्रति आकर्षित करने का यत्न है। देहधर्म से पलायन न करने का संकेत है। ऊर्ध्वा के 'मोहन-आसव' या मोहन-मदिरा से हटाकर शरीरस्थ मोह-मदिरा पान करने का आग्रह है, स्थूल जगत के स्थूल तत्त्वों के भोग का मोह! और उक्त पंक्तियाँ मोहितलाल मजुमदार की हैं। मजुमदार आरम्भ में रवीन्द्र के अनन्य भक्त थे, किन्तु बाद में संभवतः १९२४ से ये उनके विरोधी हो गये।[1] इन्होंने वस्तुतः रवीन्द्र की ऊर्ध्वगामिनी रहस्योन्मुख प्रवृत्ति का ही विरोध किया है। इनके काव्य में कल्पना-तन्तु तो रवीन्द्र के ही मिलते हैं, केवल भावों की ऊर्ध्व-गामिता से ही इन्हें हीन समझना चाहिए। यों तो इनमें वैष्णव भक्ति के तत्त्व और वेदान्त-दर्शन का पुट भी मिलता है, या मिलता माना जाता है, वैसे ही इनकी 'अघोरपन्थी' जैसी कविता में तांत्रिक शव-साधना का संकेत भी विद्यमान है, और नारीत्व की नयी व्याख्या में शक्ति की नयी झलक भी देखी जा सकती है—

स्वच्छन्द-स्वैरिणी ओये, नित्य शुद्धा—नहे सती, नहे से असती।

किन्तु इनके काव्य का मुख्य लोभ है 'जीवनेर जत किछु दान'—

देही आमि, मन्दिरे मन्दिरे ताइ परश-भिखारी

यही नहीं—

देह अरणिरे मन्थन करि लभिजे अग्निकणा।
सेइ दहनेर मिठा-विषे मोर मदनेर आराधना!

इस आराधना के कारण—

आज आर नाहि भय, दुःख सुख दुयेरि समान
साधक आमरा सबे, जानि जन्म आर हे खानाइ

१. ऐसा अनुमान है कि मोहितलाल का यह विरोध किसी व्यक्तिगत कारण से हुआ होगा, बाद में उसे तात्त्विक रूप दिया गया। मोहितलाल ढाका में प्राध्यापक हो गये थे। ढाका में उस समय 'अति आधुनिक' वादियों का जमाव था।

स्वर्गलोभ करि ना जे, नरकेर नाहि जे निशाना !
कैशोर यौवन जरा–जीवनेर जत किछु दान
आग्रहे लूटिया लइ, जाहा पाइ अमूल्य जे ताइ !
भूलेछि आत्मार कथा, मानि शुधू देहेर सीमाना।[१]

मोहमुग्दर नामक, कविता में इसी मोहवाद का समर्थन कवि ने किया है। कवि का प्रथम काव्य ग्रंथ है 'देवेन्द्र मंगल' (१९१२) केवल तेरह पृष्ठों में। दूसरे संग्रह हैं 'स्वपन पसारी (१९२२), विस्मरणी (१९२१), स्मर-गरल (१९३६), हेमन्तगोधूलि (१९४१) तथा छंद चतुर्दशी (१९५१)।

मोहितलाल के काव्य में अति आधुनिक वाद का विलासी रूप अभिव्यक्त हुआ, किन्तु यतीन्द्रनाथ की भूमि मोहितलाल से कुछ दृढ़ थी। मूल भावना दुःखवाद का परिणाम थी। इनके रचित ग्रंथ हैं—मरीचिका (१९२३), मरुशिखा (१९२७), मरुमाया (१९३०), सायम् (१९४०), त्रियामा (१९४८), निशान्तिका (१९५७) अनुपूर्वा (१९४६), अन्तिम दो इनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए थे। जिस नयी भूमि को ये कवि प्राप्त करना चाहते थे, वह इन्हें मिल नहीं पा रही थी, अतः स्थूल पक्ष से संलग्न रहे। इनका जगत् रहा सुन्दरानुभूति ही।

वास्तव में एक नया सुर जो रोमाण्टिक छाया से दूर होने को प्रस्तुत हुआ नजरुल इस्लाम का था। इन्होंने 'अग्निवीणा' (१९२२) नामक काव्य-संग्रह

१. **देह की अरणि के मन्थन से अग्निकण मिलते हैं,
उसी में दहन का मीठा विष मेरे लिए मदन की आराधना है।
आज अब भय नहीं, दुःख-सुख दोनों समान हैं,
साधक हम हैं सभी, जानते हैं जन्म में और कुछ नहीं।
उनके लिए स्वर्ग का लोभ करते नहीं, नरक का जो निशाना नहीं,
कैशोर यौवन वृद्धावस्था—इनमें जीवन का जितना कुछ भी दान है।
उसे आग्रहपूर्वक लूट लिया है, जो कुछ मिला है वह सब अमूल्य है,
आत्मा की कथा विस्मृत हो चुकी है, शरीर की सीमाओं को मान्यता मिली है।**

द्वारा यथार्थतः एक विद्रोह-भावना की अग्नि प्रज्वलित कर दी थी। इसीके उपरान्त 'धूमकेतु'[1] (१९२२) प्रकाशित हुआ। इन दोनों ने नजरुल को एकदम लोकप्रिय बना दिया। नजरुल की काव्य-दृष्टि ने धार्मिक संकीर्णता को प्रश्रय नहीं दिया। उसने जहाँ, 'रक्तांबर-धारिणी माँ', 'आगमनी' आदि विषयों पर काव्य लिखे वहीं उसने 'कोरबानी (कुरबानी) तथा 'मुहर्रम' पर भी लिखे। भारत में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए जो वेदना भीतर जग रही थी, उसीका उद्घाटन इस कवि ने ओजस्वी भाषा और भावों से युक्त अपनी रचना में कर दिया। साथ ही 'अति-आधुनिक वाद' की मोहितलालवाली परम्परा को भी इन्होंने अछूता नहीं रहने दिया। इस क्षेत्र में भी कितनी ही रचनाएँ प्रस्तुत कीं, पर निश्चय ही इनकी इन कृतियों में प्रेम और विलास-भाव का समावेश पर्याप्त संयत है।

इनके कुछ अन्य काव्य ग्रंथ है—दोलनचाँपा, माँगार गान, पूवेर हाओया, विषेर वांशी, सिन्धुहिल्लोल, छायानट, बुलबुल, रुवाइयात-इ-हाफिज[2] आदि।

देश-दशा, दरिद्र के प्रति करुणा, गाँवों की ओर आकर्षण की प्रवृत्ति और दूसरी 'काम-रति' प्रेम-विलास की देह-धर्मी प्रवृत्ति—ये दोनों साथ-साथ चलीं। श्री शिवराम चक्रवर्ती के दो काव्य ग्रंथ प्रकाश में आये, दोनों में से एक है 'मानुष' जिसमें कई रचनाएँ श्रमिकों और दरिद्रों की वेदना को परिस्फुटित करती हैं, और दूसरी हैं 'चुम्बन' जो 'कामरतिर जयोच्छ्वास' से युक्त है। श्री अचिन्त्यकुमार सेनगुप्त में प्रेम विषयक कविता के अनोखेपन के साथ छंद और अक्षर की भावमैत्री भी मिलती है। इनकी श्रेष्ठ कविता 'अमावस्या' (१९३०) मानी जाती है।

१. यह पाक्षिक पत्रिका थी। धूमकेतु के कारण सरकार की दृष्टि भी इन पर पड़ी, और इन्हें दंड भी भोगना पड़ा।

२. नजरुल इस्लाम प्रथम महायुद्ध में पल्टन में भरती होकर मेसोपोटामिया गये थे। वहाँ एक मौलवी साहिब से हाफिज का कलाम सुनकर ये फड़क उठे। इन्होंने उसी समय से उनसे फारसी पढ़ना आरम्भ किया। हाफिज के काव्य ने इनमें काव्य प्रेरणा जागरित कर दी थी।

इस काल में तीन व्यक्ति 'आधुनिक कवि' कहे जाते थे, उनमें प्रेमेन्द्र मित्र तथा बुद्धदेव मुख्य हैं। प्रेमेन्द्र के काव्य में आदिम मानसिकता ही नहीं मिलती, लक्ष्य-भ्रष्ट 'पृथिवीर माइ' से आदिम 'अभिशाप-बहि मोरा चिरेदिन' मानव का देवता मानव श्रमिकों में चलता मिलता है—'तार साथे पाओदल, चलेछेन मानवेर देवता'।

बुद्धदेव वसु ने प्रेमेन्द्र से अधिक लिखा। इनकी प्रथम कृति 'मर्मवाणी' नाम से १९२५ में प्रकाशित हुई। किन्तु इन्हें काव्य-रचना में ख्याति मिली 'बंदीर बंदना' (१९३०) से। इनमें यौवनावेग और यौन आकांक्षा की तीव्रता अभिव्यक्त हुई है। 'पृथिवीर प्रति' (१९३३) भी प्रेम-कविताओं का संग्रह है। कंकावती १९३१ में प्रकाशित हुई। कवि १९३५ से कभी-कभी उस प्रवृत्ति को प्रश्रय देने लगा था जिसे हिन्दी में प्रयोगवादी कहा जाता है। बहुधा यह भाषा-रूप के निर्माण में ही दिखाई पड़ती है, जैसे—

झाँके-झाँके प्ल्याकार्डेर शकुनेर पाखा
आमादेर दिनेर मुखेरे टेके देय।
आमादेर दिनगुलो गुंड़ो-गुंड़ों हये भेंगे जाय
ट्राफिकेर चाकाय-चाकाय।

'दमयन्ती' नामक संग्रह के परिशिष्ट में कवि ने अपने इस भाषा प्रयोग पर एक वक्तव्य भी दिया है। १९४९ में 'द्रोपदीर शाड़ि' प्रकाशित हुई।

इन 'आधुनिक कवि' कही जानेवाली प्रतिभाओं ने 'आधुनिक' को जो रूप दिया उससे दो बातें स्पष्ट हैं—१. देह-संभोगी यौवन-सौन्दर्य और यौन आकांक्षा के विविध भाव-स्तरों को विचित्र भावरूपों (Images) में प्रस्तुत करना भावरूपों में अनुकरण रवीन्द्र का हुआ मिलता है, पर प्राणों में चार्वाक निहित है। २. छंद तथा भाषा में अनोखी उत्क्रान्ति। इस समस्त नव्य प्रयत्न को प्रेरणा मिल रही थी पाश्चात्य काव्यधाराओं से, विशेषतः अंग्रेजी काव्य-सिद्धान्तों से। इस समय तक जिन तत्त्वों के केवल बीज दिखाई पड़ रहे थे, इससे आगे वे कुछ और परिपक्व तथा अंकुरित हुए। इस आधुनिक और अति-आधुनिकवाद के प्रवर्तकों में पद-पद पर रवीन्द्र के कारण हीनता की भावना विद्यमान मिलती है। एक ईर्ष्या और परिणामतः यह प्रयत्न कि रवीन्द्र की

परिपाटी, स्वरूप, भाव और आदर्श सभी को परित्यक्त समझा जाय, और इनसे आगे या पूरे किसी परिपाटी को ग्रहण किया जाय। 'प्रगति' नाम की एक पत्रिका का मुख्य उद्देश्य ही यही था कि "रवीन्द्रनाथ हइते आगइया जाओया अर्थात् रवीन्द्र-रीति सबले अस्वीकार"। पाश्चात्य क्षेत्र के जिन साहित्यकारों का प्रभाव धीरे-धीरे बंगाली कवियों पर गहरा पड़ता जा रहा था वे थे—डी० एच० लारेन्स—ऐन्द्रिक स्वादवादी; फ्रायड—दमित मानसोत्स्फुरित यौन भावनावादी मनोविश्लेषण; ईलियट—अननुभूत पूर्वी नवीन भावावेग (एमोशन) के समावेश से नवीन रससृष्टि; मालार्मे—प्रयोगवादी, शब्द गौरव को प्रधानता; प्राउस्ट—नास्तिक भाव-संबद्ध इन्द्रिय ग्राह्य अनुभूति मात्र का महत्त्व; एजरा पाउण्ड—भावरूप (Images) ग्रथनवादी इमेजिस्ट या बिंबवादी; मार्क्स और लेनिन—साम्यवादी।

यह नयी प्रयोगवादी चेतना जीवनानन्द दास में सबसे प्रबल थी। इन्हीं में हमें पूर्ण व्यवस्थापूर्वक प्रत्येक रवीन्द्रीय-तत्त्व का परित्याग दिखाई पड़ता है। इनकी इस रवीन्द्र-विपरीती मनोवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए डॉ० सुकुमार सेन के इतिहास से एक लम्बा उद्धरण देना आवश्यक प्रतीत होता है:—

"जीवनानन्द प्राणपणे रवीन्द्रनाथके पाश काटाइते चेष्टा करियाछेन। किन्तु आसले तिनि जेन आद्यन्त "संध्या संगीत" एर भावानुप्राणित। सत्य कथा बलिते कि धूसर-पाण्डुलिपिर अनेक कवितायइ जेन संध्या संगीतेर अस्फुट अनभिव्यक्त, अन्तर्व्याप्त आवेग वहन करितेछे। मने हय बाल्ये एवं कैशोरे संध्या संगीत जीवनानन्द के अत्यन्त आविष्ट करियाछिल। से आवेश ना काटिया परे ताहार कविताके निजेर पथे परिचालित करियाछे। हयत एइ परिचालना संभावित हइयाछिल कौन निदारुण दुर्घटनाय अथवा नितान्त हताशाय (फ्राष्टेशने)। ताइ रवीन्द्रनाथेर कवितार आनन्देर सौरकरोज्ज्वलता जीवनानन्देर कविताय प्रतिहत। अधिकन्तु इहा ताँहार कविचित्तके मर्विड करियाछिल एवं सेइ मर्विडिटि ताँहार कविताय प्रतिफलित। क्षय ओ मृत्युर प्राय सब रकम दिक जीवनानन्देर कविमानसे विभीषिका ओ जुगुप्सार संचारना करिया निश्चयइ खानिकटा आनन्देर इंगित करित। ना हइले कविता लिखिते पारितेन ना। हयत केन निश्चयइ इहार मध्ये खानिकटा आधुनिक इउरोपीय

साहित्येर अन्वीक्षार अनुसरण छिल, जे अन्वीक्षा जगत् ओ जीवनेर समस्त फाँक ओ जोड़ातालि विदीर्ण, विच्छिन्न करिया असूर्य गभीरताय नामिया जाइते चाया लक्ष्य करिते हइवे जे जीवनानन्देर कविताय फुल नाइ, एवं कविप्रसिद्ध बसन्तेर स्थाने तिनि ग्रहण करियाछेन शरत्शेष। अवश्य शेषेर व्यापार विलाति कवि प्रसिद्धिर अनुसरण छाड़ा किछु नय केनना आमादेर देशे साधारणत अग्रहायण मासे गाछेर पाता हलदे हइया झरिया पड़े ना।

हयत खूब सचेतन भावेनय, तबू ओ जीवनानन्द ताँहार कविताकर्मे रवीन्द्रनाथेर ठीक विपरीत पथे चलिते चाहियाछेन। सिंबलेर व्यवहारे इहार प्रकृष्ट प्रमाण। जीवनानन्देर कविताय हेमन्तेर शश्यरिक्त शून्य माठे म्लान बाँका चाँद जेन मरणाभिसारेर प्रेत साक्षी; जीवनेर क्षुधार प्रतीक ईंदुर; घासेर कदर कोमलतार ओ खाद्यत्वे जन्य, पेंचा महाकाल; सौन्दर्येर अन्तस्तले शादा हाड़ेर कंकाल; कविदेह जेन फसल काश्तेर अपेक्षाय; प्रेमेरस्वाद तिक्तता। रवीन्द्रनाथेर दृष्टि जेखाने पड़े सेखाने आलो सौन्दर्य; जीवनानन्देर दृष्टिरति अन्धकारे कुत्सिते (कुंज, गलगण्ड, पचा चाल कुमड़ा, मरा घास)। रवीन्द्रनाथेर बलाका अनन्तेर यात्री, जीवनानन्देर बूनो हाँस शिकारेर लक्ष्य। रवीन्द्र नाथेर मनेर हरिण निर्बंधन आनन्देर उद्दामता, जीवनानन्देर बनेर हरिण घाइ-हरिणीर मोहबद्ध बलि। रवीन्द्रनाथेर घास नवनवायमान चिरन्तन प्राण प्रवाहेर प्रतीक जीवनानन्देर घास पशुदेर मत उपभोगेर (Munching and wallowing) प्रतीक। रवीन्द्रनाथे चक्षुरिन्द्रिय प्रधान, जीवनानन्दे रसना।"

१. जीवनानन्द ने प्राणपण से रवीन्द्रनाथ के फन्दे को काटने की चेष्टा की है। किन्तु वास्तव में वे आज तक 'संध्यासंगीत' के भाव से अनुप्राणित हैं। सच बात कहें तो यह है कि धूसर पाण्डुलिपि की अनेक कविताएँ 'संध्यासंगीत' के अस्फुट, अनभिव्यक्त, अन्तर्व्याप्त आवेग को वहन करती हैं। बात यह है कि बाल्यकाल एवं कैशोर में जीवनानन्द को 'संध्यासंगीत' ने बहुत अधिक प्रभावित कर लिया था। यह आवेश काटे नहीं कटा, और यह उनकी कविता को अपने मार्ग पर घसीटे लेता है। इस आवेश से परिचालित होने से एक दारुण स्थिति पैदा हो गयी है, नितान्त हताशा अथवा फ्रस्ट्रेशन

इस विवेचन से जीवनानन्द की प्रवृत्ति और काव्यत्व पर यथेष्ट प्रकाश पड़ जाता है। भारतीय परम्परा से एक प्रकार जैसे सर्वथैव उच्छिन्न, नयी-नयी भावरूप उद्‌भावनाओं को कवि-परिपाटी-विच्छिन्न शब्दों और प्रतीकों तथा सिंबलों (Symbols) के माध्यम से प्रकट करने की चेष्टा का परिपूर्ण प्रतिफलन जीवनानन्द में हुआ।

विष्णदे ने जीवनानन्द के चरणों पर चलने का प्रयत्न किया, पर इनका आदर्श ईलियट हुआ, और १९४१ तक ये मार्क्स और लेनिन वादी हो गये।

सुधीन्द्रनाथ दत्त ने स्वयं तो अपने को मालार्मे का अनुयायी बताया है,किन्तु वस्तुतः वे प्राउस्टवादी हैं। वही अनात्मवादिता, वही बुद्धि में अनास्था, वही

की। इसी रवीन्द्रनाथ की कविता के सूर्यकिरणोज्ज्वल प्रकाश ने जीवनानन्द की कविता को प्रतिहत अथवा क्षुब्ध कर दिया है। इससे भी बढ़कर इसने उसके कविचित्र को मर्बिड (Morbid विकृत) कर दिया है, और यही मार्बिडिटी उसकी कविता में प्रतिफलित हो उठी है। क्षय और मृत्यु के प्रायः सभी प्रकार जीवनानंद के कविमानस में विभीषिका और जुगुप्सा का संचार करके उन्हीं में कुछ आनंदलाभ की ओर संकेत करते हैं, अन्यथा वह कविता न लिख पाते। यह भी निश्चय है कि इसमें यूरोपीय साहित्य के दर्शन का कुछ अनुसरण भी है। इस दर्शन में जगत् और जीवन के समस्त जोड़-तोड़ों को विदीर्ण और विच्छिन्न करके उनमें विद्यमान रहस्यमय गंभीरता को नमन करना चाहता है। यह लक्ष्य करनेयोग्य है कि जीवनानंद की कविताएँ फूल नहीं, तथा इन्होंने कविप्रसिद्ध वसन्त के स्थान पर ग्रहण किया है शरत शेष। निश्चय यह शरत भारती के शेष का व्यापार बिलायती कवियों की प्रसिद्धि के अनुसरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि हमारे देश में साधारणतः अगहन मास से वृक्षों के पत्ते पीले होकर झड़ने लगते हैं।

यद्यपि बहुत चेतन भाव से तो नहीं, फिर भी जीवनानन्द ने अपनी काव्य-कृतियों में रवीन्द्रनाथ से ठीक विपरीत पथ पर चलने की चेष्टा की है। सिंबल (प्रतीक) के व्यवहार में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। जीवनानन्द की कविता में हेमन्त के दृश्यहीन आकाश का म्लान वक्र चन्द्र मरणाभिसार के

प्रेम की अवास्तविकता तथा इन्द्रियग्राह्य अनुभूतियों का महत्त्व और प्राचीन शब्दों से नये अर्थों को ग्रहण करने का प्रयत्न।

इस प्रकार बंगाली काव्य-धारा की दिशा और विकास स्पष्ट हो जाता है। यों तो आधुनिक युग में आरम्भ से ही पाश्चात्य प्रभाव प्रमुख दृष्टिगत होता है, पर ईश्वरचन्द्र गुप्त, माइकेल मधुसूदन दत्त से लेकर रवीन्द्रनाथ तक हमें पाश्चात्य प्रभाव भारतीय परम्परा के अनुकूल ढलकर आया मिलता है। किन्तु 'आधुनिकवाद' से हमें यह प्रयत्न दिखाई पड़ता है कि समस्त काव्य को परम्परा और रूढ़ियों से मुक्त कर दिया जाय, और इतिहास से उच्छिन्न।

प्रेत का साक्षी है। जीवन की क्षुधा का प्रतीक है चूहा। घास का आदर कोमलता और खाद्य के लिए है, उल्लू महाकाल है, सौन्दर्य के अन्तस्तल में है हाड़ों का कंकाल, कवि देह जेन फसल काश्तेर अपेक्षाय, प्रेम का स्वाद तिक्तता है। रवीन्द्रनाथ की दृष्टि जिस स्थान पर पड़ती है वहीं प्रकाशमय सौंदर्य प्रकाशित हो उठता है, जीवनानन्द की दृष्टि अन्धकारमय कुत्सित में (कुंज, गलगड़, पचा चला कुमड़ा, मराघास) में ही रमती है। रवीन्द्रनाथ की बलाका (बगुला) अनन्त की यात्री है, जीवनानन्द का बूनो (हंस) हंस शिकार का लक्ष्य है। रवीन्द्रनाथ के मन का हरिण घाइ-हरिणी के मोह में बँधा हुआ बलि-प्राण है। रवीन्द्रनाथ की घास नयी से नयी नवीनता-युक्त चिरंतन प्राणों के प्रवाह की प्रतीक है, जीवनानन्द की घास, पशुओं के पगुराने और पसरने की वृत्ति की प्रतीक है। रवीन्द्रनाथ में चक्षु इन्द्रिय की प्रधानता है, जीवनानंद में रसना की प्रधानता है।

अध्याय ८

(अ)

उपन्यास

अब तक हमने उन काव्य रूपों का इतिहास दिया है जिनकी परंपरा अपने रूप में बँगला साहित्य में विद्यमान थी। किन्तु आधुनिक युग में जो नये रूप प्रस्तुत हुए अब उनका इतिहास देना है। उपन्यास एक ऐसा ही रूप है। यह आधुनिक युग की ही देन है। उपन्यास के उद्भव से पूर्व बंगाल में लोक-कथा तथा कहानियों का प्रचार था। ये सभी प्रायः पद्यबद्ध थीं। अनेक लौकिक देवी-देवताओं-विषयक साहित्य कथा-कहानियों का ही भंडार था। इनमें ही कुछ सामान्य लोक-कहानियाँ सम्मिलित होकर कुछ समय तक तो धार्मिक उपयोग में आती रहीं, बाद में वे स्वतंत्र रूप से लोक-प्रेम-काव्य में परिणत हो गयीं। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण है 'विद्यासुन्दर'। भारतचन्द्र के हाथ में 'विद्यासुन्दर' ने परिनिष्ठित क्लासिकल साहित्य का रूप ग्रहण कर लिया था। यह एक लोक-कथा है जिसमें सुन्दर नाम का राजकुमार विद्या के भवन में चोरी-चोरी मिलता है। बाद में दोनों का विवाह हो जाता है। देवी-देवताओं के चमत्कार भी इसमें आये हैं। विद्या तथा सुंदर की प्रेम-लीलाओं में ऐन्द्रिकता पूर्णतः परिपुष्ट हुई। इसी परंपरा के ह्रास-युग में एक लोक-कहानी 'कामिनी कुमार' नाम की पद्य में लिखी गयी। इसमें जहाँ तहाँ 'गद्यछंद'[1] भी दिये गये हैं। ये अठारहवीं शताब्दी के साहित्यिक गद्य के नमूने हैं। कामिनी कुमार की कहानी संक्षेप में यह है—

कुमार नामक सौदागर की सुंदरी पत्नी थी कामिनी। कुमार सौदागरी के लिए विदेश गया। वहाँ वह एक राजा की कन्या के प्रेमपाश में बँध गया। वह उस राजकन्या की स्त्री-दासी के रूप में राजमहल में रहने लगा। बहुत

१. यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इस काल में गद्य को 'गद्य छंद' कहा गया है।

दिन बीतने पर कामिनी अपने पति कुमार की तलाश में निकली। उसी राज में पहुँचने पर उसे अपने पति का पता लगा। तब कामिनी ने राजकुमार क रूप धारण किया। वहाँ के राजा ने अपनी पुत्री का विवाह कामिनी से कर दिया। कामिनी ने कुमार को चोर कहकर पकड़ लिया और उसे दंडित करने का अधिकार वहाँ के राजा से माँग लिया। यहीं एक गद्य-छंद दिया गया है, जो इस प्रकार है—

"सदागर अति कातरे एइ रूप पुनः पुनः शपथ कराते सुन्दरी ईषत् हास्य-पूर्वक सोनाके संबोधन करिया कहि लेक, 'ओहे चोपदार एइ चोर एतादृश कटु दिव्य बारंबार करिछे ओ नितान्त शरणागत हइया आश्रय जाचिञ्चा करितेछे, अतएव शरणागत निग्रह करा उचित नहे वरं निराश्रयेर आश्रय देओया वेद विधि सम्मत बटे। और विशेषत आमादेर अधिक भृत्य संगेते नाइ, अतएव अन्य कर्म्म उहा हइते जत हउक, आर ना हउके, किन्तु एक आध छिलिम तामाक चाहिले ओ त साजिया दिते पारिबेक। ताहार आर तो कौन सन्देह नाइ तबू जे अनेक उपकार। सोना कहिलेन 'हाँ थाके थाक'। कामिनी एइ रूप सोनार सहित परामर्श करिया सदागर के कहिते छेन। 'शुन चोर तूमि जे अकर्म्म करियाछ ताहार उपयुक्त फल तोमाके देओया उचित, किन्तु तोमार नितान्त न्यूनता ओ विनये काकुति मिनति एवं कठिन शपथे ए जात्रा क्षमा करिलाम। ए क्षणे आमार सर्व्वदा आज्ञाकारी हइया थाकिते हइबेक, आमि जखन जाहा कहिब तत्क्षणात् सेइ कर्म करिबे, ताहारेते अन्यथा करिले तद्दण्डे राजार निकट प्रेरण करिब, ताहार आर कथा नाइ। किन्तु जदि कर्म्मेर द्वाराय आमाके सन्तोष करिते पारह, तबे तोमार पक्षे शेषद्ध विवेचना करा जाइबेक। सदागर एइ कथा शुनिया मने मने विवेचना करिलेक जे राम बाँचा गेल, आर भय नाइ। परे कृतांजलिपूर्वक कामिनीर सम्मुखे कहिते छे, 'महाशय जे घोर दाय हइते ए दासेर प्राण रक्षा करिलेन इहातेइ बोध हय आपनि जन्मान्तरे ए दीनेर केह छिलेन, ताहाते कौन सन्देह नाइ, नतुबा एमत उपकार पर परेर जे तो कखन करेना। से जाहा हउक आजि हइते कर्त्ता तुमि आमार धरम बाप हइले, जखन जे आज्ञा करिबेन एइ भृत्य कृतसाध्य प्राणपणे पालन करिब।' कामिनी कहिलेक, 'ओहे चोर तुमि आमार

आर कि कर्म्म करिबेक, केवल हुकार कर्म्मे सर्वदा नियुक्त थाकह, और एक कथा तोमाके चोर चोर बलिया सर्व्वदा वा काहाँतक डाकि, आजि हइते आमि तोमार नाम रामबल्लभ राखिलाम।' सदागर कहिलेक 'जे आज्ञा महाशय' —इत्यादि।[1]

१. सौदागर को अति कातर भाव से इस प्रकार बार-बार शपथ करते देख सुन्दरी ने ईषत् हास्यपूर्वक सोना को संबोधन करते हुए कहा—ए रे चोबदार, यह चोर इस प्रकार कटु शपथें कर रहा है और नितान्त शरणागत होकर आश्रय की याचना कर रहा है, अतएव शरणागत की ताड़ना उचित नहीं, वरन् वेद की सम्मति से तो निराश्रय को आश्रय देना धर्म है। और फिर हमारे पास बहुत सेवक तो हैं, इसलिए और जो काम कर रहे हैं करते रहें; किन्तु यह हमें एकाध चिलम भरकर दे दिया करेगा, यही बहुत है। सोना ने कहा—हाँ ठीक है, ठीक है। कामिनी ने सोना से इस प्रकार परामर्श करके सौदागर से कहा—ए चोर, सुनो, तुमने जो अकर्म किया है उसका तो फल तुम्हें मिलना ही चाहिए। किन्तु तुम्हारी आत्यन्तिक दीनता और विनय, विनम्रता तथा कठोर शपथों के कारण तुम्हें क्षमा करती हूँ। इस समय से तुम्हें हमारा पूरी तरह आज्ञाकारी होकर रहना पड़ेगा। मैं जिस समय जो कहूँ उसका तुरन्त पालन करना होगा, इससे यदि अन्यथा व्यवहार किया तो इसके दण्ड-स्वरूप तुम्हें बाजार में भेजा जायगा। इस सम्बन्ध में और कुछ सुना नहीं जायगा, किन्तु यदि अपने काम से तुमने मुझे सन्तुष्ट कर दिया तो तुम्हारे हित में विचार किया जा सकेगा। सौदागर यह सुनकर मन में सोचने लगा कि राम राम करके इस बार बच गया, और कोई भय की बात नहीं। तब उसने हाथ जोड़कर कामिनी के सम्मुख कहा—महाशय, आपने महान् दायित्व रहते हुए भी इस दास के प्राणों की रक्षा की है, इससे ही यह विदित होता है कि आप जन्म-जन्मान्तरों में मेरे अवश्य कोई रहे हैं, इस में सन्देह नहीं। नहीं तो इस प्रकार गैरों पर कौन उपकार करता है। जो भी हो, हे कर्त्ता, आज से आप मेरे धर्मपिता हुए, जिस समय जो आज्ञा देंगे यह आपका दास प्राणपण से यथासाध्य पालन करेगा। कामिनी ने कहा—अरे ओ चोर,

विद्यासुंदर कथानक से एक संशोधन तो इस कथा में स्पष्ट मिलता है। दैवी अथवा अति पुरुषार्थी घटनाएँ इसमें नहीं। राजकुमार सुंदर भूमि के नीचे गुफा खोदकर विद्या के भवन में पहुँचता है। गुफा खोदने का कार्य अति मानवी माना जा सकता है; दैवी अस्त्र से वह सफल होता है। नल दमयंती के कक्ष में अदृश्य होकर पहुँचता है। इस कहानी में सौदागर महोदय स्त्रीवेश धारण करके प्रिया से मिलने का अवसर निकालते हैं। वैचित्र्य भी है। यदि कथन में मनोवैज्ञानिक चित्रण का प्रवेश हो जाय तो, और यह समस्त कथा उक्त अंशरूपेण यदि गद्य में लिख दी जाय तो हम उस उपन्यास के निकट पहुँच रहे होंगे जो सीधे अंग्रेजी या पाश्चात्य प्रभाव से आया। उक्त कथांश आगे आनेवाले उपन्यास का पूर्व रूप माना जा सकता है। पर यह परंपरा उपन्यास को जन्म नहीं दे सकी। यह केवल इतना संकेत करती है कि उपन्यास शैली की कहानी की प्रवृत्ति के बीज पहले से विद्यमान थे। बँगला गद्य की ओर ध्यान जाते ही हमें बँगला भाषा की समृद्धिशीलता का परिचय मिलता है। इसे विदेशियों ने भी स्वीकार किया था।[1] केरी महोदय ने बँगला भाषा के मुहाविरों की ओर ध्यान दिया। इसी मुहावरे और कथोपकथन की शक्ति का साहित्यिक और कुछ-कुछ औपन्यासिक प्रथम परिचय हमें प्याराचाँद मित्र उर्फ टेकचाँद के 'अलालेर घरेर दुलाल' में मिलता है। विविध चित्र और चरित्र के अंकन का एक प्रयोग 'नव बाबू विलास' में कुछ पहले ही हुआ मिलता है। नव बाबू विलास तत्कालीन नव-शिक्षा-

तुम हमारा और क्या काम करोगे, केवल हुक्का भरने के काम पर सदा तत्पर रहना। एक बात और, तुम्हें चोर-चोर कहकर कहाँ तक पुकारा करूँगी, आज से मैं तुम्हारा नाम रामवल्लभ रखती हूँ। सौदागर ने कहा—जो आज्ञा महाशय।—

१. **डॉ० केरी ने लिखा था**—"This language...current through an extent of country nearby equal to Great Britain... when properly cultivated, will be inferior to none n elegance and perspicuity".

दीक्षित बाबू पर व्यंग्य है, भवानीचरण वंद्योपाध्याय द्वारा लिखित। इसकी भी पर्याप्त चर्चा हुई थी। पर 'अलालेर घरेर दुलाल' को तो कुछ विद्वान् बँगला भाषा का प्रथम उपन्यास ही स्वीकार करते हैं। यह १८५८ में[1] प्रकाशित हुआ था। कुछ अंग्रेजी विद्वानों ने इसे मोलियर और फील्डिंग की कृतियों के समकक्ष तक मान लिया था। वस्तुतः चलित भाषा और मुहाविरों की दृष्टि से इसका अधिक महत्त्व है, क्योंकि बंकिमचन्द्र पर भी इस शैली का प्रभाव पड़ा था। इसमें भी वस्तुतः व्यंग्य चित्र हैं, जिन्हें शिथिल औपन्यासिक शैली में गूँथ दिया गया है।

बंकिमचन्द्र चटर्जी का प्रथम उपन्यास 'दुर्गेशनंदिनी' १८६५ में प्रकाशित हुआ। वस्तुतः उपन्यास की पूरी परिभाषा की दृष्टि से बँगला का प्रथम उपन्यास यह 'दुर्गेशनंदिनी' ही है और बंकिमचन्द्र चटर्जी ही बँगला भाषा के प्रथम उपन्यासकार हैं। बँगला भाषा में यह एक दूसरा साहित्यिक चमत्कार है। पहला था माइकेल मधुसूदन दत्त का। नव्य काव्य को पाश्चात्य प्रभाव से प्राणान्वित करके लिखने का प्रयोग दत्त ने किया और उसे क्लासिकल बना दिया। ईश्वरचन्द्र गुप्त और दत्त तक काव्य-विकास की कोई सीढ़ियाँ नहीं। अनायास ही क्लासिकल प्रतिभा ने बँगला काव्य को वरण कर लिया, और वह महाकाव्यत्व उसे प्रदान किया जो आगे विश्व कवि रवीन्द्रनाथ के लिए भी संभव न हो सका। दूसरा चमत्कार बंकिम द्वारा हुआ। उन्होंने उपन्यास लिखा और लिखते ही क्लासिक बना दिया। बंगाल पर छा गये बंकिम बाबू। उपन्यास के जिस विकास की एक चोटी पर बंकिम बाबू के प्रयत्न प्रतिष्ठित हैं उस तक पहुँचने की भी कोई सीढ़ी नहीं। सिद्ध उपन्यासकार की भाँति बंकिम की लेखनी ने बँगला भाषा के साहित्य को समृद्ध किया।

उपन्यास-क्षेत्र में भी हमें मोड़ या प्रवृत्ति-विकास दिखाई पड़ते हैं।

१. श्री जे० सी० घोष महोदय ने अपने ग्रंथ 'बंगाली लिटरेचर' में १२७वें पृष्ठ पर तो इसे १८५८ का बताया है और पृ० १५२ पर १८५७ में प्रकाशित बताया है।

बंकिमचन्द्र चटर्जी ने ऐतिहासिक रोमांस विषयक प्रवृत्तिगत उपन्यास-रचना की। उनके समस्त कृतित्व को निम्न विभागों में विभक्त करके समझा जा सकता है—

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की इस समस्त उपन्यास-सृष्टि की पृष्ठभूमि में जो समस्याएं थीं उन्हें संक्षेप में यों दिया जा सकता है—

१—धर्म (अ) वे देख रहे थे कि धर्म की समस्या जटिल है। अंग्रेजी पढ़े-लिखे धर्म मानते तो नहीं, पर अंग्रेजी के साथ ईसाई धर्म सीख लेते हैं। अंग्रेजी पढ़ कर अपने धर्म की युक्ति-युक्तता तो दूर हो गयी है, ईसाई धर्म की रूपकता आगयी है।

(आ) उनके हृदय में धर्म ने भय उत्पन्न कर दिया है। उसमें जरा से पाप-संकल्प के लिए भी नरक व्यवस्था है।

(इ) धर्म के रूप हैं—भक्ति, प्रीति और शक्ति।

(ई) धर्म-सम्बन्धी विवाद-वेद पौरुषेय अथवा अपौरुषेय।

२—अंग्रेजी से सम्पर्क, उनका अनुकरण। कुछ अनुकरण के पक्षपाती थे, कुछ विरोधी।

३—स्त्री समस्या—कुछ दिनों से धूम मची हुई है कि स्त्रियों की अवस्था का संस्कार करो, स्त्री-शिक्षा का प्रचार करो, विधवाओं का फिर व्याह कर

दो, स्त्रियों को घर के पिंजड़े से निकाल कर उड़ा दो, बहु-विवाह की प्रथा उठा दो, और अन्यान्य प्रकार से मखनिया, बतसिया, गुलबिया को विलायती मेंम बना डालो।

परिवर्तनशील समाज में रहने के कारण अर्थात् शिक्षित और अंग्रेजों का अनुकरण करनेवाले पिता, भाई, पति आदि के संसर्ग में रहने से उनको जो शिक्षा प्राप्त हो रही है, प्रबलतर है।

४——शिक्षा-समस्या——प्राचीन धर्मशास्त्रों में अविश्वास। बंकिम ने पूछा है कि जो लोग स्त्री-शिक्षा के लिए व्यग्र हैं, उनसे हम पूछते हैं कि आप लोग बालक-बालिकाओं के हृदय से धर्म बंधन को हटाते हैं, तो उसकी जगह पर क्या स्थापित करते हैं?

५——देश की दुर्दशा का अनुभव——आर्थिक हीनता और सामाजिक रूढ़ियाँ। बंकिम लिखते हैं कि यह विचार कर देखने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती कि व्याह के बाद लड़का अपनी स्त्री को खिला-पिला सकेगा या नहीं।

लड़का होने से उसका व्याह करना ही होगा, हर एक मनुष्य को व्याह करना ही चाहिए और लड़के का बचपन में व्याह कर देना भी प्रधान कार्य है। ऐसा भयानक भ्रम जिस देश में सर्वव्यापी है उस देश की भलाई कहाँ से हो सकती है?

६——पराधीनता के प्रति असन्तोष। इसमें न केवल अंग्रेज शासकों का वरन् ब्राह्मणीय शासन की ओर भी संकेत है। आधुनिक भारत यदि प्रभु जाति की प्रधानता से पीड़ित है तो प्राचीन भारत में भी ब्राह्मणों के प्राधान्य की पीड़ा कम न थी।

७——भारत में दो नवीन भाव——स्वातन्त्र्यप्रियता और जातीय प्रतिष्ठा।

८——साहित्य में प्रकृत और अतिप्रकृत। जब तक साहित्य प्रकृति के अनुकरण पर न होगा तब तक वह उपयोगी नहीं हो सकता।

९——मातृभाषा प्रेम का अभाव, उसको जागृत करने का उद्योग।

१०——शिक्षित और अशिक्षित वर्ग के निर्माण हो जाने से एक नये प्रकार

का अलगाव हो जाने की समस्या—उस अलगाव का विशेष कारण भाषा का भेद है।

११—प्राचीन धर्म-रूढ़ियों के नये अर्थ। नयी दृष्टि से उपयोगी व्याख्या करने की प्रवृत्ति।

बंकिम के उपन्यासों में इन्हीं समस्याओं का समावेश है।

बंकिम के इन ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास का तो आधारमात्र है, रोमांस के द्वारा मानव को मानव के रूप में प्रकट किया गया है, जो धर्म की संकीर्ण-भूमि से बँधा नहीं है—आयेशा मुसलमान होते हुए भी जगतसिह से प्रेम करती है (दुर्गेशनंदिनी)। ऐतिहासिक वृत्त प्रायः ऐसे हैं जिनमें किसी एक वर्ग द्वारा किसी दूसरे को पराधीन बनाने और पद-दलित करने की घटना समाविष्ट है। अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास मुसलमानी काल से संबंधित हैं। स्वभावतः ऐसे वृत्तों में विजेता और अत्याचार-कर्त्ता मुसलमान हैं। लेखक पराधीनता को असहनीय समझता है, अतः उसकी सहानुभूति पददलितों और पराजितों की ओर है, जो इन वृत्तों में हिन्दू हैं, और यह एक घटनामात्र ही है कि लेखक स्वयं हिन्दू है। अतः हिन्दू को लेखक का स्वपक्ष समझ कर उसके उपन्यासों के संघर्ष को नहीं समझा जा सकता। उपन्यासकार के नाते हिन्दू को हिन्दू और मुसलमानों को मुसलमान उन्हें दिखाना ही चाहिए। पर उनका यथार्थ उद्देश्य तब समझा जा सकता है जब समीकरण-गणित से हिन्दू को 'क' और मुसलमान को 'ख' समझ लिया जाय। ऐसे समस्त समीकरणों का अर्थ स्पष्ट है कि वे पराधीनता विरोधी हैं और प्रत्येक विजेता से उन्हें घृणा है। उनके उपन्यासों में आनन्दमठ और देवी चौधुरानी में राजनीतिक तत्त्व भी निहित हैं, क्योंकि इनमें ऐसी पराधीनता से मुक्ति पाने के लिए, संगठन करके क्रान्ति के लिए अग्रसर होने के लिए, मार्ग का निर्देश भी विद्यमान है, और एक उद्दीपन और उत्तेजना भी। फलतः इन उपन्यासों को अंग्रेज-सरकार द्वारा कुछ समय के लिए वर्जित कर दिया गया था। 'वंदेमातरम्' नामक प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत बंकिम चन्द्र ने इन्हीं में से एक के लिए रचा था।

आनन्दमठ में राष्ट्रोद्धार में नियोजित आनंदमठ के संन्यासियों के ब्रह्मचर्य-

व्रत के भग्न होने से उनका क्रान्ति-प्रयत्न भ्रष्ट और असफल हो जाता है, इस स्थापना के कारण बंकिम को इतिहास के मध्ययुगीन सत्य को ही उद्-घाटित करने वाला नहीं माना जा सकता, वरन् उन्होंने इनमें भारतीय समाज के आने वाले स्वातंत्र्य संग्राम की आधारनीति की भी भविष्यवाणी की और उसके खतरे की ओर भी संकेत किया।

इनके उपन्यासों में सामान्य और असाधारण प्रकार के पात्रों की कल्पना भी की गयी है। कपालकुंडला, कापालिक, आदि असाधारण पात्र कहे जा सकते हैं।

जीवन में चारित्रिक नीतिबंधन और पवित्र आचार की सीमाओं को उपन्यासकार अंतरतः मान्य समझता है। चरित्र-पतन को उसने सभी प्रकार के पतन का मूल माना है। ऐसे पाप का गहरा प्रभाव उसने दिखाया है। कितनी ही सामाजिक विषमताओं की ओर उन्होंने संकेत किया है, किन्तु उन्होंने स्त्री को सत पर दृढ़ रखा है, और उसे अत्यन्त ही अभिनंदनीय दिखाया है।

पाश्चात्य सभ्यता के उद्भ्रान्तक, नास्तिक और यौनसंबंधीय स्व-च्छन्दतावादी प्रभाव के कारण उपन्यासकार कुछ आशंकित थे, अतः उन्होंने अपने उपन्यासों द्वारा उन तथ्यों को परिपुष्ट करना चाहा है जो भारतीय समाज की रीढ़ हैं; उनकी रक्षा करते हुए किसी भी सुधार को वे ग्राह्य मानते हैं।

उपन्यास-कला की दृष्टि से भी ये उपन्यास उस युग की कला के आदर्श के पूर्णतः अनुकूल थे। उपन्यासों में रहस्य का वातावरण अपेक्षित होता है, इसके लिए बंकिम को तांत्रिक प्रणाली के अनुष्ठानों से सहायता मिली है। इससे स्वाभाविकता की क्षति नहीं हो पायी, क्योंकि तंत्र-विषयक अनुष्ठानों के साथ यह रहस्यान्विति रहती ही है। स्वप्नों ने इन उपन्यासों में कई प्रकार का योगदान दिया है। आकस्मिक घटनाओं का भी आश्रय लिया गया है।

बंकिम के उपन्यासों के कारण उपन्यासों की चाह बहुत बढ़ गयी। फलतः बंकिम के बाद एक अनवरत परंपरा स्थापित हो गयी। इनमें से

ऐतिहासिक उपन्यासकार की दृष्टि से रमेशचन्द्र दत्त का नाम उल्लेखनीय है। इनके चारों ऐतिहासिक उपन्यासों—बंग विजेता, माधवी कंकण, राजपूत जीवन संध्या तथा महाराष्ट्र जीवन प्रभात का बड़ा यश रहा। विद्वानो की राय में इनके ऐतिहासिक उपन्यासों से अधिक श्रेष्ठ हैं इनके दो सामाजिक उपन्यास—'संसार' तथा 'समाज'। इनकी विशेषता है ग्राम्यजीवन का दिग्दर्शन।

बंकिम ने उपन्यास का जो आदर्श उपस्थित किया था वह चलता रहा। उसमें एक मोड़ दिया शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय ने।

बंकिम तथा शरत के बीच के कुछ उपन्यासकारों का उल्लेख यहाँ किया जाता है—

उपन्यासकार	उपन्यास
प्रभात कुमार	रमासुदरी (१९०८)
	नवीन संन्यासी (१९१२) यथार्थोन्मुख
	रत्नदीप (१९१५)
	जीवनेर मूल्य (१९१७)
	सिंदुर कांँटा (१९१९)
	मनेर मानुष (१९२२)
	सत्यबाला (१९१५)
	सतीर पति (१९२८)
जलधर ..	विशु दादा (१९११)
	करिम सेख
	किशोर
	अभागी
	ईशानी
	हरिश भाण्डारी
	चौखेर जल
	घोल आनि
	सोनार बाला
	दान पत्र

शिव सीमन्तिनी
परस-पाथर
भवितव्य
तिन पुरुष
उत्स

मनोमोहक चट्टोपाध्याय। अपराजिता (१९२०)
मानदा
अश्रु कुमार
मोक्षदा।

ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में युगपरिवर्तनकारी कृतित्व राखालदास वंद्योपाध्याय का था। ये वस्तुतः पुरातत्वविद् थे। इतिहास के पूर्ण पंडित और नवीन से नवीन गवेषणा से इतिहास की कड़ियों को जोड़ने वाले। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों में केवल वृत्तमात्र ही इतिहास का नहीं था। इन्होंने वस्तुतः ऐतिहासिक युग को सजीव कर दिया। स्थूल घटनाओं और इतिहास के पात्र-नामों को प्राणवान कर बिया। इतिहास जीवन्त होकर सामने उपस्थित हो गया। इनके कुछ महत्वपूर्ण उपन्यास ये हैं—

शशांक—गुप्त साम्राज्य के अंत समय का वृत्त।

करुणा—गुप्त साम्राज्य के ध्वंस के सूत्रपात का वृत्त।

ध्रुवा—गुप्त साम्राज्य के उदय की कहानी।

धर्मपाल—पालवंश के राजा धर्मपाल के स्वर्ण युग के गौरव की कहानी।

मयूख—शाहजहाँ के समय में बंगाल पर पुर्तगाली अत्याचार की कहानी।

असीम—फर्रुखसीयर के युग की कहानी।

यथार्थ ऐतिहासिक उपन्यास राखालदास के ही हैं।

शरतचन्द्र के आविर्भाव से बंगाली उपन्यास में एक प्रबल वेग प्रकट हुआ। अब तक दृष्टि कथा-वैचित्र्य और घटना-घटन के तन्तु से सलग्न चरित्र पर थी। पात्रों के स्वप्न तक भी रोमांचक घटनावृत रहते थे। अब शरत ने पलड़ा पलट दिया। चरित्रगत वैचित्र्य उभर उठा, और

रोमांचक घटनाओं का स्थान सामान्य जीवन की आकस्मिक बाह्य घटनाओं अथवा केवल शारीरिक भंगिमा या मानसिक उत्तेजन ने ले लिया। इतना ही नहीं, पारस्परिक विरोध के अन्तर में से प्रेम के उदय की एक नयी प्रणाली की उद्भावना इन्होंने की। नायक-नायिका पहले टकरा जाते हैं, आरंभ होता है उस टकराहट से हुई खिंचावट और कड़वाहट से, धीरे-धीरे वही गहरे प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। शरत का प्रेम प्राणों का इतना प्रबल संबल हो जाता है कि वह यदि सम्यक् पोषण नहीं पाता तो प्राणलेवा ही हो जाता है। फलतः बाह्य संघर्ष से अधिक मनोमंथन उपन्यास की मुख्य वस्तु हो जाती है। अपनी गल्प-रचना की टेकनीक के सम्बन्ध में स्वयं शरत बाबू ने यों लिखा है—

"प्लट संबंधे आमाके कौन दिन चिन्ता करिते हय नाइ। कतक गुलि चरित्र ठीक करिया नेइ, ताहादिगके फोटाबार जन्य जाहा दरकार आपनि आसिया पड़े। मनेर परश बलिया एकटा जिनिस, ताहाते प्लट किछु नाइ। आसल जिनिस कतक गुलि चरित्र—ताके फोटाबार जन्य प्लटेर दरकार, तखन पारिपार्श्विक अवस्था आनिया जोग करिते हय, से सब आपनि आसिया पड़े।[१]"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कथावस्तु या प्लाट शरतचन्द्र के लिए महत्वपूर्ण नहीं, चरित्र और उसके निमित्त प्रेरणाएँ ही उनके उपन्यास के कृतित्व की लक्ष्य हैं।

शरत के उपन्यासों को विकास की दृष्टि से डा० सेन ने चार कोटियों में विभाजित किया है--

१---बंकिम के उपन्यासों के प्रभाव के अन्तर्गत आने वाले--

देवदास (१९१७), परिणीता (१९१४), विराजबहू (१९१४), पल्ली समाज (१९१६), चन्द्रनाथ (१९१६), दत्ता (१९१८), देना-पाओना (१९२३), पथेर दावी (१९२६)।

२---रवीन्द्र के प्रभाव में लिखे गये--

१. त्रिपंचाश जन्म दिन उपलक्ष्ये प्रेसिडेंसि कलेजे भाषण (सप्टेम्बर १९२८)

(मन्दिर, बड़दीदी) चरित्र हीन (१९१०), अरक्षणीया (१९१६), गृहदाह (१९२०), विप्रदास (१९३५)।

३—आत्म कथाश्रित—

श्रीकान्त (१९१७–१९३२), चरित्रहीन का कुछ भाग।

४—दिग्भ्रान्त—

शेष प्रश्न (१९३१)।

इनका 'देवदास' अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। 'चरित्रहीन' के वैशिष्ट्य के कारण इन्हें जहाँ प्रशंसा भी मिली, वहीं निंदा भी कम नहीं मिली। इसमें दो कहानियाँ समानान्तर चलती है। एक की नायिका सावित्री है, दूसरी की नायिका किरणमयी है। समस्त कथा-विधान जीवनगत पतनोद्घाटक उद्गार तथा पतन की स्थिति में निहित जटिल मानसिकता से युक्त है; उसमें प्रेम, पतन और चरित्रहीनता की बहिर्गत और अन्तर्गत विवशताओं और सीमाओं का विश्लेषण किया गया है। दिवाकर पात्र में मानों लेखक स्वयं अवतरित हो गया है। 'श्रीकान्त' तो आत्मकथा की सामग्री से ही रचा हुआ उपन्यास है। 'गृहदाह' भी एक वैशिष्टच से युक्त है, इसमें भी एक बहिर्गत और अन्तर्गत संघर्ष प्रस्तुत हुआ है। पातिव्रत और शरीरभ्रष्टता तथा पूर्वप्रेम विपयक एक अद्भुत कथा खड़ी की गयी है। 'पथेर दावी' में विप्लव आन्दोलन विषयक भीषणता और रहस्य-आक्रान्त कथा के साथ प्रेम-कहानी का सूत्र पिरोया गया है।

उपन्यासकार स्त्री-चरित्रों के प्रति विशेष आकर्षित है, और उन्हीं के चरित्र के वैलक्षण्य के निरूपण के लिए मानों उसके उपन्यास लिखे गये हैं। चरित्रों के अंकन में बहिरंग और अन्तरंग का भेद तथा संघर्ष दिखाकर 'अन्तरंग' के सत्त्व को कसौटी माना है। सभी का क्षेत्र घर-गृहस्थी से घिरा हुआ है। ऐसे वातावरण में भी शरतचन्द्र का प्रेम-तत्त्व प्रेम-रुग्णता का रूप ग्रहण कर लेता है—जीवनकामी न होकर वह मृत्युकामी हो उठता है।

शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय वस्तुतः उपन्यास के क्षेत्र से साहित्य में ऐसे छा गये, जैसे काव्य-क्षेत्र में रवीन्द्र छा गये थे। बँगला उपन्यास-कला शरत के हाथों बंकिमचन्द्र के समय की अद्भुत, अनगढ़, रहस्य से लिपटनेवाली

कथा-वस्तु को छोड़ सहज घरेलू सूत्रों से निर्मित होने लगी। कथानक की अवास्तविकता दूर हो गयी। वह मनुष्य के निजी से निजी क्षेत्र की वस्तु हो गयी। उसके पात्र-चरित्र भी राजा-महाराजा, संन्यासी, कापालिक, अद्भुत-कर्मा व्यक्ति नहीं रहे; सामान्य जन हैं, सामान्य घटनाएँ हैं, पर इनमें से होकर भी इनकी कला सामान्य जन-विषयक भाव-जगत में विशिष्ट तत्त्व-वादिनी हो गयी है। ऐसे सामान्य चरित्र के अन्तरंग का एक स्फुलिंग हठपूर्वक उसमें बार-बार धधक उठता है, और वह शनैः-शनैः सर्वग्रासी हो जाता है। यही यथार्थ की भूमि पर मिलनेवाला सामान्य मानव सनककर अवास्तवान्तरिक्ष में उछलता दिखाई पड़ने लगता है। उसके समक्ष समस्याएँ वास्तविक हैं, निगूढ़ मन के आत्मरूप सत्य का संघर्ष शरीर के मिथ्या पाप से होता है[1]। पर ये समस्याएँ भावगत अवास्तव से कुछ और ही हो जाती हैं। अतः स्पष्ट है कि इस उपन्यास-रीति में आगे के विकास के लिए

१. (क) सतीत्व के संबंध में शरतचन्द्र ने लिखा है—

"सतीत्वेर धारणा चिर दिन एक नय। पूर्वे ओ छिल ना, परे ओ हयत एक दिन थाकवे ना। एकनिष्ठ प्रेम ओ सतीत्व जे ठीक एकई वस्तु नय, ए कथा साहित्येर मध्ये ओ जदि स्थान ना पाय, त ए सत्य बेंचे थाकबे कोथाय?"

"सतीत्व के आमि तुच्छ बलि ने, किन्तु एकेइ तार नारी-जीवनेर चरम ओ परम श्रेयः ज्ञान करा के ओ कुसंस्कार मने करि।"

(ख) सतीत्व सम्बन्धी मान्यताएँ कभी एक नहीं रहीं, न पहले ही थीं, कदाचित् भविष्य में भी न रहें। एकनिष्ठ प्रेम और सतीत्व एक वस्तु नहीं है, यदि साहित्य में इस पार्थक्य का स्थान न हो तो और कहाँ होगा?

सतीत्व को मैं तुच्छ नहीं समझता, परन्तु केवल सतीत्व को ही नारी-जीवन का अन्तिम लक्ष्य समझना भी कुसंस्कार है।

स्पष्ट है कि मन-गत 'एकनिष्ठ प्रेम' को शरत 'शरीरगत सतीत्व' से अधिक महत्त्व देते हैं।

यह संकेत था कि इस भाव और मन के पक्ष को भी स्वाभाविक और सहज बनाने की चेष्टा की जाय।

किन्तु हमें एक मोड़ मिलता है १९२२ में प्रकाशित नरेशचन्द्र सेन गुप्त के 'पापेर छाप' में। यह नवीनं भाव इन्हीं की १९३० में प्रकाशित कहानी 'रूपेर अभिशाप' में और भी अधिक परिस्फुटित हुआ। 'पापेर छाप' डा० सेन के मतानुसार--"यौन भावाश्रित क्रिमिनाल मनोवृत्तिर चित्रण वाङ्गाला उपन्यासे एइ प्रथम।" यौन भावाश्रित अपराधी मनोवृत्ति का चित्रण पहले-पहल इसी उपन्यास में हुआ, यह उपन्यास इस परंपरा का प्रवर्त्तक माना जा सकता है।

शरत और नरेशचन्द्र के बीच उपन्यास-रचना की प्रवृत्ति का स्वरूप निम्नलिखित सूची से समझा जा सकता है।

	लेखक	
१९१७ स्वेच्छाचारी	विभूतिभूषण भट्ट	
१९२८ सहजिया	सुरेन्द्रनाथ मजुमदार	
१९११ पोष्यपुत्र	अनुरूपा देवी	प्राचीन पन्था का समर्थन
१९१४ वाग्दत्ता		
१९१५ ज्योतिहारा		
१९१५ मंत्रशक्ति		
१९१९ महानिशा		
१९२० माँ		
स्पर्शमणि	इंदिरा	घरेलू चित्र
१९१३ अन्नपूर्णार मंदिर-निरुपमा देवी		स्वामी के प्रेम से वंचिता स्त्री की मर्मवेदना
१९१८ दीदी		
१९१७ शेख आदू	शैलवाला घोषजाया	

१९२० मिष्टि शरबत
१९२५ अवाक
१९१८ नमिता
१९२० जन्म-अपराधी
१९२१ जन्म अभिशप्ता
१९२१ मंगल मठ
१९२२ ईमानदार
१९२१ महिमादेवी

कुछ अन्य उपन्यासकारों के नाम ये हैं—

शान्तादेवी, सीतादेवी, गिरिवाला देवी, सरसीबाला वसु, सुरुचि बाला राय, श्रीमती आर० एस० होसेन, मणिर होसेन, नजीबुर्रहमान, प्रभावती देवी। और भी कितने ही उपन्यास-लेखक मिलते हैं—इनमें सुरेन्द्रमोहन भट्टाचार्य ने सत्तर के लगभग उपन्यास लिखे, जिनमें विषय-वैविध्य है, और ये बिक्री की दृष्टि से अत्यन्त लोकप्रिय रहे। सभी उपन्यासकारों का नामोल्लेख कोई अर्थ नहीं रखता। वे अनेक हैं और अनेक उनके उपन्यास हैं। उनके उपन्यासों की भूमियाँ भी अलग-अलग हैं।

किन्तु नरेशचन्द्र ने 'वास्तववादी' उपन्यास और गल्पों को फिर उभार-कर उनका युग-प्रवर्त्तन-सा कर दिया। 'वास्तववादी' का अभिप्राय यथार्थ-वादी नहीं। 'वास्तव' का अर्थ है यौन-संबंधों का नग्न चित्रण। संदीप की उक्ति है—"आमि किछु दिन आगे आजकालकार दिनेर एक खानि इंरेजी बइ पड़छिलुम, ताते स्त्री-पुरुषेर मिलनरीति संबंधे खूब स्पष्ट-स्पष्ट वास्तव कथा आछे।" तो यह है 'वास्तव', स्त्री-पुरुषों के प्रेम संबंधी दृष्टिकोण में विस्तार, और हो सके तो चित्रण में एकांश नग्नता भी। यह दृष्टिकोण हैवलक ऐलिस और क्राफ्ट ऐरिंग-जैसे लेखकों की कृतियों से प्रेरित हुआ। मणीन्द्र-लाल वसु में फैशनेबल कलकतिया समाज के कालेजीय युवक-युवतियों के चित्र हैं, इनमें मरणासन्न मुमूर्षु नायक-नायिका को लेकर उपन्यास-रचना इनकी विशेषता है—एक मृत्यु-स्पंदित वातावरण में प्रेम की अवतारणा। 'पथेर पांचाली' के यशस्वी लेखक विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय में मुमूर्ष वातावरण

तो मिलता है, पर वह ग्रामीण और मजदूर मुहल्लों का है। और तब आते हैं शैलजानंद मुखोपाध्याय। इनकी लेखनी के चमत्कार ने साधारण से साधारण पात्रों को लेकर उनकी मनोगत 'वास्तविकता' का उद्‌घाटन गल्पों और उपन्यासों में किया है। इनके पात्र जीवन के संबल को कभी नहीं खोते और परिस्थितियों से कभी ध्वस्त नहीं हो पाते। मन की नग्न विद्रूपता की अभिव्यक्ति उपन्यासों में स्वाभाविक रूप से होती जाती है। स्थानीय परिवेश का रंग इसके साथ गहरा उतारा गया है। इस दृष्टि से शैलजानन्द का कृतित्व बँगला साहित्य के लिए एक नयी देन ठहरता है।

(आ)

कहानी--यों तो कहानी का आरंभ उपन्यास के पहले या साथ माना जा सकता है, पर साहित्यिक दृष्टिकोण से बँगला में उपन्यास का महत्त्व पहले स्थापित हुआ। आरंभ के दिनों में कहानियों में वह कला नहीं आ पायी जो उपन्यासों में बंकिम के द्वारा प्रस्तुत की जा चुकी थी।

वास्तव में कहानी या ठीक-ठीक कहें तो छोटी कहानी या गल्प का आरंभ विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर से माना जाना चाहिए। १८९१ से यह आरंभ हुआ। उन्होंने लगभग सौ कहानियाँ लिखीं। उनकी कहानियाँ सामान्य स्त्री-पुरुषों के जीवन की सामान्य घटनाओं पर खड़ी की गयी हैं। इनमें विषय-वैविध्य ही नहीं, शैलीगत वैविध्य भी है। लघु गल्पें रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लिए सामान्य जगत के भावों के गहरे संवेदन के रहस्य को समझने के प्रयोग हैं। यह रहस्य क्यों? स्वयं रवीन्द्र ठाकुर ने बताया है कि--

"इच्छाएं अनन्त हैं, किन्तु योग्यता पंगु है। अत्यधिक प्रयासों से भी अपूर्ण फल प्राप्त होते हैं। यह एक टूटी नाव पर बैठ कर समुद्र में संतरण करने के समान है। अंदर विचार गुर्राते हैं और अभिव्यक्ति अपर्याप्त रहती है।"

"यह हृदयों में परस्पर केवल आधी ही समझ है। यह केवल आधा ही शब्द है जो कभी समाप्त नहीं हो पाता। लज्जा, भय, आतंक और अर्द्ध-विश्वास में यह केवल प्रेम की एक चिनगारी है।" इसी अपरिपूर्णता के कारण

वह रहस्य प्रस्तुत होता है, वह असंतोष उत्पन्न होता है, जो रवीन्द्र की कहानियों के अत्यन्त स्पष्ट कथाविधान और वर्णन-सौष्ठव में झलकता रहता है।

रवीन्द्र ने सामान्य जीवन अथवा साधारण से साधारण मानव के सुख-दुःख के यथार्थ को अपनी कहानियों का विषय बनाया, पर भावों की अतल गहराई से लिपटे सामान्य जीवन के वे सुख-दुःख कहानियों के गद्य में काव्य-मनीषिता से जगमगाने लगे।

रवीन्द्र ने और भी नये कलाकारों को सामान्य जन-जीवन के चित्र-चरित्रों पर लिखने का निमंत्रण दिया। फलतः श्रीशचन्द्र मजूमदार, शैलेश-चन्द्र मजूमदार, श्रीमती शरतकुमारी चौधरानी तथा जतीन्द्रमोहन सिन्हा आदि ने कहानी या रेखाचित्र लिखे जिनमें सामान्य जन का वृत्त प्रस्तुत किया गया।

लघु गल्पों में प्रभातकुमार मुखर्जी को बहुत ख्याति मिली। इन्हें रवीन्द्र ठाकुर ने कवि बनने से रोका, और कहानी लिखने की प्रेरणा दी। इनकी कहानियों के १२ से अधिक संग्रह प्रकाशित हुए हैं। नवकथा (१९००), षोडशी (१९०६), देशी ओ बिलाती (१९०७), गल्पांजलि (१९१३), गल्पवीथी (१९१६), पत्रपुष्प (१९१७), गहनार बाक्स (१९२१), हताश प्रेमिक (१९२३), नूतन बऊ (१९२८), तथा जामाता बाबाजी (१९३१) विशेष प्रसिद्ध हैं।

सामान्य जन के जिस यथार्थ चित्रण की ओर रवीन्द्र ने नवीन लेखकों को आकर्षित किया था, वही यथार्थ प्रभातकुमार मुखर्जी की कहानियों में दिखाई पड़ता है। किन्तु मुखर्जी महोदय ने उसी यथार्थ को चित्रित किया है जो केवल कटु और खट्टा नहीं होता, पर जो जिन्दगी के प्रेम से परिपूर्ण है। मुखर्जी महोदय की कहानियों में विद्यार्थियों की भोजनशालाओं के, ऐडिनबरा और लन्दन में पढ़ने वाले बंगाली युवक विद्यार्थियों के, बनारस की बंगाली बस्तियों के, शहर से दूर के स्टेशन पर अकेले क्वार्टरों में जिन्दगी की अठ-खेलियों के अभूतपूर्व चित्र मिलते हैं।

साथ ही उन्होंने पशुओं को भी मनुष्य की जिन्दगी के समभागी के रूप में अपनी कहानियों में स्थान दिया। पशुओं पर ऐसी कहानियाँ सबसे पहले इन्होंने

ही लिखीं। सुधीन्द्रनाथ ठाकुर तथा सुरेन्द्रनाथ मजुमदार भी अच्छे गल्प-लेखक थे।

अवनीन्द्रनाथ का यश चित्रकार के रूप में सभी तक पहुँचा है, पर ये बहुत अच्छे गद्य लेखक भी थे। गद्य-लेखन के क्षेत्र में इनकी सबसे महत्वपूर्ण देन तो बाल-साहित्य है। बच्चों के लिए रंगीन कल्पनाओं की कहानियों को उतनी ही रंगीन तूलिका से सजाकर इन्होंने एक बड़े अभाव की पूर्ति की। ऐसी कृतियों में 'भूतपतरीर देश' (१९१५) तो अत्यन्त ही अद्भुत है। 'खातांचिर खाता' भी प्रसिद्ध है। बाल-साहित्य के प्रति विशेष रुचि रहते हुए भी इन्होंने गल्पें लिखीं। पथे-विपथे (१९१९) में इनकी गल्पें तथा कुछ रेखा-चित्र संग्रहीत हैं।

नये कहानी-लेखकों में श्री सौरीन्द्रमोहन मुखर्जी, चारुचन्द्र बनर्जी आदि गिनाये जा सकते हैं।

और तब आते हैं श्री शरच्चन्द्र चटर्जी। इनकी पहली कहानी इनके चाचा सुरेन्द्रनाथ गाँगुली के नाम से एक पुरस्कार प्रतियोगिता के लिए लिखी गयी थी। इन्हें प्रथम पुरस्कार मिला। फिर भारती, जमुना, साहित्य, भारत-वर्ष आदि पत्रों में इनकी कहानियाँ प्रकाशित होने लगीं। इनकी गल्पें सामान्यतः लम्बी होती थीं। इनमें बिन्दूर छेले (१९१३), रामेर सुमति (१९१४), अरक्षणीया (१९१६) आदि इनकी निजी शैली की श्रेष्ठता विशेषरूपेण सिद्ध करती हैं।

इन्दिरा देवी भी प्रमुखतः गल्प-लेखिका थीं। इनकी मौलिक गल्पों के चार संग्रह प्रकाश में आये हैं। यों इन्होंने एक 'स्पर्शमणि' शीर्षक उपन्यास भी लिखा। पर श्री विभूतिभूषण भट्ट ने केवल गल्पें ही लिखीं। इनकी बहिन निरुपमा देवी भी अच्छी गल्प-लेखिका थीं। इन दोनों की आरंभिक कहानियों का पहला संग्रह 'अष्टक' (१९१७) नाम से छपा था। पर आगे निरुपमादेवी उपन्यास भी लिखने लगीं और एक दर्जन से अधिक उपन्यास इन्होंने लिखे। इनके उपन्यासों में 'श्यामली' विशेष उल्लेखनीय है। एक गूँगी लड़की इसमें नायिका है। इस पर जो नाटक बनाया गया वह रंगमंच पर इतना लोकप्रिय हुआ जितना कि और कोई नाटक उस समय तक नहीं हुआ था।

श्रीमती शैलबाला घोषजाया ने भी पहले कहानियाँ लिखीं, बाद में उपन्यास लेखन आरंभ किया। इनके सात-आठ कहानी संग्रह हैं।

संपादकाचार्य रामानंद चटर्जी की पुत्रियाँ शान्तादेवी तथा सीतादेवी ने अपने 'प्रवासी' नाम के पत्र के लिए कहानियाँ लिखीं। विपिनचन्द्र पाल का प्रथम कहानी संग्रह 'कथाकुंज' (१९०७) था। इन्होंने बहुत-सी कहानियाँ लिखीं। ये उपन्यास-लेखक भी थे। हरिदास हालदार की कहानियों में कुछ अतियथार्थ का चित्रण हुआ मिलता है। सत्येन्द्र कृष्ण गुप्त की कहानियों में भी 'वास्तव वाद' विद्यमान है। पर कहानियों में भी युगप्रवर्त्तन का श्रेय डा० नरेशचन्द्र सेन गुप्त को ही मिलता है। इनकी कहानी 'ठान दीदी' १९१८ में 'नारायण' नाम के पत्र में प्रकाशित हुई थी। इनकी कला ने 'प्रगतिवाद' को प्रश्रय दिया और कहानियों में 'प्रगतिवादी वास्तव' का चित्रण किया गया।

१९२२ में चार लघु गल्पों की एक छोटी पुस्तक 'झाड़ेर दोला' प्रकाशित हुई। ये चार गल्पें चार कलाकारों द्वारा लिखी गयीं थीं—गोकुलचन्द्र नाग, दिनेशरंजन दास, श्रीमती सुनीतिदेवी तथा मणीन्द्रलाल वसु। इन कहानियों में आगत 'नवीन' की गहरी छाया विद्यमान थी। यों 'कल्लोल' नाम के नवीन पत्र के इन नवीन लेखकों के नवीनवाद की ओर संभवतः कुछ काल तक और उपेक्षा रहती, पर 'शनिवारेर चीठि' नामक पत्र ने कल्लोल-दल पर व्यंग्य करना आरंभ किया। इससे इन प्रगतिवादियों का प्रचार ही हुआ। प्रगति पक्ष को पुष्ट करने के लिए अब दो और पत्र निकले। गोकुलचन्द्र नाग ने लघु गल्पें लिखना आरंभ किया था। ये गल्पें १९२२ में 'रूपरेखा' नाम के संग्रह में प्रकाशित हुई। १९२७ में इनका दूसरा गल्प संग्रह 'माया मुकुल' निकला। इनका उपन्यास 'पथिक' इनकी कहानियों से भी अधिक सफल माना गया। दिनेशरंजन दास ने भी और गल्पें लिखीं। पर ये बाद में रंगमंच और सिनेमा की ओर झुक गये। मणीन्द्रलाल वसु ने भी पहले-पहल कहानियाँ ही लिखीं, और यश प्राप्त किया। इन्होंने तीन उपन्यास भी लिखे। श्री शैलजानंद मुखर्जी की प्रथम कहानियों में कोयले की खानों के मजदूरों के जीवन का चित्रण था। ये १९२३ से १९२५ के बीच में लिखी गयीं। इन कहानियों में लेखक

ने अपने घर के चारों ओर के वातावरण को ही चित्रित कर दिया है। यह चित्रण यथार्थ और वास्तविक है तथा वहाँ के जीवन के क्षोभपूर्ण पहलू को उभार-कर रख देता है।

प्रगतिवादी और नवीन वास्तविकवाद में बँगला भाषा को यह एक ऐतिहासिक महत्त्व की देन है। लेखक ने आँखों-देखे चित्र दिये हैं और कथा-साहित्य में सबसे पहले क्षेत्रीयता या आंचलिकता को आकर्षण प्रदान कर उसे एक प्रवृत्ति का प्रवर्तक बना दिया। अत्तसी (१९२५), नारीमेध (१९२८), वधू-वरण (१९३१) पौषपार्वण (१९३१), सती-असती (१९३३), नारी जन्म (१९३४) इन संग्रहों में मुखर्जी की कुछ सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ संकलित हैं। इन्होंने कुछ छोटे उपन्यास भी लिखे।

इन्हीं की परंपरा में जगदीश चन्द्र गुप्त ने गल्पें लिखीं। ये भी यथार्थवादी हैं और इन्होंने प्रत्यक्षानुभूत विषयों पर ही लिखा है। कुछ गल्पों में तो इन्होंने असामान्य मानसिकता के चित्र खींचे हैं। एक दुर्दमनीय भयावहता जैसे इनमें व्याप्त है। ये मूलतः कवि थे, पर इन्होंने उपन्यास भी लिखे। इनका प्रथम कहानी संग्रह 'विनोदिनी' शीर्षक से १९२८ में प्रकाशित हुआ।

'पथेर पांचाली' उपन्यास के यशस्वी लेखक विभूतिभूषण बनर्जी भी कहानी लिखते थे। इनकी कहानियों में 'उमारानी' तथा 'पुइ-माचा' इनकी कला का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। ये प्रवीण कोटि के कहानीकार थे, जिनमें रोमांटिक और गीति तत्त्व की प्रधानता थी। ये उपन्यासकार भी थे।

विभूतिभूषण मुखर्जी की कहानियाँ भी लोक-प्रिय हुई, इनमें एक हलका हास्य व्याप्त मिलता है।

दिवाकर शर्मा के नाम से रवीन्द्रनाथ मैत्र ने 'एक झलक' की भाँति की लघु से लघु कहानी की शैली में दक्षता दिखायी। १९२५ में इनकी ऐसी ही एक कहानी 'थर्ड क्लास' प्रकाशित हुई थी। इनकी कहानियों के सात संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

केदारनाथ बनर्जी ने कविता (हास्य युक्त), कहानी, उपन्यास सभी लिखे, पर इनकी कहानियों की कला में ही कुछ स्थायित्व प्रतीत होता है।

श्री राजशेखर वसु हास्य और व्यंग्य की कहानियों में अद्वितीय थे। ये

'परशुराम' के नाम से कहानियाँ लिखते थे। इनकी पहली कहानी 'विरंचि बाबा' नाम की थी। हिन्दी के पाठक परशुराम और उनके हास्य से भली-भाँति परिचित हैं। इनके हास्य में एक सहज निर्मलता रहती थी।

श्री प्रबोधकुमार सान्याल, श्री प्रेमेन्द्र मित्र, श्री अचिन्त्यकुमार सेनगुप्त तथा श्री बुद्धदेव वसु, श्री अन्नदा शंकर राय, श्री सरोज कुमार रायचौधुरी, श्री ताराशंकर वन्द्योपाध्याय, श्री बालाईचंद मुखर्जी, माणिक बनर्जी, श्री प्रमथनाथ बिशी भी गल्प-लेखक हैं।

बुद्धदेव वसु पर डी० एच० लारेंस का प्रभाव है। इनके पात्र अन्तर्निष्ठ अधिक होते हैं। इनकी कहानी पुस्तक 'ऐरा ओरा एवं आरो' समझी गयी थी। प्रेमेन्द्र मित्र, श्री अचिन्त्यकुमार सेनगुप्त तथा श्री बुद्धदेव वसु की त्रयी 'वास्तविक वाद' की प्रवर्त्तक थी। ये रवीन्द्र विरोधी थे, और कला-क्षेत्र में नयी देन के दावे के साथ आये थे।

बालाई चन्द्र मुखर्जी लघुतम कहानियों से यशस्वी हैं।

*

अध्याय ९

गद्य-विकास

पत्र तथा निबंध

आधुनिक युग और प्रेस तथा पत्र समवायी हैं। प्रेस तथा पत्र के बिना आधुनिक युग अर्थ-विहीन माना जायेगा। इन्हीं के सहारे साहित्यिक जगत में पद्य-युग को हटाकर गद्य-युग प्रवर्तित होता है। गद्य के साहित्यिक स्तर पर गृहीत होते ही अनेक नये-नये रूपों की उद्भावना होने लगती है। ऊपर उपन्यास तथा कहानी का इतिहास दिया गया है। स्पष्ट है कि वे समस्त नितान्त नये रूप उपन्यास और गल्परूप गद्य के अवतीर्ण होने के परिणाम हैं, और चूंकि कुछ विदेशी भाषाओं में गद्य को साहित्यिक स्तर पहले प्राप्त हो चुका था, उन विदेशियों का संपर्क हमें उनके साहित्य के संपर्क में लाया, फलतः उनके साहित्य में उद्भावित नये रूपों के आदर्शों ने हमारे साहित्य के लिए भी आदर्शों का रूप ग्रहण किया। किन्तु बँगला भाषा का यह सौभाग्य रहा है कि उसकी प्रतिभाओं में अपनी भाषा, अपने देश, और अपनी संस्कृति की प्रतिष्ठा का भाव सदा बना रहा है। अतः विदेशी आदर्शों से नयी प्रेरणा ही ली गयी, नये रूपों की सामग्री और आत्मा अपने ही रूप में विकास की ओर अग्रसर हुई। उपन्यास-कहानी की भाँति नाटक और काव्य भी विदेशी आदर्शों से प्रभावित हुए थे, यह हम देख चुके हैं। इनके अतिरिक्त जिन अन्य नये रूपों का उद्भव इस नये युग में हुआ है उनमें से एक है निबंध, दूसरा है लघु जीवन-झाँकी, यात्रा-प्रसंग, कुछ हास्य-प्रयोग, रेखा-चित्र, टिप्पणियाँ, विवरणिकाएँ, एकांकी आदि।

पत्र और निबंधों का चोली-दामन का साथ मानना चाहिय। यों तो आधुनिक युग में कहानी, लघु कहानी, मुक्तक या स्फुट काव्य, नाटक-झाँकियाँ, रेखा-चित्रादि भी पत्रों के कारण ही अस्तित्व में आये प्रतीत होते हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कहानी पत्र के आंचल में बँधकर आयी, पर लघु कहानियाँ तो कला-

विलास के विकास में महाकवि रवीन्द्र की उद्भावना थीं। जो भी हो, प्रायः सभी रूप आधुनिक युग में पत्र पर आश्रित होकर विकास पाते रहे हैं।

अभीतक के ज्ञान के आधार पर कहा जा सकता है कि बँगला अक्षरों के टाइप का सबसे आरंभिक प्रयोग १७७८ में प्रकाशित होनेवाली एन० वी० हालहैड लिखित 'बंगाली ग्रामर' में हुआ। यह ग्रामर यों तो अंग्रेजी में लिखा गया है, पर इसमें बँगला शब्दों के लिए बँगला अक्षरों के टाइपों का उपयोग हुआ है। अतः यह कहा जा सकता है बॅंगला भाषा का प्रायोगिक प्रेस १७७८ में अस्तित्व में आ गया था। इस संबंध में चार्ल्स विल्किस का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने ही सबसे पहले बँगला अक्षरों के टाइप ढाले थे, और बॅंगला प्रेस को अस्तित्व में लाने का अभिनंदनीय वीज-वपन किया था। १७७८ से १७९३ तक बंगाली प्रेस कानूनों के बॅंगला अनुवाद छापता रहा। १८०० का वर्ष महत्त्वपूर्ण था। इस वर्ष सीरामपुर में ईसाई मिशन स्थापित हुआ। इसका प्रेस भी स्थापित हुआ। अब प्रेस कानून ही नहीं धर्म-ग्रंथों को छापने में भी प्रवृत्त हुआ। इसी वर्ष सन् १८०० में फोर्ट विलियम कालेज भी स्थापित हुआ। यह भारतीय भाषाओं के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और स्मरणीय घटना है। केरी महोदय इस कालेज में बँगला विभाग के अध्यक्ष बनाये गये। यही केरी महोदय सीरामपुर में मिशन तथा मिशन प्रेस के स्थापकों में थे। कालेज के कारण प्रेस का कार्य और विस्तृत हुआ, बँगला भाषा की रामायण (कृत्तिवास की) तथा महाभारत (काशीराम कृत) भी छापे गये। कालेज के लिए भी पाठ्य ग्रंथों की आवश्यकता थी पर काव्य-ग्रन्थों मात्र से काम नहीं चल सकता था, गद्य-ग्रंथों की भी आवश्यकता थी। फलतः १८०१ में ही रामराम बसु का 'प्रतापादित्य-चरित्र' प्रकाशित हुआ। इसमें जैसोर के प्रतापादित्य की चरित्र-दिषयक विविध कथाएँ लिखी गयी थीं। इन्हीं वसु महोदय का नाम 'लिपिमाला' के संबंध में भी उल्लेखनीय है। लिपिमाला में पत्र-रूप में विविध विषयों पर निबंधों और विवरणों का संग्रह है।

अब तो विविध विषयों पर ग्रंथ निकलने लगे। आरंभ में यह वैविध्य भी अधिकांश संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद के रूप में आया।

१८०८ में ही मृत्युंजय विद्यालंकार की 'राजावली' प्रकाशित हुई। इसे

बँगला भाषा का प्रथम इतिहास-ग्रंथ कहा जा सकता है। निश्चय ही यह भी किसी अन्य भाषा के किसी ग्रन्थ के आधार पर प्रस्तुत किया गया था।

इन विविध प्रयत्नों की दृष्टि से नये कालेजों के विद्यार्थियों की आवश्यकता के लिए पाठ्यग्रंथ प्रस्तुत करना भी शामिल था। मृत्युजय विद्यालंकार ने 'प्रबोध-चन्द्रिका' तैयार की थी। वे इसे पूरा नहीं कर सके थे। रामजय तर्कालंकार ने इसे पूर्ण किया, और यह पुस्तक लगभग ५० वर्ष से भी अधिक समय तक पाठ्यग्रंथ के रूप में काम आती रही। १८३३ के लगभग यह प्रकाशित हुई थी।

१८१५ के लगभग राजा राममोहन राय के धार्मिक ट्रैक्ट तथा निबंध जिनसे सामाजिक सुधार की लहर प्रवाहित हो उठी प्रकाश में आने लगे थे। इधर राजा राममोहन राय हिन्दू धर्म को नये रूप में ढालने का प्रयत्न कर रहे थे, वेदों और उपनिषदों के आधार पर धर्म की नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत कर रहे थे, उधर सीरामपुर मिशन भी ईसाई धर्म के प्रचार के प्रयत्न में संलग्न था। सीरामपुर के मिशन के प्रयत्न से अप्रैल १८१८ में विविध ज्ञानोपयोगी निबंधों से युक्त 'दिग्दर्शन' नाम का मैगजीन प्रकाशित हुआ। इसमें भारतीय युवकों के लिए शिक्षोपयोगी विषय रहते थे। यह मासिक पत्र के रूप में लगभग तीन वर्ष तक चलता रहा। वस्तुतः १८१८ मई में जे० मार्शमैन के संपादकत्व में 'समाचार दर्पण' नाम का जो साप्ताहिक प्रकाशित हुआ, उसे बँगला भाषा का प्रथम नियमित पत्र कह सकते हैं। पर इसका उद्देश्य मूलतः धर्मप्रचार था। अतः इसका क्षेत्र संकुचित था। यह पत्र १८५१ तक विविध रूपों में चलता रहा। यों इन दोनों से पूर्व संभवतः १८१६ में एक 'बँगला गजट' भी प्रकाशित हो चुका या। पर यह चल न सका, और न नींव दृढ़ कर सका।

१८१७ में स्कूल टैक्स्ट बुक सोसाइटी बनी और नियमित रूपेण पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशित करने की योजना काम में आने लगी। ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों का आधार अंग्रेजी के ग्रंथ थे।

१८२१ में 'संवाद कौमुदी' नामक साप्ताहिक प्रकाश में आया। इसके प्रकाशन में राजा राममोहनराय का भी हाथ था। इसकी मूल प्रेरणा हिन्दू धर्म को बल देने की थी। ताराचंद दत्त तथा भवानी चरण वंद्योपाध्याय इसके संपादक थे। इन भवानीचरण वंद्योपाध्याय के संपादन में १८२२ में 'समाचार

चन्द्रिका' नामक साप्ताहिक प्रकाशित हुआ। भवानीचरण वंद्योपाध्याय की लेखनी में चमत्कार था। ये प्रसिद्ध रेखाचित्र-लेखक थे। १८२९ में एक और पत्र प्रकाशित हुआ। यह नीलरतन हालदार द्वारा संपादित होता था, नाम था 'बंगदूत'।

तब आते हैं ईश्वरचन्द्र गुप्त, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके द्वारा १८३१ में प्रकाशित हुआ यशस्वी पत्र 'संवाद प्रभाकर'। ईश्वरचन्द्र गुप्त आरंभिक युग के एक सफल तथा प्रतिभाशाली संपादक थे। वस्तुतः ये ही बँगला पत्रकारिता के आदिपुरुष माने जाने चाहिए। ईश्वरचन्द्र गुप्त के 'प्रभाकर' पत्र ने आधुनिक युग के अनेक युग-निर्माताओं का निर्माण किया। रंगलाल वंद्योपाध्याय, अक्षयकुमार दत्त, दीनबंधु मित्र ही क्यों महान् उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय भी इसी के ऋणी हैं।

ईश्वर गुप्त के काव्य के संबंध में पहले ही लिखा जा चुका है। संपादन-कला में इनका महत्त्व कवि से भी अधिक है, इसमें संदेह नहीं। इसी के साथ इन्होंने प्राचीन कवियों की जीवनियाँ लिखकर जीवनी-साहित्य का भी शुभारंभ बँगला भाषा में किया। मुकुन्दराम, भारतचन्द्र, रामप्रसाद प्रभृति कृतिकारों के जीवन के संबंध में बहुमूल्य सामग्री इन्होंने जुटाकर हमें दी है।

इसके उपरांत 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' का नाम आता है। यह पत्रिका महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर निकालते थे। 'ब्राह्म समाज' के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ यह पत्रिका निकाली गयी थी। यह मासिक पत्रिका १८४३ में निकाली गयी। १८६१ तक इस पत्रिका का संपादन अक्षयकुमार दत्त ने किया। दार्शनिक और धार्मिक बातों का इसमें समावेश रहता था। १८५१ से एक सुन्दर सजीला पत्र प्रकाशित हुआ। यह था 'विविधार्थ संग्रह'। इसके संपादक थे राजेन्द्रलाल मित्र। यह मासिक पत्र था और सचित्र था।

१८७२ में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का 'बंग दर्शन' निकला। बंकिम बाबू पाश्चात्य भावधारा के पूर्णतः समर्थक नहीं थे। वस्तुतः वे भारतीयता और हिन्दुत्व तथा उसके मूर्तिपूजन-विधान के भी पोषक थे। इस भूमि पर वे ब्राह्म-धर्म-विरोधी थे। इस विषय को लेकर रवि ठाकुर से इनका विरोध भी हो गया था। बंकिमचन्द्र और रवि के विरोध से दो पक्ष खड़े हो गये थे।

१८१८ में 'दिग्दर्शन' के प्रकाशन के समय से १८५० तक लगभग २५ मैंगजीन या पत्रिकाएँ प्रकाश में आयीं। ये हमें लगभग चार प्रकार की प्रतीत होती हैं—

१. कुछ का मुख्य उद्देश्य ज्ञान-प्रसार था; किन्तु परोक्षरूपेण धर्म-प्रचार भी रहता था। 'दिग्दर्शन' इसी कोटि का पत्र था। इसी कोटि में है 'विद्यासार संग्रह', 'विद्यादर्शन' (अक्षयकुमार दत्त का), जगतबंधु पत्रिका[1] आदि।

२. कुछ ऐसी पत्रिकाएँ थीं जिनका मुख्य उद्देश्य धर्म या मजहब का प्रचार और खंडन-मंडन था। सीरामपुर का 'समाचार दर्पण' यद्यपि समाचार-पत्र के वर्ग का था, पर था इसी कोटि का। तभी १८२१ में राजा राममोहन राय ने ब्राह्म पत्रिका निकाली थी। दुर्जन दमन नवमी एक त्रैमासिक पत्रिका ठाकुर दास बोस निकालते थे, यह नयी सभ्यता के विरोध में निकाली गयी थी और मूर्ति-पूजा की पोषक थी। 'हिन्दू धर्म चन्द्रोदय', 'ज्ञान संचारिणी', 'भक्ति सूचक' भी इसी कोटि में आयेंगी।

३. कुछ ऐसी भी पत्रिकाएँ निकलीं जो मजहब या धर्म से भी छोटे क्षेत्र के लिए रहीं, यानी किसी जाति-विशेष के लिए ही। १८४६ में 'कायस्थ किरण' का प्रकाशन कायस्थों के जनेऊ पहनने के अधिकार को सिद्ध करने के लिए हुआ और १८४८ में 'मुक्तावली' का प्रकाशन कायस्थों के इस अधिकार का विरोध करने के लिए हुआ।

४. कुछ पत्रिकाएँ साहित्यिक चर्चा के लिए निकाली गयीं। १८४७ में हिन्दू कॉलेज के छात्रों द्वारा प्रकाशित 'काव्य रत्नाकर' ऐसी ही पत्रिका प्रतीत होती है।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि १८१८ से ही समाचार-पत्रों के प्रकाशन का आरंभ माना जाना चाहिए, सीरामपुर के 'समाचार दर्पण' से। यों १८१६ में ही गंगाधर भट्टाचार्य द्वारा संपादित 'बंगाल गजट' निकल चुका था। पर इसे महत्त्व नहीं मिल सका। वास्तविक पत्रकार-कला का दिग्दर्शक था ईश्वर-चन्द्र गुप्त का 'समाचार प्रभाकर'। १८३० में यह प्रकाशित हुआ। समाचार-

१. यह हिन्दू कालेज के छात्रों की पत्रिका थी।

पत्रों की इस परंपरा में १८५० के अन्त तक लगभग ५१ पत्र निकले, इनमें सामाजिक पक्षपात किसी-न-किसी रूप में विद्यमान था। फलतः ये उपर्युक्त चार कोटियों में रखे जा सकते हैं।

किन्तु हम ऊपर यह भी देख चुके है कि ठाकुर घराने से एक पत्र 'तत्त्व-बोधिनी' नाम का प्रकाशित हुआ। यह था ब्राह्म समाज के सैद्धान्तिक, दार्शनिक पक्ष को प्रकट करने के लिए और एक नयी गंभीर चिंतन की दिशा की ओर मोड़ देनेवाला। इसी स्तर पर १८७२ में महान् उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चटर्जी ने 'बंगदर्शन' निकाला। इन प्रयत्नों से सामयिक पत्रों में चर्चा के विषयों में गंभीरता और उच्च मनीषिता आने लगी। दार्शनिक विवाद के साथ ही साहित्यिक विवाद भी संलग्न हो गया।

वस्तुतः इस उच्च स्तरीय विवाद का आरंभ हुआ था 'प्रचार' पत्र में बंकिम बाबू के 'हिन्दू धर्म' शीर्षक लेख के द्वारा। 'प्रचार' के बाद भी 'नवजीवन' में उसी हिन्दू धर्म का आगे स्पष्टीकरण निकाला। इसी का प्रत्युत्तर रवीन्द्र बाबू ने 'भारती' में 'एकटि पुरातन कथा' नाम से दिया। स्पष्ट है कि 'प्रचार' और 'नवजीवन' तथा 'भारती' जैसे पत्र साकार-निराकार उपासना के साथ मिथ्या और सत्य पर विचार करने को बाध्य हुए। रवीन्द्र ने लिखा था—"कौन खानेइ मिथ्या सत्य हयना; श्रद्धास्पद बंकिम बाबू बलिले ओ हय ना, स्वयं श्रीकृष्ण बलि ले ओ हय ना"। बंकिम ने प्रत्युत्तर में लिखा था —"सत्येर माहात्म्य कीर्तन करिते गिया केवल मौखिक सत्येर प्रचार, आन्तरिक सत्येर प्रति अपेक्षाकृत अमनोयोग, रवीन्द्रबाबूर यत्ने एमनटा ना घटे, एइ टुकु-सावधान करिया दितेछि।"

यह विरोध 'नवीन' और 'प्रवीन' का विरोध बन गया। 'साहित्य' नाम का पत्र भी रवीन्द्र के विरोध में निकला। 'साहित्य' के विरोध का स्तर यद्यपि बंकिम-जैसा ऊँचा न था, पर प्रतिक्रियावादी पक्ष को पुष्ट अवश्य करता था। किन्तु विरोध का मूल सैद्धान्तिक भी था। इस पक्ष का कहना था कि साहित्य उपदेशगर्भित होना चाहिए तथा समाज और नीति के लिए भी उपयोगी होना चाहिए। स्पष्ट है कि नवयुग का आह्वान रवीन्द्र वाणी में था। रवीन्द्र ने तभी 'साधना' नाम का पत्र निकाला। 'साधना' को नवयुग प्रवर्तक पत्र माना

जाता है, पर कवि ने अपनी ही ठाकुर बाड़ी से प्रकाशित कुछ पूर्व के पत्र 'भारती ओ बालक' (चैत्र १२९३) के अंक में नये काव्य के समर्थन में जो लिखा था, उसीसे नये युग की मनीषिता का स्वरूप स्पष्ट होने लगा था। रवीन्द्र ने लिखा था—"काव्ये अनेक समये देखा जाय भाषा भाव के व्यक्त करिते पारेना केवल लक्ष्य करिया निर्देश करिया दिवार चेष्टा करे। से स्थले सेइ अनति व्यक्त भाषा इ एक मात्र भाषा। एइ प्रकार भाषा के केह बलेन "धूँया", केह बलेन 'छाया'[1], केह बलेन भांगा भांगा, एवं किछु दिन हइल नव जीवनेर श्रद्धास्पद संपादक महाशय किंचित हास्यरसावतारणार चेष्टा करिते गिया ताहा के 'काव्यि' नाम दिया छेन। इहाते कवि एवं नव जीवनेर संपादक काहाकेओ दोष देओया जायना। उभयेरइ अदृष्टेर दोष बलिते हइबे।

"प्रकृतिर नियम अनुसारे कविता कोथाओ स्पष्ट कोथाओ अस्पष्ट, संपादक एवं समालोचकेर। ताहार विरुद्धे दरखास्त एवं आन्दोलन करिलेओ ताहार व्यतिक्रम हइवार जो नाइ। चित्रे ओ जेमन काव्ये ओ तेमनि, दूर अस्पष्ट, निकट स्पष्ट, वेग अस्पष्ट, अचलता स्पष्ट, मिश्रण अस्पष्ट स्वातंत्र्य स्पष्ट। आगा-गोड़ा समस्तइ स्पष्ट समस्तइ परिष्कार से केवल व्याकरणेर नियमेर मध्ये थाकिते पारे किन्तु प्रकृतिते ओ नाइ, काव्ये ओ नाइ।

जाँहारा मनोवृत्तिर सम्यक् अनुशीलन करिया छेन ताँहाराइ जानेन जेमन जगत आछे तेमनि अति जगत आछे। सेइ अतिजगत जाना एवं ना-जानार मध्ये, आलोक एवं अंधकारेर माझखाने विराज करिते छे। मानव एइ जगत एवं जगदतीत राज्ये बास करे। ताइ ताहार सकल कथा जगतेर संगे मेलेना। एइ जन्य मानवेर मुख हइते एमन अनेक कथा बाहिर हय जाहा आलोके अन्धकारे मिश्रित, जाहा बूझा जाय ना अथच बूझा जाय। जाहा के छायार मत अनुभव करि अथच प्रत्यक्षेर अधिक सत्य बलिया विश्वास करि, सेइ सर्वत्रव्यापी असीम अतिजगतेर रहस्य-काव्य जखन कौन कवि प्रकाश करिते चेष्टा करेन, तखन ताँहार भाषा सहजे रहस्य मय हइया उठे।"

१. हिन्दी के छायावाद नाम का मूल इसी शब्द में है।

रवीन्द्र के काव्य का यह स्वरूप आगे अधिकाधिक विकसित हुआ। 'साधना' में भी इसकी साधना दृष्टिगोचर होती है, पर 'साधना' रवीन्द्र साधना होते हुए भी नवीन-प्रवीन सभी बंगाली प्रतिभाओं का समान रूप से साधना-स्थली बनी। इसी 'साधना' के द्वारा लोकेन्द्र नाथ पालित और रवीन्द्र में पत्ररूपण साहित्य, सत्य और विज्ञान आदि विषयों पर विचार-विनिमय हुआ। रवीन्द्र ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि 'समग्र मानवेर प्रकाशेर चेष्टाइ साहित्येर प्राण।" इस प्रकार रवीन्द्र ने लोकेन्द्रनाथ से कुछ तो उच्च साहित्यिक निबंध प्रस्तुत करा ही लिये, भले ही वे अधिकांश पत्र-रूप में थे।

उधर सांस्कृतिक उन्नति की दृष्टि से द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, कृष्ण कमल भट्टाचार्य आदि ने 'हितवादी' नाम का 'खबरेर कागज' समाचारपत्र प्रकाशित किया। इसमें साहित्य-विभाग रवीन्द्र को सौंपा गया। रवीन्द्र की 'लघु गल्पों' का आरंभ इसी पत्र से हुआ। इन गल्पों में कथा-तत्त्व कम था। अतः हितवादी में ये नहीं चलीं।

रवीन्द्र के भतीजे बलेन्द्रनाथ ठाकुर भी अच्छे गद्यलेखक थे। इन्होंने विविध विषयों पर निबंध लिखे। वस्तुतः ये बँगला भाषा में 'आर्ट क्रिटिसिज्म' अर्थात् कलाविषयक आलोचना को विधिवत् आरंभ करनेवाले माने जाते हैं। इनके निबंधों का एक संग्रह 'चित्र-ओ-काव्य' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इन निबंधों में से 'जयदेव' पर लिखा प्रबंध इनकी उच्च प्रतिभा का प्रमाण है।

साधना के लेखक-परिकर में रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी भी उल्लेखनीय हैं। ये प्रधानतः वैज्ञानिक थे। विज्ञान, इतिहास, दर्शन ये ही इनके प्रधान विषय थे। इनके वैज्ञानिक प्रबंधों का एक संग्रह 'प्रकृति' नाम से निकला। इनके दार्शनिक निबंधों का संग्रह है 'जिज्ञासा'। और भी इनके कई निबंध संग्रह हैं, जैसे कर्मकथा, चरितकथा, शब्दकथा आदि। इन्होंने संस्कृत से ऐतरेय ब्राह्मण का बँगला भाषा में अनुवाद भी किया। इनका प्रमुख योगदान 'विज्ञान और इतिहास' का तथा नूतन और पुरातन या नवीन और प्रवीन का समन्वय माना जा सकता है।

इन्हीं के साथ निबंध-लेखकों में योगेशचन्द्र राय विद्यानिधि का नाम भी आता है। इनकी अनुसंधान-प्रिय प्रवृत्ति के कारण इनके निबंधों द्वारा भाषा और साहित्य विषयक कितने ही नये तथ्य प्रकाश में आये। इनके गवेषणात्मक

निबंधों के संग्रह हैं—'आमादेर ज्योतिषी ओ ज्योतिष', 'रत्न परीक्षा', 'बांगाला भाषा', तथा 'बांगाला शब्द कोष'।

'जगदानंद राय' तो रवीन्द्र ठाकुर के निकट संपर्क में रहनेवाले विद्वान् थे। इन्हें भी वैज्ञानिक निबंधों में रुचि थी। उस समय के सभी प्रमुख पत्रों में इनके निबंध प्रकाशित हुए; जैसे प्रदीप, भारती, बंगदर्शन, साहित्य और प्रवासी में। इनके प्रबंधों के भी 'वैज्ञानिकी', 'प्राकृतिकी' प्रभृति कई संग्रह प्रकाशित हुए थे।

भवानीचरण वंद्योपाध्याय अथवा ब्रह्मबांधव को साहित्यिक तो नहीं माना जाता, पर ये इतने कर्मठ, संगठनकर्त्ता, तथा धर्मदर्शन के ज्ञाता थे कि साहित्यिक न होते हुए भी इनका कर्तृत्व कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इन्होंने संध्या, स्वराज (साप्ताहिक), कराची (अर्द्ध साप्ताहिक) नाम के सामयिक पत्र भी निकाले। समाज-तत्त्व नामक इनका निबंध-संग्रह है। इसमें इनके चार निबंध हैं जिनका भारतीय समाज के विविध तत्त्वों से संबंध है। ये यद्यपि रोमन कैथालिक ईसाई थे, पर अत्यन्त उदार द्रष्टा थे और भारतीय संस्कृति और सभ्यता के तथा दर्शन के हिमायती भी थे। बंगदर्शन में इनका 'वेदान्तेर प्रथम कथा' शीर्षक निबंध भी प्रकाशित हुआ था। और भी इनके कई प्रबंध तथा निबंध प्रकाशित हुए थे, जो आज उपलब्ध नहीं।

यहाँ तक जिस प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख किया गया है, उनसे बिलकुल ही भिन्न प्रकृति की एक पत्रिका १८९९ में श्री अक्षयकुमार मैत्रेय ने निकाली। यह त्रैमासिक पत्रिका थी, और केवल इतिहास विषयक थी, नाम भी 'ऐतिहासिक्क चित्र' था। यह ऐतिहासिक त्रैमासिक पत्रिका भारतीय इतिहास को भारतीय दृष्टि से देखने के लिए प्रकाशित की गयी थी। मैत्रेय की ऐतिहासिक रचनाएँ साधना तथा भारती में निकलने लगी थीं। अब इस पत्र द्वारा नये अनुसंधान को प्रोत्साहन मिला। इनका क्षेत्र था बंगाल के नवाबों का अन्तिम युग, पतन काल, और उसमें अँगरेजों का हाथ। इनके लिखे सिराजउद्दौला तथा मीर कासिम दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने पहली बार कालकोठरीवाली बात का खण्डन किया था। बंगाल की नवाबी अमलदारी पर कालीप्रसन्न वंद्योपाध्याय ने भी अच्छा लिखा है। इतिहास की ओर अब प्रबल आकर्षण पैदा हुआ। फलतः वैदिक पुरातत्त्व और प्राचीन इतिहास पर पंडित

उमेशचन्द्र वख्यालने, तथा मराठा इतिहास पर सखाराम गणेश देवस्कर (देउस्कर) ने लिखा।

मुसलमानी इतिहास पर भी प्रचुर लिखा गया—रामप्रसाद गुप्त, रेयाजुद्दीन अहमद, अबूनासिर सइदुल्ला, अब्दुल करीम, शेख अब्दुल जब्बार, आदि और भी कई विद्वान् मुसलमानी इतिहास पर लिखने में प्रवृत्त हुए। अक्षयकुमार मैत्रेय की परिपाटी में निखिलनाथ राय की आलोचनाओं को रखा जा सकता है।

हरिसाधन मुखोपाध्याय ने मुगल-इतिहास पर विशेषतः भारती और साधना में निबंध लिखे। पर ये मुख्यतः ऐतिहासिक कहानी और नाटक लेखक हैं। औरंगजेब (१९०४), बंगविक्रम (१९०६) तथा अकबरेर स्वप्न (१९१२) इनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं।

सिद्धमोहन मित्र ने मुसलमान-संस्कृति पर भी कुछ प्रबंध लिखे।

इतिहास-विषयक निबंध लेखकों के साथ इसी काल में ललितकुमार वंद्योपाध्याय का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने छोटे-बड़े गंभीर तथा हलके कुछ निबंध लिखे। इनके निबंध-संग्रह हैं फोयारा (फव्वारा), पाग्ला, साहारा। इन्होंने भाषातत्त्व की आलोचना पर भी निबंध तथा ग्रंथ लिखे। साधु भाषा तथा चलित भाषा विषयक विवाद पर इनकी कृति 'साधुभाषा बनाम चलित भाषा' उल्लेखनीय है। बंकिम के नारी-चरित्रों पर भी इन्होंने आलोचनात्मक निबंध लिखे।

तब आते हैं प्रभातकुमार मुखोपाध्याय। यों तो ये रवीन्द्र प्रवर्तित छोटी गल्प परिपाटी के प्रसिद्ध गल्प-लेखक हैं, उपन्यास के क्षेत्र में भी आपने नाम कमाया है। इनका रोमाण्टिक स्वभाव इनमें खूब खिला है। किन्तु इनके कुछ समालोचनात्मक निबंध प्रवंधों का भी कम महत्त्व नहीं। 'चित्रा' की समालोचना तो ऐतिहासिक दृष्टि से भी उल्लेखनीय है।

रवीन्द्रनाथ का एक विरोध तो आरंभ हुआ था बंकिम बाबू से। यह प्रायः धर्म-तत्त्व विषयक था। यह धीरे-धीरे साहित्यिक भी हो गया था। इसका संकेत कई बार ऊपर किया जा चुका है। इस साहित्यिक विरोध का स्वरूप-विश्लेषण प्रभातकुमार ने चित्रा की समालोचना में किया है जो प्रभातकुमार की

शैली को समझने के लिए ही नहीं, इस विरोध को भी समझने के लिए यहाँ उद्धृत किया जाता है।

प्रभातकुमार ने लिखा—

"जाँहारा बाँगला साहित्येर संवाद राखेन, तांहादेर मध्ये एखन दुइटि दल। एक दल रवीन्द्र नाथेर स्वपक्षे, एक दल विपक्षे। प्रथम दलेर अधिकांशइ सुशिक्षित मार्जित रुचि नव्य युवक;—इहारा सकलेइ प्राय एक प्रकारेर लोक। द्वितीय दले अनेक प्रकारेर लोक—मनुष्येर चिड़ियखाना। (क) वृद्ध—तांहादेर काने दासुरायेर अनुप्रास, भारतचन्द्रेर शब्द-परिपाठ्य एमनि लागिया आछे, जे उपर किछु एकबारे तुच्छ बलिया बोध हय। आधुनिक बंगसाहित्ये केह केह माइकेल अवधि नामेन, आर नहे। ताहा छाड़ा तांहादेर काछे रवीन्द्रनाथ एक महादोषे दोषी—तिनि अल्पवयस्क। (ख) प्रौढ़—एखनकार प्रौढ़ेरा एक-दिन काव्ये, साहित्ये भारि मातिया छिलेन—सेइ बंगदर्शनेर समय। इंहारा अनेके हेमचन्द्रेर "आवार गगने केन सुधांशु उदय रे" आवृत्ति करिया वयसकाले अनेक हा-हुताश करियाछिलेन, जदिओ एखन ताहा कौन क्रमेइ स्वीकार करेन ना। इहारा एखन रवीन्द्रनाथेर काव्य के छेले मानुषि बलिया उड़ाइया देन—(ग) जुवकेर मध्ये जांहारा रवीन्द्रनाथेर विपक्षे, तांहारा केह केह व्यर्थकाम कवि। ······ईहारा अनेके विद्वान्, कृती, संभ्रान्तश्रेणीर; आमादेर कॅलेजेर कतकगुलि जुवक अकाले नितान्त जेठा हइया पड़ियाछे, ताहारा रवीन्द्रनाथेर निन्दा करे। एइ सकल जुवक के चिनिवार जन्य कतक गुलि लक्षण एखाने निदेश करितेछि। (१) ताहारा अश्लील कथा कहिया मने करे भारि रसिकता करिलाम। (२) पथे घाटे भद्रलोकेर मेयेछेले देखिले आपना-आपनिर मध्ये कुत्सित हासि-तामासा करे। (३) कौन ओ नूतन भाल विषये काहारओ चेष्टा देखिले ताहा के विद्रूप करे। (४) कौन ओ विषय पुरातन हइले, जदि नितान्त मन्द ओ हय, तथापि ताहार जन्य खूब लड़िया थाके—इत्यादि। दुःखेर विषय, प्रथम दल अपेक्षा द्वितीय दलेर लोकसंख्या अधिक। किन्तु पूर्वापेक्षा रवि-भक्तेर दल एखन अनेक बाड़ियाछे—ए वृद्धि "राजाओ राणी" प्रकाशित हइवार पर हइते। तांहार चमत्कार क्षुद्र गल्पगुलिते ओ शत्रुपक्षेर अनेके मुग्ध हइया

पड़ियाछे।·····अनेक छात्रावासे रवीन्द्र नाथेर कविता संबंधे आलोचना आरंभ हइया शेषकाले शत्रुपक्षे मित्रपक्षे हाताहाति हइवार उपक्रम हइयाछे शुनियाछि। —बंगेर आर कौन ओ लेखकेर त एरूप दृढ़ विभक्त शत्रुपक्ष मित्रपक्ष नाइ। रवीन्द्रनाथेर कविता समुद्रेर मत बाहिरे दाँड़ाइया अपेक्षा करितेछे। जदि काहारओ हृदयबाँधे एकटु छिद्र थाके सेइ पथ दिया अल्पे अल्पे जल प्रवेश करिते आरंभ करे। क्रमे छिद्र आर ओ बड़, आरओ बड़ हइया पड़े। तखन हृदयटा जलप्लावित हइया जाय। आर जाहार हृदयबांधे छिद्रइ नाइ, ताहार कौन ल्यठाइ नाइ; ताहार भितर एक फोँटाओ जल प्रवेश करिते पाय ना, एमन लोके तर्क करिया सेइ समुद्रेर अस्तित्व लोप करिवार चेष्टा त करिवेइ।"

इस उद्धरण से तत्कालीन स्थिति का चित्र बहुत स्पष्ट हो जाता है।

यह आलोचना 'दासी' नाम की पत्रिका में मई १८९६ के अंक में निकली थी। प्रभातकुमार के ऐसे दो-चार निबंध ही हैं। ये तो गल्प तथा उपन्यास लेखन में पूर्णतः संलग्न हो गये थे।

जलधरसेन की लेखन-कला का विकास पत्रकारत्व के द्वारा हुआ। ये तत्कालीन कई पत्रों से संबंधित रहे। इनमें ग्रामवार्त्ता, बंगवासी, वसुमती, सन्ध्या, हितवादी, सुलभ समाचार, तथा भारतवर्ष मुख्य थे। भारती तथा साहित्य में इनके भ्रमण-वृत्तान्त प्रकाशित हुए। लेखन-कला की दृष्टि से ये भ्रमण-वृत्तान्त के लेखक माने जा सकते हैं। हिमालय के विविध स्थलों की यात्राओं के चित्र इनके निबंधों में दिये गये। किन्तु ये भी गल्पों और उपन्यासों के लिखने में विशेष प्रवृत्त हो गये।

प्रमथ चौधुरी की लेखन-कला का परिचय 'भारती' पत्रिका के द्वारा मिलने लगा था। इनकी शैली के तीखेपन से तथा भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के गुणों के कारण इनकी अच्छे लेखकों में गिनती होने लगी। इनका संबंध टैगोर घराने से हो गया था। अब ये 'साधना' के संपादक भी बनाये गये। जब मई १९१४ में 'सबुज पत्र' नामक पत्र निकला और उसमें 'चलित भाषा' तथा 'साधु भाषा' का विवाद छिड़ा तब चौधरी महाशय ने रवीन्द्रनाथ के साथ ही 'चलित भाषा' के पक्ष का समर्थन किया था।

चलित भाषा और साधु भाषा विषयक विवाद उठ खड़े होने का कारण यह था कि साहित्यिक भाषा अत्यधिक संस्कृत तत्सममयी होती जा रही थी, और इस प्रकार वह लोक की सामान्य भाषा अर्थात् चलित भाषा से दूर होती जा रही थी। यह खाई दूर करने के लिए 'चलित भाषा' के पक्ष का समर्थन चौधुरी महोदय ने किया।

चौधुरी महोदय निश्चय ही अच्छे निबंध लेखक थे। इन्होंने साहित्य, राजनीति तथा समाज विषयक कितने ही निबंध लिखे, जो कई संग्रहों में प्रकाशित हुए हैं। जैसे 'तेल नून लकड़ी' (१९०६), बीरबलेर हाल काथा (१९१७), नाना काथा (१९१९) दु-इयार्की (Diarchy) (१९२०), नानाचर्या (१९३२)। इनके निबंधों में तीखे व्यंग, वाक् वैदग्ध्य तथा विचार-प्रेरक सामग्री रहती थी। तीखे व्यंग गर्भित निबंध इन्होंने 'बीरवल' नाम से लिखे।

गद्य-लेखन के विकास और वैविध्य के क्षेत्र में अवनीन्द्र नाथ ठाकुर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अवनीन्द्रनाथ अपनी चित्र-कला के कारण भारत में शीर्षस्थानी माने जाते हैं, पर ये लेखन-कला में कम यशस्वी नहीं माने जा सकते। बाल साहित्य, विशेषतः अद्भुत लोक की सृष्टिवाली बालकथाओं के लेखक के रूप में इन्होंने अद्भुत देन दी है। "भूतपतरीर देश' (१९१५) तथा 'खातांचीर खाता' (१९१६) विशेष उल्लेखनीय है। इनको अपनी कला से भली प्रकार चित्र-सज्जित भी इन्होंने किया था। इन सबका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

भारतीय कला पर कितने ही प्रामाणिक निबन्ध भी इन्होंने लिखे। इनका संग्रह 'भारत-शिल्प' नाम से प्रकाशित हो चुका है। 'बाँगलार व्रत' (१९१९) बंगाली स्त्रियों की अनुष्ठान विषयक चित्रकला पर इनका सोदाहरण निबंध है।

अक्षयकुमारदत्त के नाती सत्येन्द्रनाथ दत्त कवि तो थे ही, साथ ही अच्छे अनुवादक भी थे, और एक अच्छे निबंध लेखक भी। इनके निबंधों में परिहास (Satire) की मात्रा रहती थी। ये निबंध 'नवकुमार कविरत्न' के उपनाम से लिखे गये हैं। अंग्रेजी के पोप की तरह इन्होंने भी छन्दबद्ध एक लम्बा निबंध लिखा 'छन्दः सरस्वती'। इसमें बंगाली छन्द पर अच्छा विचार-विमर्श

प्रस्तुत किया गया है। 'चीनेर धूप' में इनके चार लघु निबंध हैं जिनमें ताओवाद तथा कन्फ्यूशियस-वाद का परिचय दिया गया है।

सन् १९१४ के नवम्बर में 'नारायण' नामक पत्र प्रकाशित हुआ। इसे चित्तरंजनदास (सी० आर० दास) तथा विपिनचन्द्र पाल का सहयोग और प्रोत्साहन प्राप्त था। इसके परिकर में से भी कई अच्छे निबंध लेखक निकले। ब्रजेन्द्रनाथ शील--जैसे ख्यातनामा दार्शनिक की पुत्री सरयूबाला दासगुप्ता ने नारायण के लिए विचार-प्रधान निबंध लिखे। हरिदास हाल्दार भी 'नारायण' के लेखक थे। इनके छः निबंधों का एक संग्रह 'गोबर गणेशेर गवेषणा' के नाम से प्रकाशित हुआ। ये निबंध सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक विषयों से संबंधित थे। ये निबंध अपनी निजी शैली के कारण भी महत्त्वपूर्ण थे। सामयिक समस्याओं का गहरा विश्लेषण और उनके नियोजन में व्याप्त एक अनोखी चुहल इन निबंधों में मिलती है।

१९२३ में 'कल्लोल' प्रकाशित हुआ, यह आधुनिकतावादी था। १९२४ नवम्बर से 'शनिबारेर चीठी' नामक साप्ताहिक प्रकाशित हुआ। यह आरंभ किया गया था 'कल्लोल' के आधुनिकतावादी प्रगतिशीलता के विरोध में। 'कल्लोल' के पक्ष के पोषक दो पत्र और निकले---काली कलम (१९२७) तथा प्रगति (१९२८)। धीरे-धीरे आधुनिकतावादी प्रगतिशील दल बल पकड़ने लगा। यह संप्रदाय वस्तुतः साहित्य में टैगोरवादी प्रणाली का विरोधी था और टैगोरवाद को साहित्य की प्रगति के लिए अवरोधक मानता था। साहित्यिक नैतिकता के संबंध में इनका दृष्टिकोण बिलकुल भिन्न था। जीवन की समस्याओं को यथार्थ की भूमि पर तो ये खड़ा करना चाहते थे, पर इनके यथार्थ का स्वरूप ही परंपरागत यथार्थ या वास्तव स्वरूप से भिन्न था, जिससे यौन-संबंधों में और पाप-पुण्य की धारणाओं में एक विप्लव उपस्थित होने लगा। अब एक और गंभीर विवाद का अवसर आ उपस्थित हुआ। जिसे 'परंपरावादी', प्रवीण, और 'प्रगतिवादी' नवीन संप्रदायों का विवाद कहा जा सकता है। विवाद का प्रश्न साहित्य के मूल सिद्धान्त से संबंधित था। इस विवाद के शमन के लिए एक प्रयत्न तो यह किया गया कि दोनों पक्षों के कहने पर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक सम्मेलन का आयोजन किया। १९२७ मार्च में दो

दिन यह सम्मेलन हुआ। रवीन्द्रनाथ ने पहले दिन अपने व्याख्यान में आधुनिकतावाद की सीमा रेखाओं पर विचार किया तथा कला और रूप के संबंध की चर्चा की। तीन दिन बाद विचार-विनिमय हुआ। पर दोनों की खाई न पट सकी। इस सम्मेलन में दिये गये रवीन्द्रनाथ के भाषण को लेकर ही एक विवाद चल पड़ा। रवीन्द्र के उक्त भाषण के उपरांत एक निबंध प्रकाशित हुआ 'साहित्येर धर्म'। आधुनिकतावादी प्रगतिशील दल के एक प्रकार से प्रवर्त्तक डा० नरेशचन्द्र सेनगुप्त ने 'साहित्य धर्मेर सीमाना' शीर्षक निबंध में रवीन्द्र की स्थापनाओं का खंडन किया। इसका उत्तर द्विजेन्द्रनारायण बागची ने अपने 'साहित्यधर्मेर सीमाना विचार' शीर्षक निबंध में दिया।

इस विवाद के बहाने साहित्य-सिद्धान्त विषयक कुछ अच्छे निबंध प्रकाश में आये।

बँगला में उच्च कोटि के हास्यरस के गद्य निबंधों या कहानियों के प्रसिद्ध लेखक श्री राजशेखर वसु, जो 'परशुराम' के नाम से हिन्दी में ज्ञात हैं, उतने ही उच्च कोटि के गंभीर लेखक भी थे। इनके विचारपूर्ण निबंधों के दो संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। एक है 'लघुगुरु' तथा दूसरा है 'विचिन्ता'।

नव्य अथवा आधुनिकतावादी प्रगतिशील लेखकों में बुद्धदेव वसु विशेष उल्लेखनीय हैं। ये अपने उपन्यासों और कहानियों में तो नव्य वास्तव के कलाकार थे ही, निबंधों और लेखों द्वारा इन्होंने इस नवीनवाद की प्रतिष्ठा भी करने की पूरी चेष्टा की। 'प्रगति' के संयुक्त संपादक की हैसियत से इन्होंने प्रगतिवादिनी कविता के पोषण में कितने ही निबंध लिखे। 'कविता' नाम का एक त्रैमासिक पत्र भी इन्होंने निकाला, उसमें भी नयी कविता के पक्ष में निबंध लिखे। ऐसे निबंधों के इनके ये संग्रह हैं—'उत्तरतिरिश' (१९४५), कालेर पुतुल (१९४६), साहित्यचर्चा (१९५४)।

इन्होंने यात्राविषयक तथा संस्मरण विषयक रचनाएँ भी कीं। जैसे 'हठात् आलोर झलकानि' (१९३५), आमि चंचल हे (१९३६), समुद्रतीर (१९३७) 'सबपेयेचीर देस'।

'प्रगति' पत्रिका के सहायक संपादक श्री अजितदत्त ने प्रधानतः कवि-

ताएँ लिखीं, किन्तु इनके निजत्व पूर्ण कुछ निबंधों के दो संग्रह हैं—जनान्तिके (१९४९), तथा मनपवनेर नाओ (१९५०)।

जीवानंददास भी प्रगतिपंथी कवि हैं, पर इनके कुछ निबंध 'कविनार कथा' नाम से प्रकाशित हुए। इनका विषय भी आधुनिकतावाद की पुष्टि करना है।

श्री विष्णुदे भी प्रधानतः कवि हैं, जो अंग्रेजी कवि 'ईलियट' की भाँति क्लिष्ट होने का प्रयत्न करते रहे हैं; किन्तु इनके कुछ निबंध भी 'रुचि ओ प्रगति' तथा 'साहित्येर भविष्यत' नामक संग्रहों में प्रकाशित हुए हैं।

श्री सुधीन्द्रनाथ दत्त ने १९३१ में 'परिचय' नाम का पत्र प्रकाशित किया। इन्होंने कई साहित्यिक निबंध लिखे जिनका संग्रह 'स्वगत' नाम से १९४८ में प्रकाश में आया।

श्री अन्नदाशंकर रे ने कविताएँ लिखीं, कहानियाँ लिखीं, उपन्यास लिखे, सभी में यश कमाया। निबंधों के लिखने में भी ये कम यशस्वी नहीं रहे। इनके निबंध संग्रह हैं—तारुण्य (१९२८), आमरा (१९३७), जीवन शिल्पी (१९४१), इशारा (१९४३), बीनूर बइ (१९४४), जीयनकाठी (१९४९), देश काल पात्र (१९४९) प्रत्यय (१९५१)। इनमें साहित्यिक तथा जीवन-परिचय विषयक निबंध हैं। लेखक ने यूरोप की जो यात्रा की थी उस पर 'पथे प्रवासे' (१९३१) तथा 'यूरोपेर चीठी' (१९४३) नामक रचनाएँ कीं। 'पथे प्रवासे' के कारण गद्य लेखक के रूप में इनकी प्रतिष्ठा हुई।

यही है संक्षेप में बँगला साहित्य की अपने उद्‌गम काल से आजतक की ऐतिहासिक यात्रा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस साहित्य की देन सर्वथैव अभिनंदनीय है, और महान् भी।

अध्याय १०

उपसंहार

बँगला साहित्य के इतिहास का यह संक्षिप्त वृत्त यह स्पष्ट कर देता है कि इस साहित्य को कई युगों में से होकर आना पड़ा है। इन युगों का अपना-वैशिष्ट्य रहा है। वास्तविक बँगला-साहित्य का आरंभ और उत्कर्ष 'गौड़ युग' माना जाता है। उससे पूर्व के युग की सामग्री अनिश्चित, अपर्याप्त और विवाद-ग्रस्त है। गौड़-पूर्व का युग 'आदि-युग' कहा जा सकता है। 'आदि युग' में बौद्ध धर्म के ह्रासकालीन साहित्य का अवशेष या प्रभाव मिलता है। कृष्ण विषयक प्रथम रचना भी इसी युग में हुई। यों नाथ-संप्रदाय के साहित्य का मूल भी इसी युग में था। दूसरा युग 'गौड़' युग है। गौड़ प्रदेश इस युग में बँगला साहित्य की मूल प्रेरणा का केन्द्र रहा। साहित्य को प्रोत्साहन देने में गौड़ के शासकों का भी हाथ रहा। यह युग १५ वीं शती के अन्त तक चलता माना जा सकता है। इस युग में रामायण, महाभारत तथा विद्यासुंदर-जैसे बँगला साहित्य के मूल स्रोतों का अनुवाद हुआ। इनमें से विविध कथा-खंड लेकर उन पर काव्य-रचना हुई। साथ ही लौकिक देवी-देवताओं के विविध संप्रदाय भी खड़े हुए। इन देवी-देवताओं पर विविध मंगल तथा विजय काव्य रचे गये। इनके पूजानुष्ठानों के लिए जागरण विषयक गेय-काव्य प्रस्तुत हुए। सहजिया संप्रदाय का नवोत्थान भी इसी युग में हुआ, अब इस संप्रदाय में प्रमुखता तो राधा-कृष्ण ने ग्रहण कर ली, यों यह संप्रदाय इतना लोकभूमि पर जा पहुँचा था कि ईसाई तथा इस्लामी तत्त्व भी इसमें मिलने लगे। कृष्ण-काव्य के बंगाली महाकवि बड़ु चंडीदास, रामकाव्य के अद्वितीय कवि कृत्तिवास, भागवतीय कृष्ण काव्य पर श्रीकृष्ण विजय के श्रेष्ठ कवि मालाधार वसु या गुणराज खाँ, मैथिल कोकिल विद्यापति, मनसामंगल के प्रथम उपलब्ध कवि विजय गुप्त, शून्य पुराण के रमाई पंडित, महाभारत के प्रथम अनुवादक परमेश्वर कवीन्द्र, विद्या-सुंदर के प्रथम कवि श्रीधर सभी तो इसी युग में हुए। वस्तुतः यह युग ही महान्

था। बँगला भाषा ने अपने प्राकृत या अपभ्रंश के परिवेश को धीरे-धीरे त्यागा और अपना निजी रूप प्रतिष्ठित किया। पर इस काल की प्रतिभाओं की दृष्टि भूतकाल की ओर मुड़कर देख रही थी, और कृतित्व वर्त्तमान में केन्द्रित था, फलतः भाषा में संस्कृत तत्समता बढ़ी, 'साधु भाषा' की प्रकृति फलित हुई। गौड़ युग की मुख्य साहित्यिक प्रवृत्ति थी 'कथा-रस'।

गौड़ युग को समाप्त किया नदिया युग ने। नदिया या नवद्वीप धीरे-धीरे सोलहवीं शती में विद्या का केन्द्र बन चला था। तभी चैतन्य महाप्रभु के प्रादुर्भाव ने उसे चार चाँद लगा दिये। समस्त बँगला साहित्य नदिया के इस महाप्रभु के प्रकाश से जगमगा उठा। बँगला का प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक पद जैसे नया जीवन पा गया हो। सब कुछ श्रीकृष्ण-चैतन्यमय हो उठा। इस साहित्य ने तीन क्षेत्र ग्रहण किये—पहला था सिद्धान्त-क्षेत्र। वैष्णव धर्म के इस नवीन स्वरूप का सैद्धान्तिक पक्ष विविध ग्रंथों द्वारा प्रस्तुत किया गया। दुर्लभसार, रसकदम्ब, प्रेमभक्ति चन्द्रिका, दिनमणि चन्द्रोदय, चैतन्य तत्त्व प्रदीप, रसकालिका, रसकलावल्ली, रसमंजरी, अष्टरस-व्याख्या आदि ग्रंथ इस युग में रचे गये और वैष्णव धर्म के रस-सिद्धान्त का दार्शनिक और शास्त्रीय पक्ष पुष्ट करने में प्रवृत्त हुए।

दूसरा क्षेत्र था जीवनी-काव्यों का। बँगला भाषा में प्रथम जीवनी-काव्य 'चैतन्य भागवत' वृन्दावन दास द्वारा लिखा गया। और इसके बाद तो अनेक जीवनियाँ चैतन्य तथा नित्यानंद पर लिखीं गयीं। नहीं, कुछ आगे चलकर इनके प्रमुख शिष्यों पर भी जीवनी-ग्रंथ लिखे गये। अद्वैत की पत्नी सीता देवी पर भी जीवनी-काव्य रचे गये। शिष्यों में से श्रीनिवास, रसिकानंद, नित्यानंद के पुत्र वीरचंद्र, वंशीवादन चट्टा, नरोत्तम, श्यामानंद आदि पर भी जीवनी काव्यों की रचना हुई।

तीसरा क्षेत्र था पद-साहित्य का। कीर्तन की प्रणाली का जो प्रचार इस युग में हुआ, वह अद्वितीय था। मानों पदकर्त्ताओं ने पदों में अपने प्राण ही उँडेल दिये हों। पद-साहित्य प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत किया गया और इसकी एक पुष्ट तथा दीर्घ परंपरा खड़ी हुई। पदों के मुख्य विषय आलंबन रूप में 'राधा-कृष्ण' थे, पर वस्तुतः इस प्रतीक से चैतन्य के ही भावानुभावों का वर्णन कवियों

को अभीष्ट था। अनुमान यह है कि १९वीं शती से पूर्व १५० पदकर्त्ता हो चुके थे, जिन्होंने तीन हजार से अधिक पद रचे। इनमें तीन स्त्रियाँ थीं और ११ मुसलमान भी। १९ वीं शती तक के लगभग ९ प्रसिद्ध पद संग्रह मिलते हैं। इनमें से विश्वनाथ चक्रवर्ती का 'क्षणदा गीतचिंतामणि' तथा नरहरि चक्रवर्ती (या घनश्यामदास) का 'गीत चंद्रोदय' प्राचीनतम है। इनके बाद—

पदामृत समुद्र	संग्रहकर्ता	राधामोहन ठाकुर
कीर्तनानंद	,,	गौरसुंदरदास
संकीर्तनामृत	,,	दीनबंधुदास
मुकुन्दानंद	,,	राधामुकुन्ददास
पद-कल्पतरु	,,	गोकुलानंद सेन (या वैष्णवदास)
पद-रत्नाकर	,,	कमलाकान्त
पदरससार	,,	नीमानंद दास

इनमें पद कल्पतरु को सबसे अधिक लोकप्रियता तथा महत्त्व प्राप्त हुआ है।

इन पद-संग्रहों के संबंध में ऊपर भी बताया जा चुका है कि ये रसतत्त्व की शास्त्रीय विधि में संग्रहीत किये गये हैं—जैसे पूर्वराग, अभिसार आदि।

ऐसे प्रत्येक विभाग के पूर्व 'गौड़ चन्द्रिका' रखने या गाने का नियम-सा चैतन्य के उपरांत के युग में चल पड़ा था। मानों यह गौड़-चन्द्रिका जैसे समस्त 'राधाकृष्ण-तत्त्व' को चैतन्य के माध्यम से हृदयंगम करने की कुंजी हो।

नदिया युग में इस वैष्णव-साहित्य के विविध रूपों की ही संवर्द्धना नहीं हुई, लौकिक देवी-देवताओं विषयक काव्य-मंगल या विजय काव्य भी पूरी तरह इसी काल में पल्लवित, पुष्पित तथा फलित हुए। इनके मूल तो गौड़-पूर्व युग में थे, पर साहित्य-वृद्धि इसी युग में हुई। किन्तु अन्य देवी-देवताओं के अनुरूप ही वैष्णव कवियों द्वारा कृष्ण-विषयक मंगल या विजय काव्य भी कितने ही लिखे गये। १६वीं शती के ऐसे काव्य लेखकों में माधवाचार्य, देवकीनंदन सिंह तथा कृष्णदास के मंगल काव्य विशेष उल्लेखनीय हैं। रघुनाथ पंडित की 'कृष्ण प्रेम तरंगिणी' ठीक-ठीक मंगल काव्य नहीं मानी जा सकती। १७वीं अठारहवीं शती में ऐसे मंगल काव्य ये रचे गये—

गोविंद मंगल	कृतिकार	दुखी श्यामदास

श्रीकृष्ण विलास	,,	कृष्णकिंकर
हरिवंश	,,	भवानंद
कृष्णलीलामृत	,,	बलरामदास
गोविंदमंगल	,,	कविचन्द्र चक्रवर्ती

इसी प्रकार भागवत के आधार पर चरित कथन-कर्त्ता ये चार कवि भी स्मरणीय हैं——परशुराम चक्रवर्ती, अभिरामदास, द्विज हरिदास, तथा गोपाल सिंह।

नदिया-युग के उपरांत १८०० से कलकत्ता-युग माना जाता है।

इस युग में सब कुछ नवीन होने लगा। पद्य की प्रधानता उतनी नहीं रही, गद्य का युग आ गया। पद्य में नये-नये प्रयोग हुए। प्रेस तथा मुद्रणकला के प्रचार ने साहित्य संबंधी दृष्टिकोण को आमूलचूल बदल दिया। पत्रकार-कला ने जन्म लिया, यह पनपी और एक शक्ति बन गयी। काव्य में नये प्रयोग होने लगे। नाटकों की कला में क्रान्ति उपस्थित हो गयी। निबंध, उपन्यास, कहानी, एकांकी, भ्रमण वृत्तान्त, जीवनियाँ, संस्मरण—आदि कितने ही नये साहित्य-रूपों का जन्म हुआ, और इनकी कला का विकास हुआ।

इस युग में साहित्यिक प्रयोगों में जल्दी-जल्दी परिवर्तन होने लगे। हमारा साहित्य पाश्चात्य प्रेरणाओं से भी बँध गया। इस युग की महान् प्रतिभाएँ बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, गिरीश घोष, ईश्वरचन्द्र गुप्त, ईश्वरचन्द्र विद्या-सागर, द्विजेन्द्रलाल राय, शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय, राखालदास वंद्योपाध्याय, माइकेल मधुसूदन दत्त आदि महान् प्रकाश-स्तम्भ की भाँति आज भी आदर पा रहे हैं। पर इसी युग में नव-नवोन्मेषिणी प्रवृत्ति को अद्भुत नवीनता के साथ प्रस्तुत करके नव्यतम युग लानेवाले विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का प्रादुर्भाव हुआ। ये स्वयं एक युग थे, और इन्होंने समस्त बँगला साहित्य को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया, जिससे रवीन्द्र युग बँगला साहित्य का एक विशेष जाज्वल्यमान युग ही बन गया, उसका ऐतिहासिक महत्त्व अद्वि-तीय है। चैतन्य महाप्रभु के बाद रवीन्द्र का ही वह व्यक्तित्व है जिसने बँगला भाषा के शब्द-शब्द और वाक्य-वाक्य को ही नहीं, अर्थ, भाव और मनोजगत पर भी अपनी छाप लगा दी। यह कहना गलत ही है कि रवीन्द्र बंगाली प्रतिभा

थे। वे वस्तुतः भारतीय प्रतिभा थे, उनकी भारतीय प्रेरणा ने बंगाल को ही नहीं भारत भर को, और भारत भर को ही नहीं किसी सीमा तक विश्वभर को भी प्रभावित किया।

रवीन्द्र युग से निकलने और उनसे भिन्न कुछ नवीन और अद्भुत प्रस्तुत करने के लिए कितनी ही बंगाली प्रतिभाएँ रवीन्द्र के समय से ही छटपटाती दिखाई पड़ती हैं। उन्होंने नये प्रयोग करने आरंभ किये, और ये प्रयोग बहुधा पाश्चात्य अनुकरण पर ही हुए।

युग की दृष्टि से यह संक्षिप्त सर्वेक्षण बँगला साहित्य के इतिहास के मूल मर्म की कुछ झाँकी देता है। इस समस्त साहित्य के विकास की प्रगति में दो तत्त्व विशेष ध्यान आकर्षित करते हैं। एक है लोक देवी-देवताओं का साहित्य जिसने बंगाली मेधा को बरबस बंगभूमि से जोड़ दिया है। दूसरा भी इसी मौलिक प्रवृत्ति का एक रूपान्तर है। वह है हिन्दू-मुस्लिम घोलमेल।

लोक-देवी-देवताओं में जिन पर साहित्य रचा गया वे हैं मनसा, चंडी, कालिका, धर्म ठाकुर, जगन्नाथ (पुरी के), शिव, दक्षिण राय, नाथ, लक्ष्मी, सरस्वती, सूर्य, गंगा, वैद्यनाथ, मदनमोहन, तारकनाथ, शीतला, सत्यपीर, त्रैलोक्यपीर, मानिकपीर, गाजीसाहिब आदि।

मनसा मंगल की कथा का पुराण संबंधी अंश जरत्कारु-मनसा से संबंधित है। लोक-कथा विषयक अंश का संबंध शिवपुत्री मनसा और चाँद सौदागर, बेहुला और लखीन्दर से है। मनसा-मंगल के श्रेष्ठ कवि क्षेमानंद माने जाते हैं।

चंडी-मंगल की कथा का संबंध कालकेतु की कहानी तथा 'खुल्लना' की कहानी से है। इस संप्रदाय का श्रेष्ठ कवि मुकुन्दराय चक्रवर्ती कवि कंकण है।

कालिका-मंगल की कथा का संबंध मूलतः 'विद्यासुंदर' से है। 'विद्यासुदर' के कवि के रूप में 'भारतचन्द्र' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'विद्यासुंदर' की कथा सांप्रदायिक भूमि से उतरकर शुद्ध प्रेम-कहानी के रूप में अलग प्रचलित हो गयी।

लक्ष्मी या कमला, सरस्वती, सूर्य तथा गंगा पर भी एक-एक या दो-दो काव्य लिखे हुए मिलते हैं। पुरी के जगन्नाथ पर तीन कवियों की कृतियाँ प्रसिद्ध हैं।

'शिव' पर्याप्त प्राचीन देवता हैं। बौद्ध धर्म के लोप के बाद शिव ने बुद्ध का स्थान लिया। 'शिव' पर कितने ही प्रकार के काव्य रचे गये ।

शिव-मंगलों में एक ओर तो पौराणिक अंश शिव-सती और पार्वती-विवाह विषयक है, दूसरे खेती करनेवाले रसिक शिव मिलते हैं, जो बागदी स्त्री के प्रेम-पाश में फँस जाते हैं। यह कथा व्रत-कथा से संबंधित है। दूसरी ओर पुराण-परंपरा की दूसरी कथा 'मृगलुब्ध' भी कहीं-कहीं ग्रहण की गयी। इसीके आधार पर 'शिवायन' काव्य रचे गये। शिव का उल्लेख शून्य पुराण में धर्म ठाकुर की उत्कृष्ट सृष्टि के रूप में और आद्या शक्ति के पतिरूप में हुआ है। इसी प्रकार शिव का उल्लेख रामायण, चंडी मंगल और कालिका मंगल में हुआ है। मनसा मंगल में भी शिव 'मनसा' के पिता के रूप में हैं। एक मंगल में तो मनसा की प्रतिद्वन्द्विता चंडी से नहीं शिव से ही हुई है। धर्म ठाकुर विषयक साहित्य दो प्रकार का है। एक है सिद्धान्त और अनुष्ठानों का निर्देश करने वाला (शून्य पुराण इसीमें गिना जायगा) और दूसरा है धर्म-मंगल विषयक जिसका संबंध मुख्यत: लाउसेन की कथा से है। कभी-कभी हरिश्चन्द्र-कथा भी लिखी गयी है।

नाथ-संप्रदाय विषयक निम्न ग्रंथ उल्लेखनीय हैं—कवीन्द्रदास का 'मीन-चेतन' मीननाथ विषयक है। 'गोरक्षविजय' शेख फैजुल्ला ने भी लिखी। मैनामती तथा गोविन्द चंद्र पर १८वीं शती में दुर्ल्लभ मल्लिक ने तथा १९वीं शती में भवानीदास और शुकुर महमूद ने लिखा।

धर्ममंगल, दक्षिणराय मंगल, सत्यपीर कथा में हिन्दू-मुस्लिम संपर्क और संबंध विषयक विविध दृष्टिकोण मिलते हैं।

धर्ममंगल में सत्य-धर्म पर अत्याचार करनेवाले ब्राह्मणों को नाश करने के लिए धर्म ठाकुर को मुसलमान विजेताओं के रूप में दिखाया गया है।

दूसरा दृष्टिकोण 'राय मंगल' में मिलता है। दक्षिणराय या राय व्याघ्र देवता है। राय देवता में और पीर बड़े खाँ गाजी में घोर युद्ध छिड़ गया, जो समाप्त ही नहीं हो रहा था, तभी एक अद्‌भुत देवता प्रकट हुआ। वह आधा कृष्ण था, तथा आधा मुहम्मद था। इससे दोनों पक्षों ने उस एक को ही अपना इष्ट मानकर वह भीषण संहार रोक दिया। हिन्दू-मुस्लिम संश्लिष्टि का यह एक

उदाहरण है । यह प्रवृत्ति सत्यपीर तथा मानिक पीर—जैसे देवताओं में भी लक्षित होती है । सत्रहवीं शती में सैयद सुलतान ने 'नवी वंश' नामक ग्रंथ में कुछ हिन्दू देवताओं को भी नवियों में स्थान दिया है । राय मंगल के प्रसिद्ध लेखक हैं कृष्णदास, तथा सैयद मुर्तजा । कितने ही मुसलमान कवियों ने हिन्दू देवताओं पर हिन्दुओं की भाँति काव्य लिखे। नासिर महमूद ने राधा कृष्ण पर पद रचे । सैयद सुलतान तथा अली रजा भी ऐसे ही कवि थे । दौलतकाजी तथा शेख फैजुल्ला ने नाथ-साहित्य लिखा । सैयद जफर ने काली पर लिखा ।

लोक-क्षेत्र में यात्राओं, कविवाला प्रतियोगिताओं, अखाड़ाई रचनाओं का जोर १९ वीं शती के आरंभ तक, बल्कि १९वीं शती तक भी रहा । इनके अतिरिक्त वैरागी बाउलों और भटियाली गीतों की परंपरा भी चलती रही । वाउलों के गीतों ने रवीन्द्र कवि को भी प्रेरणा प्रदान की थी ।

उपसंहार का संहार करते हुए इतना ही पुनः कहना है कि बँगला साहित्य भारत की महान् संपत्ति है और बँगाल को उस पर उचित गर्व है ।

परिशिष्ट १

मंगल-कथाएं

धर्ममंगल की कथाएं

१. **हरिश्चन्द्र कथा**--राजा हरिश्चन्द्र तथा उनकी रानी मदना पुत्र के अभाव में दुखी थे। दोनों दुखी मन से वन भ्रमण करते-करते एक दिन बल्लुका नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ एक संन्यासी से भेंट हुई। संन्यासी ने उन्हें वरदान दिया कि उनके पुत्र होगा। पर शर्त्त यह लगायी कि पुत्र होने पर उसकी बलि धर्मठाकुर को दे दी जायगी। राजा ने स्वीकार कर लिया। समय पाकर उनके लुईचन्द्र (या लुईदास) नाम का पुत्र हुआ। पर राजा बलि देने की बात भूल गया। वह संन्यासी जो वास्तव में धर्मठाकुर ही थे, ब्राह्मण वेश धारण कर राजा के यहाँ पहुँचे। अतिथि ने लुईचन्द्र का माँस ही भोजन के लिए माँगा। उसने राजा-रानी की कोई अनुनय-विनय नहीं सुनी। अतिथि-सत्कार आवश्यक था। रानी ने लुईचन्द्र को मारकर माँस राँधकर परोसा। वह ब्राह्मण अकेला भोजन करने को तैयार नहीं हुआ, उसने राजा और रानी को भी साथ खाने के लिए कहा। राजा ने अतिथि के आदर के लिए स्वीकार कर कौर उठाया ही था कि धर्मठाकुर ने प्रसन्न होकर दर्शन दिये और वरदान में उन्हें लुईचन्द्र प्रदान कर दिया।

२. **लाउसेन कथा**--गौड़ेश्वर का मंत्री महामद पात्र था। उसने गौड़ेश्वर के एक प्रिय व्यक्ति सोम घोष को कैद में डाल दिया था। गौड़ेश्वर ने उसे मुक्त किया और अपने एक सामन्त कर्णसेन के पास भेज दिया। सोम घोष का पुत्र इछाइ घोष बड़ा होकर प्रबल निकला, उसने कर्णसेन को गद्दी से उतार दिया। स्वयं राजा बन बैठा। इछाइ घोष के द्वारा युद्ध में कर्णसेनके छः पुत्र मारे गये। कर्णसेन के दुख से दुखी हो गौड़ेश्वर ने अपनी साली परम सुंदरी रंज्ञावती का विवाह कर्णसेन से कर दिया। रंज्ञावती महामद पात्र की बहिन थी, वह वृद्ध

कर्णसेन से उसका विवाह नहीं करना चाहता था। राजा ने महामद को किसी काम से बाहर भेज दिया और विवाह कर दिया। महामद बहुत क्रुद्ध हुआ, उसने रंझावती को बंध्या हो जाने का शाप दिया। अब तो रंझावती ने रमई पंडित के परामर्श से पुत्र लाभार्थ धर्मठाकुर की पूजा आरंभ की, उसमें उसने अपने प्राण तक त्याग दिये। धर्मठाकुर प्रसन्न हुए। रंझावती को प्राण दिये और पुत्र का वर दिया। तव हुआ पुत्र 'लाउसेन'।

महामद पात्र ने उस नवजात पुत्र को चुरा लाने के लिए इन्दा मेटे चोर को भेजा। पर हनुमान ने रक्षा की। लाउसेन के साथ खेलने-कूदने के लिए धर्म-ठाकुर ने कर्पूरसेन नाम का दूसरा पुत्र भी रंझावती को दिया। धर्मराज ने हनु-मान को दोनों भाइयों का शिक्षक नियुक्त करके भेजा। दोनों अल्प समय में ही मल्लविद्या में विशारद हो गये। पार्वती ने लाउसेन के चरित्र से प्रसन्न होकर एक अजेय तलवार उसे प्रदान की।

तब लाउसेन और कर्पूरसेन गौड़ देश के लिए चले। मार्ग में कामदल बाघ से तथा भीषण कुम्भीर से युद्ध करने पड़े, धर्म की कृपा से विजय लाऊसेन को मिली। अब लाउसेन जार्मति में पहुँचा। यहाँ की स्त्रियाँ दुराचारिणी थीं। रानी ने लाउसेन को वश में करना चाहा, असफल होने पर उसे पुत्रों की हत्या का अपराध लगाया। तब मृत पुत्रों ने ही बोलकर वास्तविक कथा कह दी। लाउसेन गोलहाट पहुँचा। वहाँ की रानी की पहेलियों का उत्तर दे मुक्ति पायी। फिर गौड़ देश पहुँचा। यहाँ महामद का कुचक्र दोनों भाइयों के पीछे पड़ा। उन्हें चोर बताया गया। लाउसेन को बंदी बनाया गया, अन्त में लाउसेन को हाथी से युद्ध करना पड़ा, उसे लाउसेन ने मार गिराया, फिर उस हाथी को प्राणदान भी दिया। अब गौड़ेश्वर उसे पहचान गया। उसे अश्वशाला से एक घोड़ा ले लेने को कहा। लाउसेन ने सूर्य की घोड़ी की बछेड़ी को लिया। यह बछेड़ी अन्त तक लाउसेन के साथ रही। वह प्रसन्न घर लौटा। पर महामद के कुचक्र समाप्त नहीं हुए थे। महामद पात्र ने लाउसेन को कामरूप से कर वसूल करने को भिज-वाया। लाउसेन डोम सेनापति की सेना लेकर ब्रह्मपुत्र के किनारे पहुँचा। उसे पार करना कठिन था। तब उसे विदित हुआ कि यदि गौड़ेश्वर की माता से कटारी और जयमाला मिल जाय तो सफलता मिलेगी। लाउसेन माता से दोनों

चीजें माँग लाया। कटारी से छुलाने से ब्रह्मपुत्र ने मार्ग दे दिया। जयमाला द्वारा कामरूप पर अधिकार हो गया। लाउसेन की वीरता पर मुग्ध हो कामरूप के राजा ने अपनी पुत्री कलिंगा का विवाह उससे कर दिया। मंगल कोट के राजा ने अपनी कन्या अमला का और वर्द्धमान के राजा ने अपनी कन्या विमला का विवाह भी उससे कर दिया।

गौड़ेश्वर वृद्ध थे, फिर भी सिमुला के राजा हरपाल की सुंदरी कन्या कानड़ा से विवाह करना चाहते थे। कानड़ा ने लोहे का एक गंडा भेजा। उसकी शर्त्त थी कि जो इसके दो टुकड़े कर देगा उसीसे विवाह करेगी। गौड़ेश्वर उस गंडे के दो टुकड़े न कर सके तो महामद के परामर्श से लाउसेन को बुलाया। लाउसेन ने उसके दो टुकड़े कर दिये और दूसरी शर्त्त के रूप में कानड़ा के हाथों युद्ध में पराजित होकर लाउसेन ने कानड़ा से विवाह कर लिया।

अब महामद ने लाउसेन को टेकुर राज्य को वश में करने के लिए भिजवाया। टेकुर में कर्णसेन का शत्रु इछाइ घोष था। उसने अपने सेनापति 'लोहाटा वज्जरे' को भेजा। लाउसेन ने उसका मस्तक काटकर गौड़ेश्वर के पास भिजवाया। उधर महामद ने कृत्रिम लाउसेन का सिर बनवाकर उसके माँ-बाप के पास भेजा। लाउसेन की स्त्रियाँ लाउसेन को मृत समझकर सती होने को प्रस्तुत हुईं, तभी हनुमानजी ने जाकर रहस्य खोल दिया।

लाउसेन का इछाइ के साथ भीषण युद्ध हुआ। लाउसेन की ओर से धर्मठाकुर तथा इछाइ की ओर से पार्वती युद्ध में प्रवृत्त थीं। लाउसेन जीता और इछाइ मारा गया।

अब महामद ने गौड़ में धर्म पूजा का महोत्सव कराया, पर ऐसी कोई भूल हो गयी कि धर्म ठाकुर क्रुद्ध हो गये और मेघों से वर्षा की झड़ी लगा दी। तब लाउसेन को बुलाया गया। लाउसेन धर्मठाकुर को संतुष्ट करने के लिए हाकंद पर्वत पर गया। वह पश्चिमोदय-पूजा में प्रवृत्त हुआ। सूर्य को पश्चिम में उदय करा देने की तपस्या सबसे श्रेष्ठ धर्म-पूजा है। हाकंद पर्वत पर लाउसेन उधर अपने शरीर के नौ खंड करके धर्मठाकुर को आहुति दे रहा था, इधर सुअवसर समझकर स्वयं महामद ने लाउसेन के नगर मयना नगर पर आक्रमण कर दिया। लखाइ डोमनी ने अकेले ही उसे परास्त कर दिया। तब कानड़ा ने पार्वती की

कृपा से महामद को पराजित किया और बंदी बना लिया तथा अपमानित कर छोड़ दिया।

उधर लाउसेन अपनी तपस्या में सफल हो गया, और धर्मठाकुर ने अमावस्या के दिन सूर्य को पश्चिम में उदय करा दिया। लाउसेन गौरव सहित गौड़ को लौटा। महामद अब भी चुप न बैठा। उसने हरिहर बाहित को घूस देकर इस बात के लिए तैयार कर लिया कि वह लाउसेन को झूठा बतायेगा। पर धर्मठाकुर के भय से बाहित ने बात सत्य ही कही। धर्मठाकुर के रोष से महामद अपने अपकर्मों के कारण कोढ़ी हो गया, पर लाउसेन ने कृपापूर्वक उसे रोग-मुक्त कराया। केवल कोढ़ का एक चिह्न मुख पर रहने दिया। इस प्रकार लाउसेन धर्म-पूजा की प्रतिष्ठा करके स्वर्गगामी हुए।

मनसा मंगल की कहानी

१. चाँद सौदागर की कहानी

चाँद सौदागर स्वर्ग में शिव पूजा के लिए पुष्प चुनते-चुनते एक गंभीर बन में चला गया। वहाँ मनसा देवी सर्पाभूषणों से आच्छादित बैठी थीं। चाँद सौदागर के पद-चाप से भयभीत सर्प मनसा को छोड़ विलीन हो गये। मनसा नग्न रह गयीं। अतः क्षुब्ध हो उन्होंने चाँद सौदागर को शाप दिया कि तुम मर्त्य लोक में जन्म लो। चाँद ने कहा कि आप मुझ निरपराध को शाप दे रही हैं, अतः मेरा भी शाप है कि जब तक मैं आपकी पूजा नहीं करूँगा, आपकी पूजा मर्त्यलोक में नहीं हो पायेगी।

चाँद सौदागर का जन्म मर्त्यलोक में हुआ। वह शिव की पूजा करता था। उसकी पत्नी सनका मनसा की पूजा करती थी। चाँद को पता चला तो उसने मनसा की पूजा का घट एक लात मारकर फोड़ दिया। मनसा ने क्रुद्ध होकर बदला लेने का संकल्प किया। उसने चाँद का हरा-भरा घर उजाड़ दिया, उसके राज्य के नर-नारी सर्पदंश से मरने लगे। चाँद सौदागर को महाज्ञान मिला हुआ था, उससे उसका घर फिर जगमगा उठा, उसके मित्र शंकर को सर्प का विष उतारना आता था। वह अमर था। उसने सभी मृतकों को जिला दिया।

मनसा के सभी प्रयत्न विफल हुए। तब उसने शंकर की स्त्री से उसकी मृत्यु का रहस्य जानकर शंकर को मार डाला। चाँद का महाज्ञान भी हर लिया। उसके छः पुत्रों को विष देकर मार डाला। मनसा ने प्रकट होकर कहा कि मेरी पूजा करो तो सब कुछ लौट आयेगा। पर चाँद लाठी लेकर उस पर पिल पड़ा। अपनी स्त्री की बात भी नहीं मानी।

सनका मनसा की पूजा करती रही. और उससे पुत्र का वर प्राप्त कर लिया। पर मनसा ने बताया कि तेरे पुत्र को विवाह की रात को सर्प काट लेगा और उसकी मृत्यु हो जायगी। उसके पुत्र हुआ, लखीन्दर उसका नाम रखा गया।

चांद बहुत-सी नौकाएँ भरकर व्यापारार्थ चलने को हुआ तो फिर मनसा ने कहा कि मेरी पूजा करके ही घर से बाहर कदम रखना। पर चाँद ने फिर मनसा का अपमान किया और व्यापारार्थ चल पड़ा। बहुत-सा धन कमाकर वह लौट रहा था तो मनसा ने प्रकट होकर फिर कहा कि मेरी भी पूजा कर दो। चाँद ने भर्त्सना करते हुए कहा कि जो शिव की पूजा करता है, वह क्या तेरी पूजा करेगा ? मनसा ने समुद्र में तूफान उठाकर चाँद की सभी नावें डुबा दीं, पर चाँद को वह बचाना चाहती थी। क्योंकि उसके द्वारा पूजे जाने पर ही तो उसकी पूजा हो सकेगी। मनसा ने पार जाने के लिए एक सहारे की चीज चाँद के पास फेंकी। वह उसे पकड़ने के लिए आगे बढ़ा, किन्तु जैसे ही उसे पता चला कि यह मनसा की कृपा से प्राप्त हुई है उसने उससे अपना हाथ खींच लिया। जैसे–तैसे वह पार लगा और भिखारी बन कर घर पहुँचा।

वह घर पहुँचा तो लखीन्दर को देख कर सब दुःख भूल गया। लखीन्दर जवान हो चुका था। उसका विवाह उजानी नगर के सारबेन की कन्या बेहुला से पक्का हुआ। लोहे का पक्का घर बनाया गया, जिससे उसमें कहीं छेद न रहे कि साँप आ जाय, और विवाह की रात को लखीन्दर को डस जाय। विवाह हुआ, नव दम्पति को विवाह की रात लौह-भवन में ठहराया गया। किन्तु जो होना था वही हुआ। उस छिद्र रहित लौह-भवन में भी उसी रात लखीन्दर को सर्प ने डस लिया। साँप के डसे को नदी में प्रवाहित कर दिया जाता है। अब बेहुला ने कहा कि वह भी अपने पति के शव के साथ देवताओं के लोक में जायगी और अपने पति के प्राण वापस लायेगी। बेहुला ने किसी की बात नहीं मानी और वह अपने पति के शव को गोद में लेकर अर्थी के बेड़े सहित गंगा में तैरती चली। बेड़ा गोदा के घाट पर रुका। गोदा वहाँ मछली पकड़ रहा था। वह बेहुला के रूप पर मुग्ध हो उससे विवाह करने को उद्यत हुआ। बेहुला ने शाप दिया कि जब तक वह देवलोक से लौटे तब तक उसके पैर में उसकी वंशी बिंधी रहे। बेड़ा आपू डोम के घाट पर पहुँचा, उसका मन डिगा तो बेहुला के शाप से वह बेहोश होकर वहाँ पड़ा रहा। मनसा ने एक घाट पर एक व्याघ्र को लखीन्दर का माँस खाने को भेजा। बेहुला उसे अपनी शरीर का ही माँस देने को प्रस्तुत हुई। मनसा ने एक जगह एक को चील बनाकर भेजा कि वह लखीन्दर के

पंजर को ही झपट लाये। बेहुला ने अपने अंचल से पंजर को ढक लिया। इस प्रकार अनेक संकटों से बचकर बेहुला देवताओं के धोबी घाट पर पहुँची। वहाँ उसने एक अद्भुत व्यापार देखा। धोबिन ने अपने गोद के बच्चे को भूमि पर उतार दिया और स्वयं कपड़े धोने लगी। बच्चा शरारत करने लगा तो धोबिन ने उसे मार कर डाल दिया, और कपड़े धो चुकने पर लौटने को जब तैयार हुई तो उसने बच्चे को फिर जिला लिया। जब यह धोबिन दूसरे दिन फिर आयी तो बेहुला ने उसके पैर पकड़ लिये, और अपने पति के लिए प्राणदान माँगा। धोबिन ने कहा कि तुम्हारा पति मनसा के शाप से मरा है, अतः मैं प्राणदान नहीं दे सकती। तुम देवताओं से जाकर प्राण माँगो। धोबिन उसे देवताओं के पास लिवा ले गयी। वहाँ उसने अपने नृत्य से देवताओं को प्रसन्न कर लिया। शिव जी ने कहा—जो वर चाहो माँग लो। बेहुला ने अपने पति के प्राण माँगे। शिव जी ने मनसा से कहा कि इसके पति के प्राण लौटा दो। मनसा ने कहा—मैं लौटा दूँगी, पर चाँद सौदागर को मेरी पूजा करनी होगी। बेहुला ने कहा—ऐसा ही होगा, पर तुम्हें मेरे छहों जेठ तथा चौदहों धनरत्नपूर्ण नावें लौटानी पड़ेंगी। इन सबको लेकर बेहुला अपने घर के घाट पर पहुँची। समाचार सुन-कर चाँद सौदागर भागता हुआ आया, पर जैसे ही उसने सुना कि यह सब मनसा की कृपा से हुआ है, उसे काठ मार गया, वह किसी से बिना कुछ कहे-सुने सीधा घर लौटा। बेहुला भी पीछे-पीछे गयी। उसने चाँद से मनसा की पूजा करने की प्रार्थना की। बेहुला के प्रेम ने चाँद सौदागर को दुर्बल बना दिया। बेहुला ने कहा कि आप बाँये हाथ से ही एक फूल मनसा पर चढ़ा दें। मनसा उसीसे प्रसन्न होंगी। चाँद ने कहा कि मुँह दूसरी ओर करके बाँये हाथ से बिना यह देखे कि मै किस पर फूल चढ़ा रहा हूँ, फूल छोड़ दूँगा। चाँद ने ऐसा ही किया। मनसा इससे ही प्रसन्न हो गयीं। उनकी पूजा मर्त्यलोक में इसके उपरांत चल पड़ी।

चंडी मंगल

कालकेतु की कथा

इन्द्र के पुत्र नीलाम्बर ने शापवश पृथिवी पर कालकेतु व्याघ्र के रूप में जन्म लिया। उसकी स्त्री का नाम फुल्लरा था। वह शिकार करता, मांस बेचता और घर का पालन करता। उसके शिकार से जंगल पशु-शून्य होने लगा तो जानवरों ने चण्डी से रक्षा की याचना की। चंडी ने रक्षा का वर दिया। दूसरे दिन जब कालकेतु शिकार के लिए निकला तो मार्ग में उसे एक सुनहली गोह दिखाई पड़ी। उसे धनुष की प्रत्यंचा में बाँधकर वह घर ले आया। उस दिन कोई और शिकार हाथ नहीं लगा था। कालकेतु तो गत दिवस के बचे मांस को बेचने बाजार चला गया, उधर आँख बचते ही वह गोह एक सुंदर षोडशी के रूप में बदल गयी। फुल्लरा ने जब उसे देखा तो आश्चर्य में पड़ गयी। उसे लगा कि कालकेतु मेरे ऊपर सौत ले आया है। वह कालकेतु को बाजार से लिवा लायी। कालकेतु भी आश्चर्य-चकित था। उसने उस सुदरी से कहा कि यह घर उसके योग्य नहीं, वह जहाँ कहे वहाँ उसे पहुँचा आये, पर वह चुप। तब कालकेतु ने उसे तीर का निशाना बनाना चाहा, पर तीर धनुष के साथ उसके हाथ से चिपका रह गया। अब उसने कहा कि मैं चंडी हूँ, मेरा घट अपने घर में स्थापित करो और प्रत्येक सप्ताह में तीसरे दिन मेरी पूजा करो। देवी ने उसे एक अँगूठी दी और सात घड़े रत्नों से भरे बताये। देवी ने उसे आदेश दिया कि इस धन से वह गुजरात में एक राज्य स्थापित करे, न्यायपूर्वक राज्य करे और चंडी-पूजा प्रचलित कराये।

कालकेतु ने गुजरात में राज्य स्थापित किया। कलिंग के बहुत-से लोग उस राज्य में आ बसे। भारुदत्त नामक एक धर्त्त भी आ गया था। उसके अत्याचारों के कारण उसे गुजरात राज्य से निष्कासित कर दिया गया। भारुदत्त बदला लेने के लिए कलिंग के राजा के पास गया और व्याध कालकेतु की कथा सुनायी। कलिंगराज ने कालकेतु पर आक्रमण कर दिया और उसे बंदी बना

लिया। दूसरे दिन उसे प्राण-दंड दिया जाना था। तभी कालकेतु ने चंडी की वंदना की। चंडी ने कलिंगाधिपति को भयानक स्वप्न दिया। फलतः उसने कालकेतु को मुक्त कर दिया। उसका राज्य उसे लौटा दिया और उससे मित्रता कर ली।

कालकेतु के शाप का समय पूरा हो गया था, वह मृत्यु पाकर फिर नीलाम्बर रूप में देवलोक को लौट गया। फुल्लरा भी देवलोक में नीलांबर की पत्नी छाया थी, जो स्वेच्छया पति के दुःख में हाथ बँटाने फुल्लरा बनकर उसकी पत्नी हुई थी। वह भी देवलोक को पति के साथ चली गयी।

श्रीमन्त सौदागर की कहानी

धनपति नाम का सौदागर पूर्ण युवावस्था में था। उसें कबूतर पालने और उड़ाने का शौक था। वह कबूतरियों को पिजड़ों में रखकर उनके कबूतरों को जंगल में ले जाकर उड़ाता था, फिर कबूतर किस प्रकार अनेक संकटों को पार कर अपनी प्रिय कबूतरियों से आकर मिलते थे, यह देखा करता था। एक दिन और कबूतर तो लौट आये, बस, एक कबूतर का पीछा चील ने किया। कबूतर ने अपनी प्राण रक्षा के लिए खुल्लना नाम की एक सुंदरी के आँचल में शरण ली। खुल्लना इन्द्र की अप्सरा रत्नमाला थी, एक शाप के कारण मर्त्यलोक में लक्षपति के घर में जन्मी थी। धनपति ने कबूतर की खोज की और खुल्लना के पास जा पहुँचा। खुल्लना धनपति की पत्नी लहना की चचेरी बहिन थी। धनपति ने खुल्लना को देखा और उसके प्रेमपाश में बँध गया। उसने खुल्लना से शादी कर ली।

तभी उजानी के राजा ने धनपति को तोता-मैना के जोड़े के लिए सोने का पिंजड़ा बनवा लाने के लिए गौड़ भेजा। लहना और खुल्लना इधर बड़े प्रेम से रहने लगीं, पर दुर्बला नाम की दासी ने लहना को बहका दिया। लहना अब खुल्लना की शत्रु हो गयीं। पहले तो उसने लीला नाम की स्यानी से उपाय पूछा, पर वह जँचा नहीं तो, उसने स्वयं ही एक पत्र लिखवाया जिसे झूठे ही उसने बताया कि धनपति द्वारा लहना के नाम भेजा गया है। उसमें उसने लिखवाया कि खुल्लना से मेरा विवाह अशुभ रहा, अतः उससे गहने-कपड़े उतरवा लो, एक

समय भोजन दो, भेड़ें चराने खेतों पर भेजो, और धान कूटने के स्थान में सुलाओ।

खुल्लना ने कहा कि यह पत्र जाली है। इस पर दोनों में झगड़ा बढ़ गया। लहना में कुछ अधिक बल था, उसने खुल्लना को दबा लिया, और खुल्लना को भेड़ें चराने जाना पड़ा। एक दिन 'सर्वशी' भेड़ को कोई जंगली जानवर खा गया। खुल्लना लहना के भय से उस दिन घर नहीं गयी, जंगल में ही रह गयी। वहाँ उसने पाँच अप्सराओं को चंडी की पूजा करते देखा। उसने स्वयं चंडी की पूजा की, और उस रात उन अप्सराओं के साथ वहीं सो गयी। प्रातः लहना ने उसका बड़े प्रेमपूर्वक स्वागत किया, उसी दिन धनपति भी आ गया, और खुल्लना को अपना खोया स्थान फिर मिल गया।

तभी धनपति के यहाँ श्राद्ध हुआ। कुटुम्बी लोग एकत्र हुए, और खुल्लना के चरित्र पर संदेह किया, क्योंकि वह खेतों में भेड़ चराती फिरी थी। खुल्लना ने कहा कि उसके सत की परीक्षा कर ली जाय। अतः उसे साँप से कटवाया गया, तप्त लोहा हाथों पर रखा गया, अन्त में लाख के घर में रखकर उसमें आग लगा दी गयी। पर खुल्लना का बाल भी बाँका नहीं हुआ। उसका सौन्दर्य और भी उद्दीप्त हो उठा। अब सबको सन्तोष हुआ।

अब धनपति ने व्यापार यात्रा के लिए विदेश प्रस्थान की तैयारी की। जब वह अपनी पत्नी खुल्लना से बिदा लेने घर में गया तब खुल्लना पति की यात्रा में कल्याण-कामना के लिए चंडी पूजा में लगी हुई थी। धनपति को यह बुरा लगा। उसने एक ठोकर में देवी का घट फोड़ दिया और रुष्ट भाव से घर से चल पड़ा। रास्ते में उसके सभी जहाज डूब गये, केवल 'मधुकर' नाम का जहाज बचा रहा, जिसमें वह स्वयं यात्रा कर रहा था। समुद्र में उसने एक बड़ा अद्भुत दृश्य देखा। समुद्र में कोमल नालों पर सुंदर कमल खिले हुए थे, इनमें से एक अत्यधिक सुंदर कमल पर एक अत्यन्त रूपवती स्त्री बैठी हुई थी। उसके मुख से सौन्दर्य की प्रभा चारों ओर छिटक रही थी। इससे भी अधिक आश्चर्य का दृश्य उसने यह देखा कि वह सुन्दरी अपने कोमल करों से एक श्वेत विशाल हाथी को पकड़े हुए थी और उसे निगल रही थी।

कमलकामिनी का यह अनोखा दृश्य देखता हुआ धनपति सिंहलद्वीप में पहुँचा। वहाँ के राजा से उसने उस अद्भुत दृश्य का वर्णन किया। जब राजा ने विश्वास नहीं किया तो उसने शर्त बदी कि यदि वह उस दृश्य को राजा को न दिखा सके तो बंदीखाने में डाल दिया जाय। धनपति और राजा दोनों चले, उस समुद्र में पहुँचे, तो वहाँ वह दृश्य था ही नहीं। अब तो धनपति को आजीवन कारावास में डाल दिया गया।

उधर खुल्लना के पुत्र हुआ, उसका नाम रखा गया श्रीमन्त। श्रीमन्त बड़ा हुआ तो अपने पिता की खोज में चला। उसने भी कमलकामिनी का दृश्य देखा। सिंहल पहुँचकर राजा से उसकी शर्त हुई कि यदि वह उस दृश्य को दिखा सका तो राजा अपनी कन्या का विवाह उससे कर देगा, नहीं दिखा सका तो उसका सिर काट दिया जायेगा। श्रीमन्त बहुत सुन्दर था, राजा को दुःख था कि वह ऐसी शर्त कर रहा था, पर उसकी ज़िद थी। दोनों गये, और वही हुआ जो धनपति के साथ हुआ था। न वहाँ कमल थे, न कमल-कामिनी थी, न वह हाथी। राजा ने श्रीमंत का सिर काटने का आदेश दिया। श्रीमन्त बड़ा दुखी हुआ। उसने चंडी का स्मरण किया। चंडी प्रकट हुई, उसने श्रीमन्त को गोद में ले लिया। सिंहल के राजा की सेना को नष्ट कर दिया। राजा ने आकर चंडी की वंदना की। चंडी प्रसन्न हुई। उसने समस्त सेना को पुनरुज्जीवित कर दिया। राजा को वह कमलकामिनी का अद्भुत दृश्य भी दिखाया। राजा ने श्रीमन्त से अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। धनपति को भी छोड़ दिया गया। धनपति की आँख में रोग हो गया था, उसे फीलपाँव भी हो गया था, पर श्रीमन्त ने पहचान लिया। उसने आग्रह करके पिता से चंडी की पूजा करायी। पूजा करते ही धनपति दोनों रोगों से मुक्त हो गया। तब वे दोनों लौटे, सिंहल की राजकन्या सुशीला को भी साथ लाये। उजानी पहुँचने पर वहाँ के राजा विक्रमकेसरी ने भी अपनी पुत्री का विवाह उससे कर दिया। अब सब सुखपूर्वक रहने लगे। शाप की अवधि पूर्ण हो जाने पर खुल्लना पुनः अप्सरा का रूप ग्रहण कर देवलोक चली गयी और श्रीमन्त भी शापमुक्त हो अपने मूलरूप में आ गया। वह मालाधर नाम का गंधर्व था।

कालिका मंगल

सुदर नाम के एक राजकुमार ने भद्रकाली की पूजा की। भद्रकाली प्रकट हुई और कहा वर माँग। सुंदर ने कहा--"मुझे राजकन्या विद्या से एकान्त कक्ष में मिलाइए।" देवी ने 'तथास्तु' कहकर उसे एक शुक पक्षी दिया और कहा कि यही पक्षी तुम्हें इस कार्य में सहायता प्रदान करेगा।

शुक पक्षी को लेकर सुदर अपनी प्रेमिका विद्या के नगर में पहुँचा। वहाँ वह एक वृक्ष के नीचे आराम करने लगा। तभी एक मालिन (हीरा) से उसका परिचय हुआ। यह मालिन विद्या के लिए फूलमाला ले जाया करती थी। मालिन से सुंदर को विदित हुआ कि राजकुमारी ने यह प्रतिज्ञा की है जो उसे विद्या विषयक वाद-विवाद मे पराजित कर देगा, उसीसे विवाह करेगी।

दूसरे दिन जब मालिन फूलमाला लेकर विद्या के पास जाने लगी तो सुंदर ने पत्र पर एक पद्य लिखकर उसी सुंदर माला में गूँथकर रख दिया। विद्या ने वह रचना पढ़ी। उसने मालिन के साथ संकेत भेजा कि स्नान-घाट पर मिलेगे।

विद्या और सुंदर दोनों ने स्नान-घाट पर एक-दूसरे को देखा। संकेत के द्वारा ही सुंदर ने विद्या को सूचित किया कि वह आज रात को उससे उसके ही कमरे में मिलेगा।

अब सुंदर परेशान। कैसे अपने दिये वचन की रक्षा करे, कैसे वह विद्या के कमरे में पहुँचे। उसने काली का स्मरण किया। काली ने प्रकट होकर कहा कि चिन्ता मत करो, एक सुरंग मालिन के घर से विद्या के कक्ष तक जायगी उसमें होकर विद्या से जा मिलना।[१]

इस सुरंग के द्वारा सुंदर और विद्या प्रतिदिन मिलने लगे। दोनों ने गान्धर्व विवाह भी कर लिया। अब विद्या गर्भवती हो गयी। उसकी एक दासी ने यह समाचार रानी से कह दिया। राजा के पास भी समाचार पहुँच गया।

१. कुछ में कहा गया है कि देवी ने उसे एक अस्त्र दिया, उससे वह एक गुफा, आसानी से विद्या के घर तक खोद सका।

उसने कोतवाल को उस चोर को पकड़ने का आदेश दिया। कोतवाल ने महल पर घेरा डाल दिया, किन्तु चोर तो सुरंग से आता था। तब उसने विद्या के महल में गुप्त रूप से सिंदूर छिड़कवा दिया। सुंदर महल में आया तो उसके वस्त्रों में सिंदूर लग गया। उन वस्त्रों को धोबी के यहाँ डाला गया। धोबी के द्वारा सुंदर का पता लगा, और उसे बंदी बना लिया गया। उसका शिरच्छेदन करने का आदेश राजा ने दिया। जब सुंदर शिरच्छेदन के लिए श्मशान ले जाया गया तो उसने काली का स्मरण किया। काली ने प्रकट होकर उसकी रक्षा की और राजा को उसका परिचय देकर कहा कि विद्या का विवाह उससे कर दिया जाय। राजा ने प्रसन्नतापूर्वक विद्या का विवाह सुंदर के साथ कर दिया।

शीतला मंगल

गोकुल पाला

कृष्ण-बलराम के माता निकलीं। शीतला की पूजा करने से माता ठीक हो गयीं।

विराट पाला

विराट राज्य में माता रोग जोर से फैला। शीतला की पूजा करने से वह रोग दूर हो गया।

चन्द्रकेतु का पाला

शीतला देवी ने मर्त्यलोक में अपनी पूजा कराने का विचार किया। वह ज्वरासुर को साथ ले वृद्धा के वेष में चन्द्रकेतु राजा के यहाँ पहुँची और उससे कहा कि तुम अपने राज्य और पुत्रों की कल्याण-कामना की दृष्टि से शीतला-पूजन करो। चन्द्रकेतु ने कहा कि भला ऐसा कहीं हो सकता है। शिव का पूजक शीतला की पूजा नहीं करेगा। अब उसके पुत्र एक-एक कर शीतला रोग से पीड़ित हो मरने लगे तब उसने शिव की आराधना की। शिव स्वयं शीतला से युद्ध करने आये, पर पराजित होकर भाग गये। राजा का छोटा पुत्र शेष था। उसे सूर्य की सहायता से एक कमल में छिपा दिया गया। वह कमल के नाल में होकर पाताल पहुँचा। पाताल के राजा वासुकि ने शीतला के भय से उसे ले जाकर पहाड़ के एक गह्वर में छिपा दिया। शीतला उसे तलाश कर रही थी। उस गह्वर में ही शीतला रोग से उसकी मृत्यु हो गयी।

यह सब स्वप्न में उस राजकुमार की पत्नी चन्द्रकला ने देखा। चन्द्रकला पति के साथ सती होने को प्रस्तुत हुई। तभी शीतला देवी ब्राह्मणी वेश में पहुँची और संजीवनी मंत्र से राजकुमार को जीवित कर दिया। उसने चन्द्रकला को भी वह मंत्र सिखा दिया। चन्द्रकला ने घर लौटकर राजा चन्द्रकेतु से शीतला की पूजा करने का आग्रह किया और स्वयं सभी मृतकों को जीवित करने का

प्रयत्न करने लगी। राजा अब भी शीतला-पूजन के लिए प्रस्तुत नहीं था। तब शिव स्वयं प्रकट हुए और उन्होंने राजा से शीतला की पूजा करायी। इससे उसका संपूर्ण राज्य रोगमुक्त हो गया।

कृष्णराम दास का शीतला मंगल

शीतलादेवी वसंतराय को लेकर अपनी पूजा कराने के लिए मर्त्यलोक में आयीं। ये पहले सतगाँव पहुँचे। वहाँ पहुँचकर बसंत ने एक वैष्णव व्यापारी का वेश धारण कर लिया, बैलों पर सामान लदा था, उनकी नाथ पकड़े वह चुंगी पर पहुँचा। चुंगी के कायस्थ मदनदास के पूछने पर वसंत ने बताया कि वह व्यापार करने के उद्देश्य से सामग्री लेकर बेचने आया है। मदन ने समझा कि यह तो एक वैष्णव है, इसकी कौन सुनेगा। उसने बैलों का समस्त सामान अपने राजपूतों के द्वारा उतरवा लिया। बैलों पर खाने-पीने की ही चीजें थीं। मदन और उसके साथियों ने उन पर खूब हाथ साफ किया। वास्तव में वे भोजनीय पदार्थ तो रोग ही थे। अब तो वे सब बीमार पड़ गये। मदन ने वैष्णव की खुशा-मद की। वसंत ने कहा अब आगे वैष्णवों से कर मत लेना और वसन्त तथा शीतला का मंदिर बनाकर पूजा करना। मदन ने गंगा के किनारे वसन्त तथा शीतला का मंदिर बनवाया। तब वे सब स्वस्थ हो गये।

इससे आगे वसन्त द्वारा काजी को जीतने की कथा दी गयी है, जो अधूरी ही रह गयी है।

षष्ठी मंगल की कथा

षष्ठी देवी ने सोचा कि यदि सप्त ग्राम का राजा शत्रुजित मेरी पूजा करने लगे तो मेरी पूजा उच्च वर्ग में भी प्रचलित हो जायगी। वह ब्राह्मणी का वेष बनाकर रानी के पास पहुँची और कहा मैं बहुत दूर से गंगा स्नान करने निकली हूँ, पर आज अरण्य षष्ठी की पूजा का दिन है। तुम्हारे साथ अरण्य षष्ठी की पूजा करूँगी। रानी ने अरण्य षष्ठी की पूजा का माहात्म्य पूछा तो ब्राह्मणी ने बताया कि सायबेने नाम का एक बनिया था। उसके षष्ठी की कृपा से सात पुत्र थे। उसकी पत्नी सातों पुत्र-बधुओं के साथ षष्ठी पूजा करती थी। एक छोटी बहू गर्भवती थी, सासु ने षष्ठी पूजा करके, पूजा की सामग्री की रक्षा करने

के लिए उसे छोड़ दिया। उसे देखकर बहू के मुँह में पानी भर आया। उसने उस सामग्री को खा लिया और फैला दिया। सास के पूछने पर कह दिया कि एक काली बिल्ली खा गयी है। काली बिल्ली षष्ठी का वाहन है। वह क्रुद्ध हुई कि मेरा झूठा नाम लगाती है। अतः उसने बदला लेने की ठानी। जब बहू के पुत्र हुआ तो सोहर में से वह काली बिल्ली उसके बच्चे को उठा ले गयी। इस प्रकार छः पुत्रों को ले गयी।

सातवीं बार उसके पुत्र हुआ। काली बिल्ली जब उसे लेकर भागी तो बहू ने उसे देख लिया। उसके पीछे वह भी भागी, पर गश खाकर रास्ते में ही गिर पड़ी। काली बिल्ली उस पुत्र को लेकर षष्ठी के पास पहुँची। षष्ठी ने प्रकट होकर बहू को सारी बात बतायी। उसका समस्त अपराध क्षमा कर दिया। सातों पुत्र लौटा दिये। घर लौटकर बहू ने सादर षष्ठी की पूजा की।

ब्राह्मणी से यह वृत्त सुनकर शत्रुजित की रानी ने भी समारोहपूर्वक षष्ठी पूजा की और इस प्रकार उच्च वर्ग में षष्ठी पूजा प्रचलित हो गयी।

शारदा मंगल

एक राजा के पुत्र नहीं था। शिव की महान् तपस्या करके पुत्र का वर प्राप्त किया। पुत्र हुआ, उसका नाम रखा 'लक्षधर'। विद्यारंभ के समय समारोहपूर्वक सरस्वती पूजन हुआ। गुरु ने लक्षधर को शिक्षा देने का पूरा प्रयत्न किया पर सरस्वती उससे पूर्व-जन्म के किसी कृत्य से रुष्ट थी। वह एक अक्षर भी नहीं सीख सका। राजा ने कहा—मूर्ख पुत्र से तो निपुत्री रहना अच्छा। कोतवाल को आज्ञा दी कि जाओ इसे मार डालो। कोतवाल उसे श्मशान में ले गया। तभी सरस्वती के मन में लक्षधर पर दया पैदा हुई। उसने कोतवाल के कान में कहा कि इसे छोड़ दो, राजा तुमसे कुछ नहीं कहेगा। कोतवाल ने लक्षधर को तो जंगल में छोड़ दिया और स्वयं शृगाल को मार-कर उसके रक्त में वस्त्र रँग कर राजा को दिये और कह दिया कि लक्षधर को मार दिया।

घोर वन में लक्षधर के लिए सरस्वती ने वृद्धा ब्राह्मणी बनकर एक पर्ण-कुटी तैयार की और उसमें उसे अपना पुत्र कहकर पालन किया। एक बार ब्राह्मणी

कहीं चली गयी। लक्षधर ने कुटी में एक पुस्तक देखी। उस पर राधाकृष्ण लिखा हुआ था। पर उसकी समझ में कुछ भी नहीं आया। उसने उलट-पलट-कर देखी और आखिर वह पुस्तक नदी में फेंक दी। जल से वे लिखे हुए शब्द मिट गये। देवताओं ने उस ग्रंथ के उद्धारार्थ नारद को भेजा। तब तक ब्राह्मणी कुटी में पहुँची। ग्रंथ न देखकर वह सब बात समझ गयी। तब लक्षधर के समक्ष प्रकट हो उसने कहा कि तुम यहाँ वेदेव नामक राज्य में जाओ और राज-कन्या का दास बनकर चार साल रहो। वहाँ तुम परोक्ष रूप से राजकन्या के गुरु जनार्दन ओझा से चार वर्ष में ही समस्त शास्त्रों के ज्ञाता हो सकोगे। लक्षधर ने ऐसा ही किया। वह राजकन्या का भृत्य बना, 'धूला कुट्या' उसने अपना नाम रखा। सरस्वती पूजन के समय 'धूला कुट्या' ने रात्रि भर जागरण कर सामग्री की रक्षा की। अन्तिम पहर में उसे निद्रा ने घेर लिया, पर कुछ आहट पाकर उसकी आँख खुली तो देखा एक ब्राह्मणी सामग्री को खाने-फैलाने में जुटी है। उसने उसे पकड़ लिया। तब देवी सरस्वती प्रकट हुई और उसे आशीर्वाद दिया कि वह शीघ्र ही समस्त शास्त्र जान लेगा।

उधर जनार्दन गुरु राजकन्या के प्रेम में फँस गये। उन्होंने राजकन्या को विद्या-दान देने की शर्त्त यह रखी कि वह उसके साथ भाग चले। राजकन्या पढ़ने के लिए व्यग्र थी, उसने गुरु का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया,पर सरस्वती यह नहीं चाहती थीं। जिस रात को जनार्दन ने भागने का निश्चय किया था, उस दिन युक्ति से देवी ने जनार्दन को तो उनके अपने घर में ही बन्द करा दिया। उधर जिस नाव पर इन्हें भागना था, उस पर राजकुमारी पहले ही पहुँच चुकी थी। सरस्वती की प्रेरणा से धूलाकुट्या भी अँधेरे में नाव पर पहुँचा। स्वयं सरस्वती ने नौका चलायी। प्रातः भेद खुला। बाध्य होकर राजकुमारी को धूलाकुट्या को वरण करना पड़ा।

धूलाकुट्या अपनी पत्नी सहित अपने पिता के राज्य में पहुँचा। वहाँ सरस्वती की कृपा से उसने खूब धन-संपत्ति अर्जित की। एक विशाल सहभोज में अन्य राजाओं के साथ राजा सुबाहु को भी उसने निमंत्रित किया। सुबाहु दरिद्र हो चुका था, दरिद्रवेष में जाने से उसका समुचित आदर नहीं हुआ। तब उसने रुष्ट हो कोतवाल को आज्ञा दी कि धूलकुट्या का वध किया जाय।

कोतवाल धूलाकुट्या को वध करने के लिए ले गया, पुनः सरस्वती ने उसे मुक्त करा दिया। यह समाचार राजा के पास पहुँचा तो राजा नें कोतवाल के वध की आज्ञा दी। तब सरस्वती ने प्रकट होकर राजा को समस्त वृत्तान्त बताया और पिता-पुत्र को मिलाया।

राय मंगल—एक राजा था, उसके संतान नहीं थी। उसने शिव की पूजा की, वरदान में उसे पुत्र मिला। इसी का नाम दक्षिण राय रखा गया। दक्षिण राय ने पिता की मृत्यु के उपरांत सुन्दर वन के भी कुछ अंश को अधिकार में कर लिया और एक नया राज्य बसाया। मृत्यु के उपरांत वही उस क्षेत्र का देवता हो गया। दक्षिण राय ने अपने मित्र काल़ राय को हिजली भेजा। वहाँ के राजा नरसिंह के मृत पुत्र को दक्षिण राय ने जीवित कर दिया। राजा ने तब दक्षिण राय की पूजा की।

बड़दह के बनिया पुष्पदन्त ने रताई बाउल्या को समुद्र-यात्रा पर जाने के लिए कई डोंगे बनाने का काम दिया। वह बाउल्या अपने छः भाइयों और एक मात्र पुत्र को लेकर सुन्दर बन में लकड़ी काटने पहुँचा। बहुत-सी लकड़ी तो काट ली। तब एक विशाल वृक्ष उन्हें दिखाई दिया, उसे भी काटने का प्रयत्न किया। उस पर दक्षिण राय का निवास था। दक्षिण राय ने क्रुद्ध होकर अपने छः बाघों को आज्ञा दी कि इसके छः भाइयों को खा जाओ। वे बाघ उसके भाइयों को खा गये। रताई भाइयों के शोक में था। दक्षिण राय ने आकाशवाणी से उसे बताया कि तू अपने पुत्र की बलि देकर मेरी पूजा कर, तेरे भाइयों को पुनरुज्जीवन दे दूँगा। रताई ने वैसा ही किया। दक्षिण राय प्रसन्न हुए, उन्होंने भाई भी दे दिये और पुत्र को भी प्राण-दान दिया।

रताई काष्ठ लेकर गया और नावें बनाकर पुष्पदन्त को दीं। पुष्पदन्त का पिता बहुत काल पहले व्यापार के लिए समुद्र-यात्रा पर गया था, पर अभी तक लौटा नहीं था। पुष्पदन्त उन्हें खोजने के लिए उन नौकाओं पर चला। उसकी माता भी दक्षिण राय की भक्त थी। उसने पुष्पदन्त से कह दिया था कि संकट के समय दक्षिण राय को स्मरण करना। स्वयं माता ने घर पर दक्षिण राय की पूजा की, दक्षिण राय ने प्रकट होकर माँ को आश्वासन दिया कि वह उसके

पुत्र की रक्षा करेगा। पुष्पदन्त चलते-चलते 'खनियाय' पहुँचा। वहाँ दक्षिण राय के थान पर पूजा करने गया। उस थान के ठीक सामने पीर की समाधि थी। वहाँ मिट्टी की वेदिका थी, वहीं दक्षिण राय का मिट्टी का मुंड भी स्थापित था। पूछने पर कर्णधार ने बताया कि एक बार दक्षिण राय तथा बड़े गाजी खाँ में भयानक युद्ध हुआ। बात यह थी कि एक बार धनपति नामक सौदागर यहाँ आया। उसने दक्षिण राय की पूजा की, गाजी की उपेक्षा की। फकीरों ने गाजी से शिकायत की। गाजी ने दक्षिण राय के थान को नष्ट करा दिया। यह समाचार दक्षिण राय को मिला। उसने गाजी पर चढ़ाई कर दी। गाजी भी युद्ध करने आ गया। दोनों ओर व्याघ्रों की फौज थी। भयानक युद्ध छिड़ गया। युद्ध होता ही गया, क्योंकि कोई भी पराजित नहीं हो रहा था ; पृथ्वी पर हा-हाकार मच गया। पृथ्वी को रसातल जाते देख भगवान् प्रकट हुए, उनका आधा रूप कृष्ण का था और आधा पैगम्बर का। आधे सिर पर कुलह था, आधे पर मोरपंखों का मुकुट था। गले में आधे में वैजयन्ती माला तो दूसरी ओर तसवीह, शरीर आधा गोरा और आधा घनश्याम-सा श्याम, एक हाथ में कुरान दूसरे में पुराण। कृष्ण-पैगम्बररूपी भगवान् ने दोनों में सन्धि करायी और यह निश्चय कराया कि समस्त भाटि क्षेत्र में दक्षिण राय की पूजा होगी, कालू राय हिजली में रहेंगे। बड़े गाजी खाँ सर्वत्र सम्मान पायेंगे। बड़े गाजी खाँ की समाधि और दक्षिण राय के मुण्ड की पूजा सब जगह होगी। तभी से मिट्टी की वेदी या समाधि और मिट्टी के मुंड साथ-साथ पूजे जाते हैं। पुष्पदन्त ने भी वहाँ दोनों की पूजा की और आगे यात्रा के लिए चल पड़ा। कई समुद्र पार किये, कई राज्य पार किये। एक समुद्र में उसे बड़ी अद्भुत नगरी दिखाई पड़ी। पुष्पदन्त अब तुरंग नगर में पहुँचा। वहाँ के राजा सुरथ के पास वह भेंट लेकर पहुँचा। राजा से पुष्पदन्त ने उस अद्भुत नगर का वृत्तान्त कहा। राजा ने अविश्वास किया। पुष्पदन्त ने कहा कि चलिए वह नगर दिखा दूँ। यदि नहीं दिखा सका तो आप मेरा वध करा दीजियेगा। राजा ने कहा कि यदि तुम दिखा सके तो मैं अपनी पुत्री का विवाह तुमसे कर दूँगा और आधा राज्य दे दूँगा।

दोनों गये, पर वह नगरी वहाँ कहाँ थी। राजा ने पुष्पदन्त के वध की

आज्ञा दी। वध से पूर्व पुष्पदन्त ने दक्षिण राय का स्मरण किया। दक्षिण राय ने पुष्पदन्त की रक्षा की, उसके व्याघ्रों ने सबको खा लिया। राजा और उसकी सेना भी मार डाली गयी। तब रानी युद्ध भूमि में पहुँची। दक्षिण राय ने आकाशवाणी से रानी को बताया कि पुष्पदन्त मेरा भक्त है, इसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दो और राज्य में मेरी मूर्ति बनाकर पूजा कराओ। रानी ने स्वीकृति दी। दक्षिण राय ने अमृत छिड़क कर सबको जीवित कर दिया। पुष्पदन्त से कन्या का विवाह कर दिया। पुष्पदन्त का पिता देवदत्त भी यहीं कारावास में था। वह भी राजा को वह माया नगरी नहीं दिखा सका था। पुष्पदन्त ने पिता को भी मुक्त कराया और दक्षिण राय की कृपा से सभी सानन्द घर लौटे।

राय मंगल का मुसलमानी संस्करण

एक सौदागर शहद और मोम संग्रह करने के लिए सुंदर वन को चला। अपने भतीजे दुखी को उसने साथ ले लिया। दुखी अपनी विधवा माता का इकलौता पुत्र था। उसकी माता ने वनबीबी का स्मरण किया और कहा हे वनबीबी ! पुत्र की रक्षा करना। यह दल सुंदरवन के किनारे पहुँचा। नौकाएँ किनारे लगा दी गयीं। दुखी को नावों की रक्षा के लिए छोड़ सौदागर बन में गया। समस्त वन छान डाला, पर शहद की एक बूँद नहीं मिली। दक्षिण राय ने समस्त शहद चुराकर छिपा दिया था। शाम को थककर सौदागर नावों पर आया, और सो गया। दक्षिण राय ने स्वप्न दिया कि यदि तुम अपने भतीजे दुखी की बलि मुझे दो तो तुम्हें शहद और मोम मैं दे दूंगा। पहले तो सौदागर ने आनाकानी की, अन्त में उसने बलि देना स्वीकार कर लिया। दक्षिण राय ने प्रसन्न होकर उसकी नाव शहद और मोम से भर दी। घर लौटते समय सौदागर ने दुखी को नाव से धकेलकर समुद्र में गिरा दिया। दुखी जैसे-तैसे तैरकर किनारे लगा। वहाँ व्याघ्र रूप में दक्षिण राय उसे खाने को उद्यत था। भयभीत हो दुखी ने आँखें बंद कर लीं और वनबीबी का स्मरण किया। वनबीबी ने आकर दुखी को गोद में ले लिया। दक्षिण राय वनबीबी के भय से भागा। बीबी ने अपने भाई को आज्ञा दी कि दक्षिण राय को वन से बाहर खदेड़ आओ। दक्षिण राय भागकर जेन्दागाजी या

बड़े गाजी खाँ की शरण में गया। गाजी ने उसे अभय दान दिया और वनदेवी वनबीबी ने भी उसे क्षमा कर दिया।

सूर्य मंगल (प्रथम कहानी)

जाड़ों में माँ के बहुत चीखने-पुकारने पर तो सूर्य की नींद खुली। उन्होंने रूपे (चाँदी) के भवन से तेल, सोने के भवन से सुगन्ध ली और क्षीरसागर मे स्नान करने गये। स्नान करके एक अँगोछा बाँध लिया, तब भक्तों की पूजा स्वीकार की। फिर पान तथा हड़ से मुख शुद्ध किया। अब वे अपना मंगल गान सुनने को चले। नौका से उस पार जाना था। दूसरे पार इन्हें दो ब्राह्मण कन्याएँ दिखाई पड़ीं। इनमें पूर्वराग पैदा हो गया। लोग जान गये। उन्होंने सूर्य की माँ के पास आकर कहा कि सूर्य का विवाह कर दो। माँ तो अभी सूर्य को बच्चा समझती थी। दूसरी बार जब लोगों ने फिर वही बात कही और उधर सूर्य ने भी मन की बात बतायी तब माँ ने विवाह की अनुमति दी। विवाह पक्का हुआ। गौरा से विवाह करके वह लौटने लगे। गौरा के माता-पिता ने नदी किनारे तक आकर बिदा दी, मायके के लोगों में क्रंदन हो रहा था। सूर्य गौरा को लेकर घर आये।

सूर्य मंगल (दूसरी कहानी)

एक दरिद्र ब्राह्मण के दो कन्याएँ थीं––रुमुना तथा झुमुना। ब्राह्मण की पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी। ब्राह्मण भिक्षा पर निर्भर रहता था। जब ब्राह्मण भिक्षार्थ जाता तभी दोनों लड़कियाँ भी वन को चली जातीं और शाक तोड़ लातीं, और पिता के लौटने से पूर्व ही घर आ जातीं। एक दिन वन में दोनों लड़कियों ने देव-कन्याओं को सूर्य-पूजा करते देखा। उन्होंने भी सूर्य-पूजा की। सूर्य ने उन्हें दर्शन दिये और कहा कि उनके दुःख शीघ्र दूर हो जायँगे। वे जब घर लौटीं तो देखा कि झोंपड़ी की जगह महल खड़ा है। ब्राह्मण भी आकर प्रसन्न हुआ। सभी सूर्य-पूजा करने लगे। उस नगर के राजा की लड़की विवाह योग्य थी। राजा ने कहा कि कल प्रातः नींद खुलते ही जिसे देखूँगा उसीको राजकन्या दे दूँगा। सूर्य ने दोनों बालिकाओं से कहा कि कल प्रातः अपने पिता को राजा के पास भेजना। प्रातः ही वह ब्राह्मण

राजा के सामने पहुँचा। नींद खुलते ही राजा ने ब्राह्मण को देखा और राजकन्या से उसका विवाह कर दिया। राजकन्या ने आकर दोनों लड़कियों को घर से निकाल देने की बात ब्राह्मण से कही। ब्राह्मण ने लड़कियों से कहा, चलो तुम्हें मौसी से मिला लाऊँ। दोनों पिता के साथ चलीं। एक भयानक वन में पहुँचकर थक जाने के कारण एक बड़ के नीचे वे रुके ; वहाँ दोनों लड़कियों को नींद आ गयी। ब्राह्मण उन्हें वहीं छोड़कर घर लौट आया। लड़कियों की जब आँख खुली तो घोर रात्रि हो चुकी थी। वे वट-वृक्ष की कृपा से उस पर चढ़ कर सो गयीं। इस प्रकार जंगली जानवरों से रक्षा हुई। प्रातः ही एक राजा शिकार के लिए आया। वह उन दोनों लड़कियों को ले गया। बड़ी से स्वयं विवाह कर लिया। छोटी का विवाह कोतवाल से कर दिया। एक दिन रानी सूर्य-पूजा कर रही थी कि राजा आ गया। रानी को पूजा करते देख क्रुद्ध हुआ। पूजा का घट फोड़ डाला और रानी को कोतवाल को सौंप कर उसका वध कर डालने की आज्ञा दी। कोतवाल ने उसे वन में छिपा दिया। दोनों बहिनों के समय पर पुत्र हुए। रानी ने पुत्र का नाम रखा दुखराज। कोतवाल के पुत्र का नाम हुआ सुखराज। दुखराज एक दिन मौसी के यहाँ गया। मौसी ने उसे बहुत-सा सामान दिया। मार्ग में सूर्य-देवता उसका समस्त सामान छीन ले गये। आखिर दोनों माँ-बेटे कोतवाल के यहाँ ही रहने लगे। तभी राजा को सूर्य की कृपा से रानी का स्मरण हो आया। कोतवाल से कहा कि हमारी रानी लाओ। कोतवाल ने अपने घर बुलाकर राजा को रानी सौंप दी। जब वे अपने और रानी के साथ महलों को लौट रहे थे कि एक अपशकुन हो गया। राजा ने सात हाड़ी-पुत्रों के वध की आज्ञा दी। वे सातों मार डाले गये, पर उनकी माँ ने सूर्य से प्रार्थना की, और सूर्य ने प्रसन्न हो उन्हें जीवित कर दिया। यह चमत्कार देखकर राजा भी सूर्य का भक्त हो गया। तब सब लोग सूर्य की पूजा करते हुए सुख-पूर्वक रहने लगे।

सत्यपीर की कथा

जन्म कथा

मयदानव नाम के राजा ने आज्ञा निकाली कि उसके राज्य में जो भी मुसलमान फकीर आयेगा वह बंदी बना लिया जायगा, और उसे कष्ट पहुँचाये जायँगे। जिबराइल फरिश्ते ने इस अत्याचार की कहानी बहिश्त में अल्लाह को सुनायी। अल्लाह ने चाँद बीबी को आज्ञा दी कि वह पृथ्वी पर जन्म ले। चाँद बीबी पृथ्वी पर पैदा हुई। उसका नाम था संध्यावती। वह आजन्म क्वारी रही, पर दैवी विधान से उसके पेट से सत्यपीर का जन्म हुआ।

माहात्म्य-कथा

चंदन नगर के सौदागर जयधर के तीन पुत्र थे--मदन, कामदेव तथा सुंदर। मरते समय जयधर ने दोनों बड़े भाइयों से कहा कि सुंदर की अच्छी तरह देख-भाल करना। पिता की मृत्यु के बाद दोनों बड़े भाई व्यापार के लिए चले गये। वे अपनी सुमति तथा कुमति नाम की पत्नियों से कहते गये कि सुंदर को कोई कष्ट न होने दें।

सुमति-कुमति जादूगरनियाँ थीं। वे प्रत्येक रात्रि को जादू से सुंदर को सुलाकर स्वयं एक वृक्ष पर चढ़कर कायनूर (आसाम) को उड़ जाया करती थीं। उनके मंत्र से वह वृक्ष ही उड़कर उन्हें कायनूर पहुँचा देता था। रात बीतते-बीतते वे फिर लौट आती थीं। सुंदर को कुछ भी पता नहीं चलता था। एक रात जब वे चली गयीं, सत्यपीर ने प्रकट होकर उनका जादू उतार दिया, सुंदर जग पड़ा। देखा कि घर खाली पड़ा है। सबेरे जब दोनों भाभियाँ आयीं तो उसने शिकायत की। उस रात दोनों ने सलाह करके मंत्र द्वारा सुंदर को मार डाला, वे उसके शव को जंगल में फेंक आयीं। सत्यपीर को पता चल गया। उसने आकर सुंदर को फिर जीवित कर दिया। सबेरे सुंदर को जीवित देखकर दोनों स्त्रियाँ बहुत भयभीत हुईं। उस रात को उन्होंने उसके शव के सात टुकड़े किये और सातों टुकड़े अलग-अलग जगहों पर

गाड़ दिये। सत्यपीर से क्या छिपा था। उसने आकर सब अंगों को जोडा और सुदर को फिर जीवित कर दिया। सत्यपीर ने सुंदर को एक पेड़ के घने पत्तों में छिपाकर बैठा दिया। उसी पेड़ पर चढ़कर उस दिन दोनों दानवियाँ कायनूर को गयीं। उस दिन कायनूर की राजकुमारी का स्वयंवर था। सुदर भी वृक्ष से उतरा और सत्यपीर उसे स्वयंवर भवन में ले गया, वहाँ उसे राजकुमारों में बैठा दिया। वह राजकुमारी भी सत्यपीर की भक्त थी। सत्यपीर ने उससे कहा कि वरमाला सुदर के गले में डालना। सुदर वहाँ उपस्थित सभी में सुंदर था। राजकुमारी ने उसीके गले में वरमाला डाली। उस रात वह राजकुमारी के साथ चित्रसारी में सोया। उसने समस्त वृत्तान्त राजकुमारी के अंचल पर लिख दिया, और सुबह होने से पहले ही उसी पेड़ पर छिपकर बैठ गया। वे दोनों दानवियाँ आयीं, और वृक्ष चंदन नगर को उड़ गया। वे घर पहुँचीं, पीछे-पीछे सुदर भी जा पहुँचा। अब तो वे अत्यन्त उद्विग्न हुई। इस बार उन्होंने सुन्दर को तोता बना दिया। उस तोते को वन में से बहेलियों ने पकड़ लिया। वे उसे बेचने ले जा रहे थे तभी सुदर के भाई आ पहुँचे। उन्होंने वह तोता देखा और उसे खरीद लिया।

इधर कायनूर की राजकुमारी ने सबेरे देखा कि उसका पति नहीं है। अंचल पर लिखे वृत्तानुसार वह पिता से आज्ञा लेकर चंदन नगर पहुँची। उसकी जिठानियों ने उसे वहाँ से टालना चाहा, पर सत्यपीर ने सफेद मक्खी के रूप में उसके कान में कह दिया था कि यहीं रहना। राजकुमारी वहीं ठहर गयी। तभी दोनों भाई उस तोते को लिये हुए आये। सुमति और कुमति ने उन्हें बताया कि उनका छोटा भाई सुंदर चरित्र-भ्रष्ट हो गया था। पता नहीं वह कहाँ चला गया। यहाँ एक स्त्री आ गयी है, वह सुंदर को अपना पति बताती है और कहती है कि वह राजकुमारी है। दोनों भाइयों ने राजकुमारी को वह तोता दे दिया जो वे सुदर के लिए लाये थे। राजकुमारी ने तोते के सिर पर हाथ फेरा तो सिर में कोई चीज बँधी देखी। वह जादू का यंत्र था। राजकुमारी ने उसे जैसे ही हटाया कि वह तोता सुदर बनकर अपनी पत्नी के सामने खड़ा हो गया। उसने राजकुमारी को समस्त वृत्तान्त बता दिया, और कान में कुछ और बताकर कहा कि इस यंत्र को मेरे आगे

के बालों में बाँध दो। यंत्र के बाँधते ही वह फिर तोता बन गया। अब राजकुमारी ने दोनों बड़े भाइयों को भोजन के लिए न्योता दिया और दो की जगह तीन थाल परोसे। दोनों भाइयों ने पूछा––तीसरा किसके लिए? उत्तर मिला––"आपके छोटे भाई के लिए। उसे आवाज देकर आप खाने के लिए बुलाइए"। उन्होंने भाई को आवाज दी। राजकुमारी ने यंत्र हटा दिया, सुंदर भाइयों के पास जा पहुँचा। उसने समस्त वृत्तान्त बता दिया। दोनों भाइयों ने एक गहरा गड्ढा खुदवाया और दोनों जादूगरनियों को उसमें सदा के लिए दाब दिया। दोनों भाइयों का दूसरा विवाह कायनूर की दो संदरियों से हो गया। सभी बहुत प्रसन्न थे। सत्यपीर की कृपा के लिए 'सिन्नी' बाँटी गयी।

मानिक पीर की कथा

कमरुद्दीन और दूध बीबी के दो जुड़वाँ पैदा हुए, गज तथा मानिक। हीरा दासी ने कहा कि ईश्वर की कृपा से सुन्दर पुत्र हुए हैं। दूध बीबी ने कहा कि मैं इतनी सुन्दर हूँ मेरे पुत्र भी उतने ही सुँदर होंगे, इसमें ईश्वर का क्या? अल्लाहताला को यह बात बुरी लगी। दूध बीबी बीमार पड़ गयी। हीरा ने कमरुद्दीन से कहा कि अल्लाहताला से खैर मनाओ। कमरुद्दीन भी वैसा ही अहंकारी था। उसने कहा––अल्लाहताला का इसमें क्या? मैं और हकीम चिकित्सा से ठीक कर लेंगे। पर जब वह गया हकीम को लेने, तब जिबराइल ने उसे बहकाकर पहुँचा दिया शराब खाने। ईश्वर के कोप से उनकी धन-संपत्ति बर्बाद हो गयी। उन्हें अपना पाँच वर्ष का लड़का मानिक दस रुपये में बदरजंद नाम के सौदागर को बेचना पड़ा।

बदरजंद उस लड़के को अपनी स्त्री सुरथ बीबी को सौंप कर व्यापार के लिए बाहर चला गया। बारह साल बाद लौटा तो मानिक जवान हो चुका था। बदरजंद भूल गया कि यह लड़का उसका खरीदा हुआ है। उसे अपनी बीबी के चरित्र पर संदेह हुआ। उसने उस लड़के को एक लकड़ी के बक्स में बंद करके तेल छिड़कवा के उसमें आग लगवा दी। मानिक ने अल्लाहताला का स्मरण किया, जिबराइल ने आकर उसकी रक्षा की। संदूक भी नहीं जला। लड़का भी जीता-जागता निकला। अब सौदागर को पछतावा हुआ,

पर मानिक ने कहा मुझे जिबराइल ने बचाया है, अब मैं खुदा का हो चुका। वह फकीर बनकर घर से निकल पड़ा। ईश्वर ने उसे चमत्कारी शक्तियाँ प्रदान कीं। वह एक राजा की रानी रंजना से भीख लेने पहुँचा। रंजना ने उसे तलवार से मार डालने का आदेश एक दासी को दिया। तलवार से मानिक तो नहीं मरा, वह दासी ही मर गयी। फकीर ने रानी को शाप दिया कि वह बारह बरस राजपाट विहीन हो वन-वन भटकती फिरे। ऐसा ही हुआ, फिर मानिक पीर की कृपा से ही उसे अपना खोया हुआ गौरव प्राप्त हुआ।

मानिक पीर एक दिन कीनू घोष के द्वार पर पहुँचा। कीनू घोप के बहुत-सी गायें थीं, खूब दूध-घी होता था। कीनू का भाई कानू घोष था। फकीर ने आवाज लगायी तो कीनू-कानू की माँ ने कहा कि घर में कुछ नहीं, ऐसे ही बड़े फकीर हैं तो सामने वाली गाय दुह लें। फकीर ने उस गाय को दुहा। वह बाँझ थी, फिर भी उसने सात घड़े भरकर दूध और घी दिया। कीनू की माँ ने फिर भी फकीर को कुछ नहीं दिया, सब घी-दूध को घर में उठा ले गयी। कानू की स्त्री को यह बुरा लगा। उसने फकीर को दूध लाकर दिया। फकीर ने दूध पिया और कानू की स्त्री सनका को आशीष दी। तभी माँ आ गयी। वह बहू को देखकर जल गयी। कानू से जाकर उसने बहू के चरित्र की शिकायत की। कानू गुस्से में भरा हुआ आया और एक लट्ठ फकीर के सिर पर मारा। फकीर तो लुप्त हो गये, पर उनकी पगड़ी नीचे गिर पड़ी, वह सर्प बन गयी। उसने कानू को डस लिया। अब तो सनका ने पीर का स्मरण किया। मानिक पीर सनका के कारण ब्राह्मण के वेश में आया, उसने कानू को अच्छा कर दिया। उसकी माँ ने कहा था कि यदि उसका पुत्र ठीक हो जायगा तो वह उसे आधी संपत्ति दे देगी। कानू के ठीक हो जाने पर वह मुकर गयी। फकीर क्रुद्ध हुआ। अब उनकी गायें एक-एक कर मरने लगीं, और वे दरिद्र हो गये। तब सनका फिर पीर को ढूँढने निकली। एक सप्ताह तक भूखी-प्यासी इधर-उधर भटकती ढूँढती फिरी। सातवें दिन पीर जी उसे मिले। उसने उन्हें दंडवत की और प्रार्थना की कि उनको क्षमा करें और उनकी समृद्धि लौटा दें। मानिक पीर उनके घर गया। सब गायें-बछड़े जीवित हो गये। समृद्धि लौट आयी।

परिशिष्ट

लक्ष्मी मंगल

वल्लभ नाम का एक बनिया लक्ष्मी का भक्त था। वह अपने एक ब्राह्मण मित्र जनार्दन के साथ सैर-सपाटे के लिए घर से चला। वल्लभ घोड़े पर, ब्राह्मण जनार्दन पैदल उसके पीछे-पीछे। कांचीपुर जाते हुए ये उड़ीसा के बियाबान वनखंड से होकर निकले। वहाँ लक्ष्मी ने अपने भक्त की परीक्षा लेने के विचार से उनके मार्ग में एक व्याघ्र को भेजा। व्याघ्र को देखकर ब्राह्मण देवता तो बेहोश हो गये, पर वल्लभ ने साहसपूर्वक उसका सामना किया और मन में लक्ष्मी का स्मरण किया। व्याघ्र लुप्त हो गया। वल्लभ ने अपने मित्र की शुश्रूषा की। उसके होश में आने पर ये आगे चले। कुछ दूर पर ही एक झील मिली। दोनों मित्रों ने उसमें से अच्छी तरह जल पिया। उनका घोड़ा भी पानी पीने झील पर गया तो एक बड़ा अजदहा झील में से निकला। उसने घोड़े को निगल लिया और पुनः झील में चला गया। अब तो वल्लभ धैर्य खोकर स्वयं घोड़े के साथ झील में डूब जाने को सन्नद्ध हुआ। जनार्दन ने उसे रोका और लक्ष्मी का स्मरण करने की सलाह दी। लक्ष्मी एक बुढ़िया ब्राह्मणी के रूप में उनके सामने प्रकट हुई, उसके हाथ में एक पिंजड़े में एक छोटी चिड़िया भी थी। बुढ़िया ने उन दोनों के दुःख का कारण पूछा। बुढ़िया ने उन्हें धैर्य बँधाया और पिजड़े से चिड़िया निकालकर उड़ा दी। वह चिड़िया उड़ी ; उसने झील में डुबकी लगायी और चोंच में उस भयानक सर्प को दबाये ऊपर आ गयी। सर्प का पेट चीर डाला गया। पेट में जितने भी जानवरों के अंश थे, वे सभी जीवित होकर निकल आये। वल्लभ को उसका घोड़ा मिल गया। उस देवी ने तब वल्लभ को अपने कान के आभूषण का कमल दिया और उसे बताया कि संकट काल में वह यदि इस पुष्प को अपने सिर पर लगायेगा तो उसकी रक्षा के लिए वह पहुँच जायगी। वे लोग

आगे बढ़े, देवी लुप्त हो गयी और सर्प का पेट भी जुड़ गया, वह भी फिर झील में घुस गया।

अब चलते-चलते दोनों मित्र एक सुन्दर नगरी में पहुँचे। नगर बड़ा शोभाशाली था, पर उसमें एक भी आदमी आता-जाता नहीं दिखाई पड़ता था। दोनों मित्र नगर को देखते-देखते राजमहल के पास पहुँचे। राजमहल में वे बे-रोकटोक चले गये। तीन विशाल-भवनों में से होकर वे चौथे में पहुँचे। वहाँ उन्हें राजसिंहासन पर एक डाइन बैठी मिली। उसने इनका बहुत सत्कार किया। ये थे तो भयभीत, पर लक्ष्मी की सहायता का भी इन्हें पूरा भरोसा था। जैसे-तैसे रात काटी। सुबह होते ही डाइन तो अपने शिकार के लिए जाने को तैय्यार हुई, पर उसकी रक्षा में जो एक राजकुमारी थी, उससे वह जाने से पहले कह गयी कि यदि जनार्दन को अपना पति चुन लेगी तो अच्छा रहेगा। राजकुमारी और जनार्दन वाटिका में मिले। वे दोनों परस्पर प्रेम करने लगे। राजकुमारी का नाम रत्नमाला था। वह वीरसिंह राजा की पुत्री थी। इस राजा को एक ऋषि का शाप लगा था, जिसके कारण राजा और उसकी समस्त प्रजा को यह डाइन खा गयी। रत्नमाला से उसे पुत्री-जैसा प्रेम हो गया। राजकुमारी और जनार्दन ने परस्पर विवाह भी कर लिया। दूसरे दिन प्रातः ये डाइन से विदा लेकर आगे बढ़े। डाइन ने लौटते समय इन्हें फिर उसका आतिथ्य ग्रहण करने का निमंत्रण दिया।

चलते-चलते दोनों समुद्र तट पर पहुँचे। लक्ष्मी का स्मरण किया तो समुद्र में से राह फट गयी। एक ओर विशाल सागर लहरें मार रहा था, दूसरी ओर कमलादह था। बीच में से ये चले जा रहे थे। कुछ दूर चलने पर इन्होंने कमलादह में एक अत्यन्त अद्भुत दृश्य देखा। समुद्र के पानी के ऊपर धान का एक हरा खेत लहलहा रहा था। उसके बीच में एक विशाल कमल था, उस पर लक्ष्मी स्वयं विराजमान थीं और वह विविध प्रकार के धानों की बालों के आभूषण धारण किये हुए थीं। धान्य लक्ष्मी के इस अद्भुत दृश्य को देखते हुए ये कांचीपुर पहुँचे। वहाँ के राजा को इन्होंने विस्तार-पूर्वक अपनी यात्रा का हाल सुनाया। उस अद्भुत दृश्य का भी वर्णन किया। राजा ने उस अद्भुत दृश्य को देखने की इच्छा प्रकट की और कहा कि यदि

वे उसे नहीं दिखा सके को उनका वध करा दिया जायगा। नावों में बैठकर वे गये, पर वहाँ वह दृश्य अब नहीं था। आखिर वल्लभ को वध के लिए ले जाया गया। वल्लभ ने लक्ष्मी का दिया हुआ कमल सिर से लगाया। उसे लगाते ही लक्ष्मी ब्राह्मणी बुढ़िया के रूप में पिंजड़े के पक्षी को लिये प्रकट हुई। पहले तो देवी ने अनुनय-विनय से मुक्ति दिलाने की चेष्टा की, असफल होने पर उसने पिंजड़े की चिड़िया को छोड़ा। चिड़िया ने राजा को भयभीत कर दिया। तब राजा ने वल्लभ को मुक्त कर दिया और उससे अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। लक्ष्मी ने अनुग्रहपूर्वक राजा को 'धान्ये कमला' का अद्भत दृश्य भी दिखाया।

कांचीपुर से जनार्दन, वल्लभ और वल्लभ की पत्नी लौटी, और उसी नगरी में आयी। डाइन ने तीनों का बहुत अच्छी तरह स्वागत-सत्कार किया। अपनी पोष्यपुत्री राजकुमारी रत्नमाला को पतिसेवा का उपदेश देकर उसने विदा किया। विदा करते समय वह भी रो पड़ी। ये चारों अपने घर पहुँचे। इन्होंने वहाँ बहुत धूम-धाम से लक्ष्मी पूजन किया।

बंगला भाषी प्रदेश
(भारत-पाकिस्तान)
बंगला भाषी प्रदेश
अन्तर्-राष्ट्रीय सीमा
नेपाल
भूटान
दार्जिलिंग
जलपाईगुड़ी
कूच बिहार
रंगपुर
दिनाजपुर
मालदा
बोगरा
मैमनसिंह
सिलहट
पूर्वी पाकिस्तान
पबना
मुर्शिदाबाद
ढाका
अगरतला
फरीदपुर
कुमिल्ला
वीरभूम
पश्चिमी बंगाल
बर्दवान
बाँकुड़ा
नदिया
जैसोर
खुलना
बरीसाल
हुगली
कलकत्ता
मिदनापुर
रंगामाटी
चटगाँव
आसाम
बर्मा
उड़ीसा
बंगाल की खाड़ी

अनुक्रमणिका

ख

ग

ब

ह